ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क ११

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

पंचमगणधर भगवत् सुधर्मस्वामी-प्रणीत : ग्यारहवाँ अंग

विपाकश्रुत

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

प्रेरणा
उपप्रवर्तक शासनसेवी (स्व.) स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज

संयोजक तथा आद्य सम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक
पं. रोशनलाल जैन

सम्पादक
शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क ११

□ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

□ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

□ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

□ द्वितीय संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१७
विक्रम सं० २०४८
जनवरी १९९२ ई०

□ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

□ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

□ मूल्य : 45/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

FIFTH GANADHARA SUDHARMA SWAMI COMPILED :
ELEVENTH AṄGA

VIVĀGA-SUYAMA

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

☐
Inspiring Soul
Up-pravartaka Shasansevi Rev. (Late) Swami Shri Brijlalji Maharaj

☐
Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

☐
Translator
Pt. Roshanlal Jain

☐
Editor
Shobhachandra Bharill

☐
Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 11

□ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

□ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Upacharya Shri Devendra Muni Shastri
Shri Ratan Muni

□ **Promotor**
Muni Shri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

□ **Second Edition**
Vir-Nirvana Samvat 2517
Vikram Samvat 2048,
January 1992.

□ **Publisher**
Shri Agam Prakashan Samiti,
Shri Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

□ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj. Ajmer

□ **Price : 45/-**

समर्पण

जिन्होंने जिनशासन के उद्योत में अनुपम योगदान दिया, लगातार साठ वर्षों तक संयम-जीवन यापन किया, राजस्थान, गुजरात, कच्छ, काठियावाड़, मालवा, मेवाड़, उत्तरप्रदेश, दिल्ली और जम्मू जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों में परिभ्रमण करके और भीषण व्यथाएँ समभावपूर्वक सहन करके भी धर्म की अपूर्व ज्योति प्रज्वलित की,

जो ज्ञान और चरित्र की समन्वित मूर्त्ति थे,
जिनकी मधुर एवं प्रभावपूर्व वाणी में
अद्भुत ओज और तेज था,
उन महान् मनीषी

आचार्यप्रवर श्रीरघुनाथजी महाराज

की स्मृति में सविनय सादर समर्पित।

—मधुकर मुनि

(प्रथम संस्करण से)

प्रकाशकीय

विपाकसूत्र का द्वितीय संस्करण पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए अतीव हर्ष हो रहा है कि श्रमण संघ के युवाचार्य सर्वतोभद्र स्व. श्रीमधुकरमुनिजी म. सा. की आगमभक्ति और सत्साहित्य प्रचार-प्रसार की भावना के फलस्वरूप जो आगमप्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हुआ था, वह वटवृक्ष के सदृश दिनानुदिन व्यापक होता गया और समिति को अपने प्रकाशनों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय करना पड़ा।

अभी तक आचारांग, सूत्रकृताग, समवायांग, उत्तराध्ययन, राजप्रश्नीयसूत्र, नन्दीसूत्र आगमों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो गये हैं। शेष सूत्र ग्रन्थों के भी द्वितीय संस्करण प्रकाशित किये जा रहे हैं।

विपाकसूत्र यद्यपि कथा-प्रधान आगम है, किन्तु कथा के मध्यम से जैनधर्म के इस तथ्य को उजागर किया गया है—

कर्मप्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

इस प्रकार विपाकसूत्र का कर्म-सिद्धान्त के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने से श्रमणसंघ के उपाचार्य श्रद्धेय देवेन्द्रमुनिजी म. सा. शास्त्री ने अपनी प्रस्तावना में कर्म-सिद्धान्त का सारगर्भित विशद विवेचन प्रस्तुत कर स्वाध्यायशील-जिज्ञासु पाठकों को अध्ययन के लिए प्रेरित किया है।

समिति को यह अवगत कराते हुए प्रसन्नता है कि आगम-बत्तीसी में समाविष्ट सभी आगमों का प्रकाशन सम्पन्न हो चुका है और अप्राप्य आगमो का पुनर्मुद्रण कार्य भी चल रहा है। अतएव हमें आशा है कि समिति सभी पाठको को एक साथ आगम-बत्तीसी के सभी ग्रन्थ उपलब्ध करा देगी। जिन पाठकों के पास समस्त ग्रन्थ न हो, वे समिति से सम्पर्क बनाये रहें, जिससे उनको वे ग्रन्थ भेजने का ध्यान रहे। यह सम्पर्क समिति और पाठकों के मध्य कड़ी से कड़ी जुड़ने की युक्ति को सार्थक करेगा।

अन्त में समिति अपने सभी सहयोगियों का सधन्यवाद आभार मानती है कि उनके सहकार, प्रेरणा से जो प्रयास प्रारम्भ किया था वह निर्धारित नीति, प्रक्रिया के अनुसार सम्पन्न हो रहा है।

रतनचन्द मोदी	**सायरमल चोरड़िया**	**अमरचन्द मोदी**
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामंत्री	मंत्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर-३०५ ९०१

विपाकश्रुत : प्रथम संस्करण के प्रकाशन के अर्थ-सहयोगी

श्रीमान् सेठ एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

[जीवन-परिचय]

राजस्थान के मारवाड़ प्रदेश में नागौर जिले मे एक छोटा सा गांव, नोखा चावावतों का है। यह धनिकों की बस्ती है। यहीं आपका जन्म वि. सवत् १९७९ भाद्रपद कृष्णा ५ को धर्मनिष्ठ सुश्रावक स्व. श्री सिमरथमलजी सा. चोरड़िया के यहाँ हुआ। आपकी मातुश्री का नाम श्रीमती गट्टुबाई था। वे सरलता, दयालुता, एवं निश्छलता की मूर्ति एवं धर्मपरायणा थी। उनके सभी गुण आप में विद्यमान है।

आपका प्रारंभिक शिक्षण राजस्थान मे ही हुआ। उसके बाद आप व्यवसाय हेतु आगरा पधार गये।

आपके अग्रज श्री एस. रतनचन्दजी सा. चोरड़िया सुज्ञ श्रावक है। आपके अनुज श्री एस. सायरचन्दजी सा. एवं सबसे छोटे भाई स्व. श्री एस. रिखबचन्दजी सा. चोरड़िया का वर्तमान में व्यवसाय केन्द्र मद्रास ही है। आप सभी भाई यहाँ फाइनेन्स के व्यवसाय में संलग्न हैं। आपकी बड़ी बहन पतासीबाई भी भद्र प्रकृति की महिला हैं।

आप सरलमना, गंभीर एव धार्मिक प्रकृति के हैं। आपकी ही तरह आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सुगनकंवरबाई भी धर्मभावना से अनुप्राणित हैं।

अपने विवेकयुक्त पुरुषार्थ एवं प्रामाणिकता की बदौलत आपने फाइनेन्स के व्यवसाय में अच्छी सफलता प्राप्त की और खूब द्रव्योपार्जन किया, और उससे अनेक सामाजिक एवं धार्मिक सस्थाओं तथा सस्थानों को सहायता प्रदान की है।

आप वर्तमान में अनेक सस्थाओ से सम्बन्धित हैं—

उपाध्यक्ष — श्री वर्द्धमान सेवा समिति, नोखा (राजस्थान)
संरक्षक — श्री जैन मेडीकल रिलीफ सोसायटी
श्री एस. एस. जैन एज्युकेशनल सोसायटी
श्री एस. एस. जैन जनसेवा समिति
श्री अखिल भारतीय भ. महावीर अहिंसा प्रचार संघ
सदस्य — श्री दक्षिण भारत स्वाध्याय संघ, मद्रास

श्री आगम प्रकाशन समिति के भी आप महास्तम्भ सदस्य हैं तथा प्रस्तुत आगम के प्रकाशन में आपने विशिष्ट सहयोग प्रदान किया है।

पारमार्थिक कार्यों के लिये आपने एस. बादलचन्द चोरड़िया ट्रस्ट भी बनाया है। सामाजिक, धार्मिक एवं जनहित के कार्यों में भी आप यथाशक्ति अपने द्रव्य का सदुपयोग करते हैं।

परम्परा से ही आपके परिवार की स्वामीजी श्री हजारीमलजी म. सा. के प्रति प्रगाढ श्रद्धाभक्ति रही है। आपकी पूज्य उपप्रवर्तक स्वामीजी ब्रजलालजी म. सा. एवं बहुश्रुत युवाचार्य पं. र. मुनि श्री मिश्रीमलजी म. सा. 'मधुकर' के प्रति अटूट श्रद्धा है।

आपकी धर्मभावना दिनोदिन वृद्धिगत हो ऐसी मंगल कामना है। □□

आदि वचन

[प्रथम संस्करण से]

विश्व के जिन दार्शनिको—द्रष्टाओं/चिन्तकों, ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारो—राग-द्वेष आदि को साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णत: निरस्त हो जाते है तो आत्मा की शक्तिया ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप मे उद्घाटित-उद्भासित हो जाती हैं। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यत: सर्वज्ञ के वचनो/वाणी का सकलन नहीं किया जाता, वह बिखरे सुमनो की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है, संघीय जीवन पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते है, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते है। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्ही के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर सकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते हैं अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनो की मुक्त वृष्टि जब मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा में "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशाग में समाहित होते हैं और द्वादशांग/आचाराग-सूत्रकृताग आदि के अग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए है। इस द्वादशागी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी बारहवाँ अग विशाल एव समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यत. एकादशाग का अध्ययन साधको के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नही थी, लिखने के साधनो का विकास भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवत: इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दो का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमो का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणो का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एव संजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमो को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत: आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) में आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी; पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना में सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-संघों के आन्तरिक मतभेद, स्मृति दुर्बलता, प्रमाद एवं भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारो का विध्वंस आदि अनेकानेक कारणो से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एवं विलुप्त होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणों से आगम की पावन धारा संकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का साहसिक उपक्रम पुन: चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमें भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धातिक विग्रह, तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध में बहुत बडा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतियां मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकाये आदि प्रकाश मे आईं और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ। इससे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनो को सुविधा हुई। फलत: आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढ़ी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ी है, जनता में आगमो के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते है।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा मे अनेक समर्थ श्रमणो, पुरुषार्थी विद्वानो का योगदान रहा है। उनकी सेवाये नीव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नही। स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखो के अभाव मे हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने में असमर्थ है, पर विनीत व कृतज्ञ तो है ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरो का नामोल्लेख अवश्य करना चाहूँगा।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो—३२ सूत्रो का प्राकृत से खड़ी बोली मे अनुवाद किया था। उन्होने अकेले ही बत्तीस सूत्रो का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष १५ दिन मे पूर्ण कर अद्‌भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एवं आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वत: परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी हैं, अब तक उपलब्ध संस्करणों में प्रायः शुद्ध भी हैं, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट है, मूलपाठों मे व वृत्ति में कहीं-कही अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चूंकि गुरुदेवश्री स्वयं आगमों के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हे आगमों के अनेक गूढ़ार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अतः वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञानवाले श्रमण-श्रमणी एवं जिज्ञासुजन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियो के कारण उनका यह स्वप्न—सकल्प साकार नही हो सका, फिर भी मेरे मन में प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल मे आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म-दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरों ने आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि में सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम सम्पादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का आर्य प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस मे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापथ सम्प्रदाय में आचार्य श्री तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए है उन्हे देखकर विद्वानो को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय में काफी मतभेद की गुंजाइश है। तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल" आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगो मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा मे प्रयत्नशील है। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो मे उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् प० श्री बेचरदासजी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमों के आधुनिक सम्पादन की दिशा मे स्वयं भी कार्य कर रहे है तथा अनेक विद्वानों का मार्ग-दर्शन कर रहे है। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन में एक सकल्प उठा। आज प्रायः सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कहीं आगमों का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कही आगमो की विशाल व्याख्यायें की जा रही है। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम-मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमों का एक ऐसा संस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, संक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-संस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ़ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म. "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एवं प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०; स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकुंवरजी म० की सुशिष्याएं महासती दिव्यप्रभाजी, एम. ए., पी-एच. डी.; महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व० पं० श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियों का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एवं महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुंवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसंग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप में हो आता है, जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नों से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के अल्पकाल में ही दस आगम ग्रन्थों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमों का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियों की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसंघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-संत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनि-जनों के सद्भाव-सहकार के बल पर यह संकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण से)

विपाकश्रुत : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जैन साहित्य आगम और आगमेतर--इन दो भागो में विभक्त है। साहित्य का प्राचीन विभाग आगम कहलाता है। केवलज्ञान केवलदर्शन होने के पश्चात् भगवान् ने समूचे लोक को देखा, इस विराट् विश्व में अनन्त प्राणी है और वे आधि, व्याधि और उपाधि से संत्रस्त हैं—विविध दु खों से आक्रान्त हैं। उनका करुणापूरित हृदय द्रवित हो उठा और जन-जन के कल्याण के लिये अपने मंगलमय प्रवचन प्रदान किये। प्रवचन प्रदान करने के कारण वे तीर्थंकर कहलाये।[1] वे सत्य के प्रवक्ता थे। उन्होंने अपने प्रवचनों में बन्ध, बन्ध-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु का स्वरूप बतलाया।

भगवान् की वह अद्भुत और अनूठी वाणी आगम कहलाई। उनके प्रधान शिष्य गणधरो ने उसे सूत्र रूप में गूंथा, अतः आगम के दो विभाग हो गये—सूत्रागम और अर्थागम। ये आगम आचार्यों के लिए निधि रूप थे, अतः इनका नाम गणि-पिटक हुआ। उस गुम्फन के मौलिक-विभाग बारह थे, अत. उसका दूसरा नाम द्वादशांगी हुआ। बारह अगो में विपाक का ग्यारहवां स्थान है। आचार्य वीरसेन ने कर्मों के उदय व उदीरणा को विपाक कहा है।[2] आचार्य पूज्यपाद[3] और आचार्य अकलंकदेव[4] ने लिखा है—विशिष्ट या नाना प्रकार के पाक का नाम विपाक है। पूर्वोक्त कषायो की तीव्रता, मन्दता आदि रूप भावाश्रव के भेद से विशिष्ट पाक का होना "विपाक" है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप निमित्त भेद से उत्पन्न हुआ वैश्व रूप्य नाना प्रकार

---

१. "तीर्थ" शब्द अपने में अनेक अर्थों को समेटे हुए है। उनमें से एक अर्थ प्रवचन है, अतः प्रवचनकार को तीर्थंकर कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में इसी अर्थ में छह तीर्थंकरों का उल्लेख है। आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में 'कपिल' आदि को तीर्थंकर कहा है। आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने "परं तत्र तीर्थंकरः और वयं तीर्थंकरा इति ······· ····· " लिखा है—देखिये सूत्रकृतागचूर्णि (पृ. ४७, पृ. ३२२)। प्रवचन के आधार पर ही श्रमण-श्रमणी श्रावक और श्राविका को भी तीर्थ कहा है।

२. कम्माणमुदओ उदीरणा वा विवागो णाम। —धवला. १४।५.६,१४।१०।२

३. विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाकः। पूर्वोक्तकषायतीव्रमन्दादिभावास्रवविशेषाद्विशिष्टः पाको विपाकः। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः।

—सर्वार्थसिद्धि ८।२१।३९८।३

४. तत्त्वार्थराजवार्तिक ८।२१।१।५८३।१३

का पाक विपाक है। आचार्य हरिभद्र[5], आचार्य अभयदेव[6] ने वृत्ति में लिखा है कि विपाक का अर्थ है—पुण्य पाप रूप कर्म-फल, उस का प्रतिपादन करने वाला सूत्र विपाकश्रुत है।

समवायांग[7] मे विपाक का परिचय देते हुए लिखा है कि विपाकसूत्र सुकृत और दुष्कृत कर्मों के फल-विपाक को बतलाने वाला आगम है। उसमें दुःखविपाक और सुखविपाक ये दो विभाग हैं। नन्दीसूत्र[8] में आचार्य देववाचक ने विपाक का यही परिचय दिया है। स्थानांगसूत्र[9] मे विपाक सूत्र का नाम कर्मविपाकदशा दिया है। वृत्तिकार[10] के अनुसार यह ग्यारहवें अग विपाक का प्रथम श्रुतस्कन्ध है।

समवायांगसूत्र[11] के अनुसार विपाक के दो श्रुतस्कन्ध है, बीस अध्ययन हैं, बीस उद्देशनकाल है, बीस समुद्देशनकाल है, संख्यात पद, सख्यात अक्षर, परिमित वाचनाएँ, संख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढ नामक छन्द, संख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तिया, संख्यात सग्रहणिया, और संख्यात प्रतिपत्तियाँ है। वर्तमान में जो विपाकसूत्र उपलब्ध है वह १२१६ श्लोकपरिमाण है।

स्थानाङ्ग में प्रथम श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनो के नाम आये है, पर दूसरे श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों के नाम वहां उपलब्ध नहीं हैं। वृत्तिकार का यह अभिमत है कि दूसरे श्रुतस्कन्ध के अध्ययनो की अन्यत्र चर्चा की गई है।[12] प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम 'कर्मविपाकदशा' है।[13]

स्थानाङ्ग के अनुसार कर्मविपाकदशा के अध्ययनो के नाम इस प्रकार है[14] -

(१) मृगापुत्र, (२) गोत्रास, (३) अण्ड, (४) शकट, (५) ब्राह्मण, (६) नन्दिषेण, (७) शौरिक; (८) उदुम्बर, (९) सहस्रोद्दाह आभरक, (१०) कुमार लिच्छई।

उपलब्ध विपाक के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों के नाम इस प्रकार है:—

(१) मृगापुत्र, (२) उज्झितक, (३) अभग्नसेन, (४) शकट, (५) बृहस्पतिदत्त, (६) नन्दिवर्द्धन, (७) उम्बरदत्त, (८) शौरिकदत्त, (९) देवदत्ता, (१०) अंजू।

स्थानाङ्ग मे जो नाम आये हैं और वर्तमान मे जो नाम उपलब्ध है, उनमे अन्तर स्पष्ट है। विपाकसूत्र में अध्ययनो के कई नाम व्यक्तिपरक है तो कई नाम वस्तुपरक—यानी घटनापरक है। स्थानाङ्ग मे जो नाम आये

---

५. विपचन विपाकः, शुभाशुभकर्मपरिणाम इत्यर्थः, तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाकश्रुतं।
—नन्दीहारिभद्रीयावृत्ति पृ. १०५, प्र.—ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. सस्था रतलाम, सन् १९२८

६. विपाक : पुण्यपापरूपकर्मफलं तत्प्रतिपादनपरं श्रुतमागमो विपाकश्रुतम्। — विपाकसूत्र अभयदेववृत्ति

७. विवागसुए णं सुकड-दुक्कडाण-कम्माणं फलविवागा आघविज्जंति, —समवायागसूत्र १४६, मुनि कन्हैयालाल

८. नन्दीसूत्र आगमपरिचय सूत्र ११

९. कम्मविवागदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता —स्थानाङ्ग, स्थान १०, सूत्र १११,

१०. कर्मविपाकदशा, विपाकश्रुताख्यस्यैकादशाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धः —स्थानाङ्ग वृत्ति पत्र ४८०

११. समवायांग सूत्र १४६, पृ. १३३, मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

१२. द्वितीयश्रुतस्कन्धोऽप्यस्य दशाध्ययनात्मकं एव, न चामाविहाभिमत', उत्तरत्र विवरिष्यमाणत्वादिति
—स्थानाङ्ग वृत्ति पत्र ४८०

१३. कर्मणः—अशुभस्य विपाकः-फलं कर्मविपाकः तत्प्रतिपादका दशाध्ययनात्मकत्वाद्दशा कर्मविपाकदशाः विपाक-श्रुताख्यस्यैकादशाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धः —स्थानाङ्ग वृत्ति पत्र ४८०

१४. स्थानाङ्ग १०।१११

है वे केवल व्यक्तिपरक है। दो अध्ययनों में क्रम-भेद है। स्थानाङ्ग मे जो आठवाँ अध्ययन है वह विपाक का सातवाँ अध्ययन है और जो स्थानाङ्ग का सातवाँ अध्ययन है वह विपाक का आठवाँ अध्ययन है।

स्थानाङ्ग में दूसरे अध्ययन का नाम पूर्वभव के नाम के आधार पर "गोत्रास" रखा गया है, तो प्रस्तुत सूत्र में अगले भव के नाम के आधार पर उज्झितक रखा है। स्थानाङ्ग मे तीसरे अध्ययन का अंड नामकरण पूर्वभव के व्यापार के आधार पर किया गया है तो विपाक में अग्रिम भव के नाम के आधार पर 'अभग्नसेन' रखा है। स्थानाङ्ग में नौवे अध्ययन का नाम महस्रोद्दाह आभरक या सहसोदाह है। सहस्रों व्यक्तियो को एक साथ जला देने के कारण उसका यह नाम दिया गया है जबकि विपाक में प्रस्तुत अध्ययन की मुख्य नायिका देवदत्ता होने के कारण अध्ययन का नाम देवदत्ता रखा गया है। स्थानाङ्ग में दसवें अध्ययन का नाम 'कुमार लिच्छई' है। लिच्छवी कुमारों के आचार पर यह नाम रखा गया है जबकि विपाक मे इसका नाम "अजू" है जो कथानक की मुख्य नायिका है। विज्ञों का यह मानना है कि लिच्छवी का सम्बन्ध लिच्छवी वंश विशेष के साथ होना चाहिए।

नन्दीसूत्र और स्थानाङ्गसूत्र में विपाक के द्वितीय श्रुतस्कन्ध सुखविपाक के अध्ययनो के नाम नहीं आये है। समवायांग मे तो दोनों श्रुतस्कन्धों के अध्ययनो के नाम नही है। विपाकसूत्र मे सुखविपाक के अध्ययनो के नाम इस प्रकार है—(१) सुबाहुकुमार, (२) भद्रनन्दी, (३) सुजातकुमार, (४) सुवासवकुमार, (५) जिनदास-कुमार, (६) धनपति, (७) महाबलकुमार, (८) भद्रनन्दीकुमार, (९) महाचन्द्रकुमार और (१०) वरदत्तकुमार।

समवायाग[१५] के पचपनवे समवाय मे उल्लेख है कि कार्तिकी की अमावस्या रात्रि मे चरम तीर्थंकर महावीर ने पचपन ऐसे अध्ययन, जिनमें पुण्यकर्मफल को प्रदर्शित किया गया है और पचपन ऐसे अध्ययन जिनमें पापकर्मफल व्यक्त किया गया था, धर्मदेशना के रूप में प्रदान कर निर्वाण को प्राप्त किया। इससे प्रश्न होता है कि पचपन अध्ययन वाले कल्याणफलविपाक और पचपन अध्ययन वाले पापफलविपाक वाला आगम प्रस्तुत विपाक आगम ही है या यह आगम उससे भिन्न है ?

कितने ही चिन्तको का यह मत है कि प्रस्तुत आगम वही आगम है, उसमें पचपन-पचपन अध्ययन थे, पर पैंतालीस-पैंतालीस अध्ययन इसमें से विस्मृत हो गये है और केवल बीस अध्ययन ही अवशेष रहे है। हमारी दृष्टि से चिन्तको की यह मान्यता चिन्तन मागती है। यह स्पष्ट है कि समवायाग मे कल्याणफलविपाक और पापफलविपाक अध्ययनों के नाम नही है और वह जीवन की सान्ध्यवेला मे दिया गया अन्तिम उपदेश है। आगम साहित्य मे जहाँ पर श्रमण और श्रमणियो के अध्ययन का वर्णन है वहाँ पर द्वादशागी या ग्यारह अंगो के अध्ययन का वर्णन है। यदि विपाक का प्ररूपण भगवान् महावीर ने अन्तिम समय में किया तो भगवान् के शिष्य किस विपाक का अध्ययन करते, अत यह स्पष्ट है कि अन्तिम समय में प्ररूपित कल्याणविपाक पापविपाक के पचपन-पचपन अध्ययन पृथक् है। यह विपाकसूत्र नही है।

साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि समवायाग व नन्दी में विपाकसूत्र की जो परिचय-रेखा प्रस्तुत की गई है जिसमें बीस अध्ययन का उल्लेख है और उसमें जो पदो की संख्या आदि दी गई है उस संख्या से प्रस्तुत वर्तमान आगम की तुलना की जाय तो स्पष्ट है कि उसका बहुत-सा भाग नष्ट हो गया है और उसका आकार अत्यधिक छोटा हो गया है। पर यह स्पष्ट है कि समवायांग के लेखन व देववाचक के नंदी की रचना करते समय उसका आकार वही रहा होगा। उसके पश्चात् उसमें कमी आई होगी। शोधार्थियों के लिए यह विषय अन्वेषणीय है।

---

१५. समणे भगव महावीरे अन्तिमराइयंसि पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइ वागरित्ता सिद्धे बुद्धे जाव पहीणे। —समवायांग, समवाय-५५

कर्म-सिद्धान्त जैन-दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त का प्रस्तुत आगम में दार्शनिक गहन व गंभीर विश्लेषण न कर उदाहरणों के माध्यम से विषय को प्रतिपादित किया गया है।

सांसारिक जीव जो विविध प्रकार के कर्मों का बंध करते हैं उन्हें विपाक की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है—शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप अथवा कुशल और अकुशल। इन दो भेदों का उल्लेख जैन-दर्शन,[१६] बौद्धदर्शन,[१७] सांख्यदर्शन,[१८] योगदर्शन,[१९] न्यायदर्शन,[२०] वैशेषिकदर्शन,[२१] और उपनिषद्[२२] आदि में हुआ है। जिस कर्म के फल को प्राणी अनुकूल अनुभव करता है वह पुण्य है और जिसे प्रतिकूल अनुभव करता है वह पाप है। पुण्य के शुभ फल की तो सभी इच्छा करते हैं किन्तु पाप के फल की कोई इच्छा नहीं करता। फिर भी उसके विपाक से बचा नही जा सकता।

जीव ने जो कर्म बाँधा है, उसे इस जन्म मे या आगामी जन्मों में भोगना ही पड़ता है। कृतकर्मों का फल भोगे विना आत्मा का छुटकारा नहीं हो सकता। प्रस्तुत आगम में पाप और पुण्य की गुरु-ग्रन्थियों को उदाहरणो के द्वारा सरल रूप से उद्‌घाटित किया गया है। जिन जीवों ने पूर्वभव मे विविध पापकृत्य किये हैं, उन्हे आगामी जीवन में दारुण वेदनाए प्राप्त हुईं। दुःखविपाक में उन्हीं पापकृत्य करने वाले जीवों का वर्णन है। जिन्होंने पूर्वभव में सुकृत किये थे, उन्हें भविष्य में सुख उपलब्ध हुआ।

कर्मवाद का महत्त्व

भारतीय तत्त्वचिन्तक महर्षियों ने कर्मवाद पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। न्याय, साख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध और जैन सभी दार्शनिकों ने कर्मवाद के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। केवल दर्शन ही नहीं अपितु धर्म, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान और कला आदि पर कर्मवाद की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से निहारी जा सकती है। विश्व के विशाल मंच पर सर्वत्र विषमता, विविधता, विचित्रता का एकच्छत्र साम्राज्य देखकर प्रबुद्ध विचारको ने कर्म के अद्‌भुत सिद्धान्त की गवेषणा की। भारतीय जन-जन के मन की यह धारणा है कि प्राणीमात्र को सुख और दुःख की जो उपलब्धि होती है वह स्वय के किये गये कर्म का ही प्रतिफल है। कर्म से बँधा हुआ जीव अनादिकाल से नाना गतियो व योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। जन्म और मृत्यु का मूल कर्म है और कर्म ही दुःख का सर्जक है। जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि एक प्राणी अन्य प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्वसबद्ध होता है, पर-सम्बद्ध नही।

यह सत्य है कि सभी भारतीय दार्शनिकों ने कर्मवाद की सस्थापना मे योगदान दिया किन्तु जैन परम्परा में कर्मवाद का जैसा सुव्यवस्थित रूप उपलब्ध है वैसा अन्यत्र नही। वैदिक और बौद्ध साहित्य मे कर्म सम्बन्धी विचार इतना अल्प है कि उसमें कर्म विषयक कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता, जब कि जैन साहित्य में कर्म सम्बन्धी अनेक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ उपलब्ध है। कर्मवाद पर जैन परम्परा में अत्यन्त सूक्ष्म, सुव्यवस्थित और

---

१६. तत्त्वार्थसूत्र ६।३-४
१७. विशुद्धिमग्गो १७।८८
१८. साख्यकारिका ४४
१९. (क) योगसूत्र २।१४ (ख) योगभाष्य २।१२
२०. न्यायमंजरी पृ. ४७२
२१. प्रशस्तपाद पृ. ६३७।६४३
२२. वृहदारण्यक ३।२।१३

बहुत ही विस्तृत विवेचन किया गया है। यह साधिकार कहा जा सकता है कि कर्म सम्बन्धी साहित्य का जैन साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह साहित्य 'कर्मशास्त्र' या 'कर्मग्रन्थ' के नाम से विश्रुत है। स्वतन्त्र कर्मग्रन्थों के अतिरिक्त भी आगम व आगमेतर जैनग्रन्थों में यत्र-तत्र कर्म के सम्बन्ध में चर्चाएं उपलब्ध है।

कर्म सम्बन्धी साहित्य

भगवान् महावीर से लेकर आज तक कर्मशास्त्र का जो संकलन-आकलन हुआ है, वह बाह्य रूप से तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है—पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र और प्राकरणिक कर्मशास्त्र।[२३]

जैन इतिहास की दृष्टि से चौदह पूर्वों मे से आठवाँ पूर्व, जिसे 'कर्मप्रवाद' कहा जाता है, उसमें कर्म-विषयक वर्णन था। इसके अतिरिक्त दूसरे पूर्व के एक विभाग का नाम 'कर्मप्राभृत' था और पाचवे पूर्व के एक विभाग का नाम 'कषायप्राभृत' था। इनमे भी कर्म सम्बन्धी ही चर्चाएं थी। आज वे अनुपलब्ध है, किन्तु पूर्व साहित्य मे से उद्धृत कर्मशास्त्र आज भी दोनो ही जैन परम्पराओं मे उपलब्ध है। सम्प्रदाय भेद होने से नामों में भिन्नता होना स्वाभाविक है। दिगम्बर परम्परा में 'महाकर्मप्रकृति प्राभृत' (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत ये दो ग्रन्थ पूर्व मे उद्धृत माने जाते है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कर्मप्रकृति, शतक, पंचसंग्रह और सप्ततिका ये चार ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते है।

प्राकरणिक कर्मशास्त्र में कर्म सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ आते है, जिनका मूल आधार पूर्वोद्धृत कर्म साहित्य रहा है। प्राकरणिक कर्मग्रन्थों का लेखन विक्रम की आठवीं नवी शती से लेकर सोलहवी सत्तरहवी शती तक हुआ है। आधुनिक विज्ञों ने कर्मविषयक साहित्य का जो सृजन किया है वह मुख्य रूप से कर्मग्रन्थों के विवेचन के रूप मे है।

भाषा की दृष्टि से कर्म साहित्य को प्राकृत, संस्कृत और प्रादेशिक भाषाओ मे विभक्त कर सकते हैं। पूर्वात्मक व पूर्वोद्धृत कर्मग्रन्थ प्राकृत भाषा मे हैं। प्राकरणिक कर्म साहित्य का विशेष अंश प्राकृत मे ही है। मूल ग्रन्थो के अतिरिक्त उन पर लिखी गई वृत्तियाँ और टिप्पणियाँ भी प्राकृत में है। बाद मे कुछ कर्मग्रन्थ संस्कृत में भी लिखे गये, किन्तु मुख्य रूप से संस्कृत भाषा मे उस पर वृत्तियाँ ही लिखी गई है। संस्कृत मे लिखे हुये मूल कर्मग्रन्थ, प्राकरणिक कर्मशास्त्र मे आते है। प्रादेशिक भाषाओ मे लिखा हुआ कर्म साहित्य कन्नड़, गुजराती और हिन्दी मे है। इनमे मौलिक अंश बहुत ही कम है, अनुवाद और विवेचन ही मुख्य है। कन्नड और हिन्दी में दिगम्बर साहित्य अधिक लिखा गया है और गुजराती में श्वेताम्बर साहित्य।

विस्तारभय से उन सभी ग्रन्थो का परिचय देना यहाँ सम्भव नही है। संक्षेप में उपलब्ध दिगम्बरीय कर्म साहित्य का प्रमाण लगभग पाच लाख श्लोक है। और श्वेताम्बरीय कर्म साहित्य का ग्रन्थमान लगभग दो लाख श्लोक है।

श्वेताम्बरीय कर्म-साहित्य का प्राचीनतम स्वतन्त्र ग्रन्थ शिवशर्मसूरिकृत कर्मप्रकृति है। उसमे ४७५ गाथाएं है। इसमें आचार्य ने कर्म सम्बन्धी बन्धनकरण, संक्रमणकरण, उद्वर्तनाकरण, अपवर्तनाकरण, उदीरणाकरण, उप-शमनाकरण, निधत्तिकरण और निकाचनाकरण इन आठ करणों (करण का अर्थ है आत्मा का परिणामविशेष) एवं उदय और सत्ता इन दो अवस्थाओ का वर्णन किया है। इस पर एक चूर्णि भी लिखी गई थी। प्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरि और उपाध्याय यशोविजयजी ने संस्कृत भाषा मे इस पर टीका लिखी है। आचार्य शिवशर्म की एक अन्य रचना 'शतक' है। इस पर भी मलयगिरि ने टीका लिखी है। पार्श्वऋषि के शिष्य चन्द्रर्षि महत्तर ने पंच-

२३. कर्मग्रन्थ, भाग १ प्रस्तावना, पृ. १५-१६ प. सुखलालजी

संग्रह की रचना की और उस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी। इसके पूर्व भी दिगम्बर परम्परा में प्राकृत पंचसंग्रह उपलब्ध था, किन्तु उसकी कर्मविषयक कितनी ही मान्यताएं आगम-साहित्य से मेल नहीं खाती थीं, इसलिए चन्द्रर्षि महत्तर ने नवीन पचसंग्रह की रचना कर उसमें आगम मान्यताएं गुंफित कीं। आचार्य मलयगिरि ने उस पर भी संस्कृत टीका लिखी है। जैन परम्परा के प्राचीन आचार्यों ने प्राचीन कर्मग्रन्थ भी लिखे थे। जिनके नाम इस प्रकार हैं—कर्म-विपाक, कर्म-स्तव, बंध-स्वामित्व, सप्ततिका और शतक। इन पर उनका स्वय का स्वोपज्ञ विवरण है। प्राचीन कर्मग्रन्थों को आधार बना कर देवेन्द्रसूरि ने नवीन पांच कर्म ग्रन्थ बनाये। इस प्रकार जैन परम्परा में कर्मविषयक साहित्य पर्याप्त उर्वर स्थिति में है। मध्य युग के आचार्यों ने इन पर बालावबोध भी लिखे हैं, जिन्हें प्राचीन भाषा में टब्बा कहा जाता है।

जैन दर्शन का मन्तव्य

कर्मवाद के समर्थक दार्शनिक चिन्तकों ने कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, पुरुषवाद, आदि मान्यताओं का सुन्दर समन्वय करते हुये इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। विश्व-वैचित्र्य का मुख्य कारण कर्म है और काल आदि उसके सहकारी कारण हैं। कर्म को प्रधान कारण मानने से जन-जन के मन में आत्मविश्वास और आत्मबल पैदा होता है और साथ ही पुरुषार्थ का पोषण होता है। सुख-दुःख का प्रधान कारण अन्यत्र न ढूंढ कर अपने आप में ढूंढना बुद्धिमत्ता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने लिखा है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पाँच कारणो में से किसी एक को ही कारण माना जाए और शेष कारणो की उपेक्षा की जाए, यह मिथ्यात्व है। कार्यनिष्पत्ति में काल आदि सभी कारणों का समन्वय किया जाय[२४] यह सम्यक्त्व है। इसीका समर्थन आचार्य हरिभद्र ने भी किया है।[२५]

दैव, कर्म, भाग्य और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में अनेकान्त दृष्टि रखनी चाहिए। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है—बुद्धिपूर्वक कर्म न करने पर भी इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होना दैवाधीन है। बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कहीं पर दैव प्रधान होता है तो कहीं पर पुरुषार्थ।[२६] दैव और पुरुषार्थ के सही समन्वय से ही अर्थसिद्धि होती है।

जैनदर्शन में जड़ और चेतन पदार्थों के नियामक के रूप में ईश्वर या पुरुष की सत्ता नहीं मानी गई है। उसका मन्तव्य है कि ईश्वर या ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व संहार का कारण या नियामक मानना निरर्थक है। कर्म आदि कारणों से ही प्राणियों के जन्म, जरा और मरण आदि की सिद्धि की जा सकती है। अतएव कर्ममूलक विश्वव्यवस्था मानना तर्कसंगत है। कर्म अपने नैसर्गिक स्वभाव से अपने-आप फल प्रदान करने मे समर्थ होता है।

कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्मवाद पर चिन्तन करने के लिए हमें सर्वप्रथम वेदकालीन कर्म सम्बन्धी विचारों पर ध्यान देना होगा। उपलब्ध साहित्य में वेद सबसे प्राचीन है। वैदिक युग के महर्षियों को कर्म-सम्बन्धी ज्ञान

---

२४. कालो सहाव णियई पुव्वकम्म पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं तं चेव उ समासओ हुंति सम्मत्तं॥ —सन्मतितर्क प्रकरण ३,५३

२५. शास्त्रवार्तासमुच्चय १९१-१९२

२६. आप्तमीमांसा ८८-९१

था या नहीं ? इस पर विज्ञों के दो मत हैं। कितने ही विज्ञों का यह मत है कि वेदों—संहिता ग्रन्थों में कर्मवाद का वर्णन नहीं आया है, तो कितने ही विद्वान् कहते हैं कि वेदों के रचयिता ऋषिगण कर्मवाद के ज्ञाता थे।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में कर्मवाद की चर्चा नहीं है, उनका कहना है कि वैदिक काल के ऋषियों ने प्राणियों में रहे हुए वैविध्य और वैचित्र्य का अनुभव तो गहराई से किया पर उन्होंने उसके मूल की अन्वेषणा अन्तर् में न कर बाह्य जगत् में की। किसी ने कमनीय कल्पना के गगन में विहरण करते हुये कहा कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक भौतिक तत्त्व है तो दूसरे ऋषि ने अनेक भौतिक तत्त्वों को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। तीसरे ऋषि ने प्रजापति ब्रह्मा को ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। इस तरह वैदिक युग का सम्पूर्ण तत्त्वचिन्तन देव और यज्ञ की परिधि में ही विकसित हुआ। पहले विविध देवों की कल्पना की गई और उसके पश्चात् एक देव की महत्ता स्थापित की गई। जीवन में सुख और वैभव की उपलब्धि हो, शत्रु पराजित हों, अतः देवों की प्रार्थनाएँ की गई और सजीव व निर्जीव पदार्थों की आहूतियाँ दी गईं। यज्ञकर्म का शनैः शनैः विकास हुआ। इस प्रकार यह विचारधारा संहिताकाल से लेकर ब्राह्मणकाल तक क्रमशः विकसित हुई।[२७]

आरण्यक और उपनिषद् युग मे देववाद व यज्ञवाद का महत्त्व कम होने लगा और ऐसे नये विचार सामने आये जिनका संहिताकाल व ब्राह्मणकाल मे अभाव था। उपनिषदों से पूर्व के वैदिकसाहित्य में कर्मविषयक चिन्तन का अभाव है पर आरण्यक व उपनिषद्काल में 'अदृष्ट' के रूप कर्म का वर्णन मिलता है। यह सत्य है कि कर्म को विश्ववैचित्र्य का कारण मानने में उपनिषदों का भी एकमत नहीं रहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रारम्भ में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष को ही विश्व-वैचित्र्य का कारण माना है, कर्म को नही।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों—संहिता-ग्रन्थों में कर्मवाद या कर्म-गति आदि शब्द भले ही न हों किन्तु उनमे कर्मवाद का उल्लेख अवश्य हुआ है। ऋग्वेदसहिता के निम्न मंत्र इस बात के ज्वलंत प्रमाण हैं—शुभस्पतिः (शुभ कर्मों के रक्षक), धियस्पतिः (सत्य कर्मों के रक्षक), विचर्षणि तथा विश्वचर्षणि (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा) विश्वस्य कर्मणो धर्ता (सभी कर्मों के आधार) आदि पद देवों के विशेषणो के रूप में व्यवहृत हुये है। कितने ही मत्रो से स्पष्ट रूप मे यह प्रतिपादित किया गया है कि शुभ कर्म करने से अमरत्व की उपलब्धि होती है। कर्मों के अनुसार ही जीव अनेक बार ससार मे जन्म लेता है और मरता है। वामदेव ने अनेक पूर्वभवों का वर्णन किया है। पूर्व जन्म के दुष्कृत्यों से ही लोग पाप कर्म में प्रवृत्त होते है, आदि उल्लेख वेदों के मंत्रों मे हैं। पूर्वजन्म के पापकृत्यों से मुक्त होने के लिए ही मानव देवों की अभ्यर्थना करता है। वेदमंत्रों मे संचित और प्रारब्ध कर्मों का भी वर्णन है। साथ ही देवयान और पितृयान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ-कर्म करने वाले लोग देवयान से ब्रह्मलोक को जाते हैं और साधारण कर्म करने वाले पितृयान से चन्द्रलोक में जाते हैं। ऋग्वेद में पूर्वजन्म के निकृष्ट कर्मों के भोग के लिए जीव किस प्रकार वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीरों में प्रविष्ट होता है, इसका वर्णन है। 'मा वो भुजेमान्य जातमेनो' 'मा वा एनो अन्यकृतं भुजेम' आदि मन्त्रों से यह भी ज्ञात होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मों को भी भोग सकता है और उससे बचने के लिए साधक ने इन मन्त्रों में प्रार्थना की है। मुख्य रूप से जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का उपभोग भी करता है पर विशिष्ट शक्ति के अभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग सकता है।[२८]

---

२७. (क) आत्ममीमांसा—पृ० ७९-८० प० दलसुख मालवणिया
(ख) जैन धर्म और दर्शन—पृ० ४३०, डा० मोहनलाल मेहता

२८. (क) भारतीय दर्शन —पृ० ३९-४१, उमेश मिश्र
(ख) जैन धर्म और दर्शन—पृ० ४३२

उपर्युक्त दोनों मतों का गहराई से अनुचिन्तन करने पर ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदों में कर्म सम्बन्धी मान्यताओं का पूर्ण रूप से अभाव तो नहीं है पर देववाद और यज्ञवाद के प्रभुत्व से कर्मवाद का विश्लेषण एकदम गौण हो गया है। यह सत्य है कि कर्म क्या है, वे किस प्रकार बंधते है और किस प्रकार प्राणी उनसे मुक्त होते है, आदि जिज्ञासाओं का समाधान वैदिक संहिताओं में नहीं है। वहाँ पर मुख्य रूप से यज्ञकर्म को ही कर्म माना है और कदम-कदम पर देवों से सहायता के लिए याचना की है। जब यज्ञ और देव की अपेक्षा कर्मवाद का महत्त्व अधिक बढ़ने लगा, तब उसके समर्थकों ने उक्त दोनो वादो का कर्मवाद के साथ समन्वय करने का प्रयास किया और यज्ञ से ही समस्त फलो की प्राप्ति स्वीकार की। इस मन्तव्य का दार्शनिक रूप मीमासादर्शन है। यज्ञ विषयक विचारणा के साथ देव विषयक विचारणा का भी विकास हुआ। ब्राह्मणकाल मे अनेक देवों के स्थान पर एक प्रजापति देव की प्रतिष्ठा हुई। उन्होने भी कर्म के साथ प्रजापति का समन्वय कर कहा—प्राणी अपने कर्म के अनुसार फल अवश्य प्राप्त करता है परन्तु फल प्राप्ति अपने आप न होकर प्रजापति के द्वारा होती है। प्रजापति (ईश्वर) जीवो को अपने-अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है। वह न्यायाधीश की तरह है। इस विचारधारा का दार्शनिक रूप न्याय, वैशेषिक, सेश्वर-साख्य और वेदान्त दर्शन में हुआ है।

यज्ञ आदि अनुष्ठानो को वैदिक परम्परा मे कर्म कहा गया है। वे अस्थायी है। उसी समय समाप्त हो जाते है तो वे किस प्रकार फल प्रदान कर सकते हैं ? इसलिए फल प्रदान करने वाले एक अदृष्ट पदार्थ की कल्पना की गई। उसे मीमांसादर्शन ने 'अपूर्व' कहा। वैशेषिकदर्शन मे 'अदृष्ट' एक गुण माना गया है, जिसके धर्म अधर्म रूप ये दो भेद है। न्यायदर्शन में धर्म और अधर्म को 'संस्कार' कहा है। अच्छे बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। 'अदृष्ट' आत्मा का गुण है। जब तक उसका फल नही मिल जाता तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है।[२९] चूंकि यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न करें तो कर्म निष्फल हो जाए। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार कहते हैं।[३०] श्रेष्ठ और कनिष्ठ प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत सस्कार से ही कर्मों के फल प्राप्त होते है। इस प्रकार वैदिक परम्परा मे कर्मवाद का विकास हुआ है।

बौद्धदर्शन में कर्म

बौद्ध और जैन ये दोनों कर्म-प्रधान श्रमण-संस्कृति की धाराएं है। बौद्ध-परम्परा ने भी कर्म की अदृष्ट शक्ति पर चिन्तन किया है। उसका अभिमत है कि जीवों में जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है वह कर्मकृत है।[३१] लोभ (राग)-द्वेष और मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष और मोहयुक्त होकर प्राणी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियां करता है और राग-द्वेष ओर मोह को उत्पन्न करता है। इस तरह संसार चक्र निरन्तर चलता रहता है।[३२] जिस चक्र का न आदि है, न अन्त है किन्तु अनादि है।[३३]

---

२९. ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफलस्य दर्शनात्। —न्यायसूत्र ४।१

३०. अन्तःकरणधर्मत्व धर्मादीनाम्। —सांख्यसूत्र ५।२५

३१. (क) भासित पेतं महाराज भगवता-कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा, कम्मयोनी, कम्मबन्धू कम्मपटिसरणा, कम्मं सते विभजति यदिदं हीनपणीततायाति —मिलिन्द प्रश्न ३।२

(ख) कर्मजं लोकवैचित्र्यं —अभिधर्मकोष ४।१

३२. अंगुत्तरनिकाय तिकनिपात सूत्र ३६; १ पृ. १३४

३३. संयुक्तनिकाय १५।५।६ भाग २, पृ. १८१-१८२

एक बार राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कहाँ है ? समाधान करते हुए आचार्य ने कहा—वह दिखलाया नही जा सकता कि कर्म कहाँ रहते है।[३४]

विसुद्धिमग्ग में कर्म को अरूपी कहा है।[३५] अभिधर्मकोष में उस अविज्ञप्ति को रूप कहा है।[३६] यह रूप सप्रतिघ न होकर अप्रतिघ है।[३७] सौत्रान्तिक मत की दृष्टि से कर्म का समावेश अरूप मे है, वे, अविज्ञप्ति[३८] को नहीं मानते हैं। बौद्धो ने कर्म को सूक्ष्म माना है। मन, वचन, और काया की जो प्रवृत्ति है वह कर्म कहलाती है पर वह विज्ञप्ति रूप है, प्रत्यक्ष है। यहाँ पर कर्म का तात्पर्य मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नही किन्तु प्रत्यक्ष कर्मजन्य संस्कार है। बौद्ध परिभाषा में इसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है। मानसिक क्रियाजन्य संस्कार-कर्म को वासना कहा है और वचन एव काय जन्य सस्कार-कर्म को अविज्ञप्ति कहा है।[३९]

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को 'वासना' शब्द मे पुकारते है। प्रज्ञाकर का अभिमत है कि जितने भी कार्य है वे सभी वासनाजन्य है। ईश्वर हो या कर्म (क्रिया) प्रधान प्रकृति हो या अन्य कुछ इन सभी का मूल वासना है। ईश्वर को न्यायाधीश मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपपत्ति की जाए तो भी वासना को माने बिना कार्य नही हो सकता। दूसरे शब्दों मे कहे तो ईश्वर प्रधान कर्म इन सभी सरिताओं का प्रवाह वासना समुद्र में मिलकर एक हो जाता है।[४०] शून्यवादी मत के मन्तव्य के अनुसार अनादि अविद्या का अपर नाम ही वासना है।

विलक्षण-वर्णन

जैन-साहित्य मे कर्मवाद के सम्बन्ध में पर्याप्त विश्लेषण किया गया है। जैनदर्शन मे प्रतिपादित कर्म-व्यवस्था का जो वैज्ञानिक रूप है, उसका किसी भी भारतीय परम्परा मे दर्शन नही होता। जैनपरम्परा इस दृष्टि से सर्वथा विलक्षण है। आगम साहित्य मे लेकर वर्तमान साहित्य में कर्मवाद का विकास किस प्रकार हुआ है, इस पर पूर्व में ही सक्षेप में लिखा जा चुका है।

कर्म का अर्थ

कर्म का शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। जो कुछ भी किया जाता है वह कर्म है। सोना, बैठना, खाना, पीना आदि जीवन व्यवहार में जो कुछ भी कार्य किया जाता वह कर्म कहलाता है। व्याकरणशास्त्र के कर्ता 'पाणिनि' ने कर्म की व्याख्या करते हुए कहा—जो कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो वह कर्म है।[४१] मीमासादर्शन ने क्रिया-काण्ड को या यज्ञ आदि अनुष्ठान को कर्म कहा है। वैशेषिकदर्शन में कर्म की परिभाषा

---

३४ न सक्का महाराज तानि कम्मानि दस्सेतु इध व एध वा तानि कम्मानि तिट्ठन्तीति।

—मिलिन्द प्रश्न ३।१५ पृ. ७५

३५. विसुद्धिमग्ग १७।११०

३६. अभिधर्मकोष १।९

३७. देखिए आत्ममीमासा, पृ. १०६

३८. नौमी अरियंटल कोन्फरंस, पृ. ५२०

३९. (क) अभिधर्मकोष चतुर्थ परिच्छेद, (ख) प्रमाणवार्त्तिकालंकार, ७५

४०. न्यायावतारवार्त्तिक वृत्ति की टिप्पणी, पृ. १७७-८ में उद्धृत

४१. कर्तुरीप्सिततमं कर्म। —अष्टाध्यायी १।४।७९

इस प्रकार है --जो एक द्रव्य में समवाय से रहता हो, जिसमें कोई गुण न हो, और जो संयोग या विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न करे।[४२] सांख्यदर्शन में संस्कार के अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग मिलता है।[४३] गीता में कर्मशीलता को कर्म कहा है।[४४] न्यायशास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमनरूप पांच प्रकार की क्रियाओ के लिए कर्म शब्द व्यवहृत हुआ है। स्मार्त-विद्वान् चार वर्णों और चार आश्रमों के कर्तव्यो को कर्म की सज्ञा प्रदान करते हैं। पौराणिक लोग व्रत-नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्मरूप कहते हैं। बौद्धदर्शन जीवो की विचित्रता के कारण को कर्म कहते हैं, जो वासना रूप है। जैन-परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है—भावकर्म और द्रव्यकर्म। राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् कषायभाव कर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्गल-जड़तत्त्व विशेष, जो कषाय के कारण आत्मा के साथ मिल जाता है द्रव्यकर्म कहलाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से परिणमन विशेषप्राप्त पुद्गल भी कर्म है।[४५] कर्म जो पुद्गल का ही एक विशेष रूप है, आत्मा से भिन्न एक विजातीय तत्त्व है। जब तक आत्मा के साथ इस विजातीय तत्त्व-कर्म का संयोग है, तभी तक संसार है और उस संयोग के नाश होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है।

विभिन्न परम्पराओं में कर्म

जैन-परम्परा में जिस अर्थ मे 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है, उस या उससे मिलते-जुलते अर्थ मे भारत के विभिन्न दर्शनो में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वेदान्तदर्शन में माया, अविद्या और प्रकृति शब्दों का प्रयोग हुआ है। मीमासादर्शन में अपूर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्धदर्शन में वासना और अविज्ञप्ति शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सांख्यदर्शन मे 'आशय' शब्द विशेष रूप से मिलता है। न्याय-वैशेषिकदर्शन मे अदृष्ट, संस्कार और धर्माधर्म शब्द विशेष रूप मे प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य, पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनो मे हुआ है। भारतीय दर्शनों मे एक चार्वाकदर्शन ही ऐसा दर्शन है, जिसका कर्मवाद मे विश्वास नही है। क्योंकि वह आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व ही नही मानता है। इसलिए कर्म और उसके द्वारा होने वाले पुनर्भव, परलोक आदि को भी वह नहीं मानता है।[४६]

न्यायदर्शन के अभिमतानुसार राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषो से प्रेरणा सप्राप्त कर जीवों मे मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म संस्कार कहलाते हैं।[४७]

वैशेषिकदर्शन मे चौबीस गुण माने गये हैं उनमें एक अदृष्ट भी है। यह गुण सस्कार मे पृथक् है और

---

४२. वैशेषिकदर्शनभाष्य —१।१७ प्र. ३५

४३. साख्यतत्त्वकोमुदी ६७

४४. योग: कर्मसु कौशलम्

४५. प्रवचनसार टीका २।२५

४६. (क) जैनधर्म और दर्शन पृ. ४४३

(ख) कर्मविपाक के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना, पं. सुखलालजी, पृ. २३

४७. न्यायभाष्य १।१।२ आदि

धर्म-अधर्म ये दोनों उसके भेद है।[४८] इस तरह न्यायदर्शन मे धर्म, अधर्म का समावेश संस्कार मे किया गया है। उन्हीं धर्म-अधर्म को वैशेषिकदर्शन मे अदृष्ट के अन्तर्गत लिया गया है। राग आदि दोषों से संस्कार होता है, संस्कार से जन्म, जन्म से राग आदि दोष और उन दोषो से पुन संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस तरह जीवों की संसार परम्परा बीजांकुरवत् अनादि है।

सांख्य-योगदर्शन के अभिमतानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रस्तुत क्लिष्टवृत्ति से धर्माधर्म रूपी संस्कार पैदा होता है। संस्कार को इस वर्णन मे बीजांकुरवत् अनादि माना है।[४९]

मीमांसादर्शन का अभिमत है कि मानव द्वारा किया जाने वाला यज्ञ आदि अनुष्ठान अपूर्व नामक पदार्थ को उत्पन्न करता है और वह अपूर्व ही सभी कर्मों का फल देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वेद द्वारा प्ररूपित कर्म से उत्पन्न होने वाली योग्यता या शक्ति का नाम अपूर्व है। वहाँ पर अन्य कर्मजन्य सामर्थ्य को अपूर्व नहीं कहा है।[५०]

वेदान्तदर्शन का मन्तव्य है कि अनादि अविद्या या माया ही विश्ववैचित्र्य का कारण है।[५१] ईश्वर स्वयं मायाजन्य है। वह कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करता है, इसलिए फलप्राप्ति कर्म से नही अपितु ईश्वर से होती है।[५२]

बौद्धदर्शन का अभिमत है कि मनोजन्य सस्कार वासना है और वचन और कायजन्य संस्कार अविज्ञप्ति है। लोभ, द्वेष और मोह से कर्मों की उत्पत्ति होती है। लोभ, द्वेष और मोह से भी प्राणी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और उससे पुनः लोभ, द्वेष और मोह पैदा करता है इस तरह अनादि काल से यह संसारचक्र चल रहा है।[५३]

जैनदर्शन में कर्म का स्वरूप

अन्य दर्शनकार कर्म को जहाँ संस्कार या वासना रूप मानते हैं वहाँ जैनदर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नहीं होता। आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु नही हो सकता। कर्म आत्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखो का कारण है, गुणों का विघातक है, अतः वह आत्मा का गुण नही हो सकता।

बेड़ी से मानव बंधता है, मदिरापान से पागल होता है और क्लोरोफार्म से बेभान। ये सभी पौद्गलिक वस्तुएं है। ठीक इसी तरह कर्म के संयोग से आत्मा की भी ये दशाएं होती है, अतः कर्म भी पौद्गलिक है। बेड़ी आदि का बंधन बाहरी है, अल्प सामर्थ्य वाला है किन्तु कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए हैं, अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध है, एतदर्थ ही बेड़ी आदि की अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर बहुत गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

---

४८. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ४७—(चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस १९३०)

४९. योगदर्शन भाष्य १।५ आदि

५०. (क) शाबरभाष्य २।१।५ (ख) तंत्रवार्तिक २।१।५ आदि

५१. शांकरभाष्य २।१।१४

५२. शांकरभाष्य ३।२।३८-४१

५३. (क) अंगुत्तरनिकाय ३।३३।१ (ख) संयुक्तनिकाय १५।५।६

जो पुद्गल-परमाणु कर्म रूप में परिणत होते हैं, उन्हे कर्मवर्गणा कहते हैं और जो शरीररूप में परिणत होते हैं उन्हें नोकर्म-वर्गणा कहते हैं। लोक इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है, अतः वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक है। मिट्टी आदि भौतिक है और उससे निर्मित होने वाला पदार्थ भी भौतिक ही होगा।

अनुकूल आहार आदि से सुख की अनुभूति होती है और शस्त्रादि के प्रहार से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र जैसे पौद्गलिक हैं वैसे ही सुख-दु.ख के प्रदाता कर्म भी पौद्गलिक है।

बध की दृष्टि से जीव और पुद्गल दोनो एकमेक है, पर लक्षण की दृष्टि से दोनों पृथक्-पृथक् है। जीव अमूर्त व चेतनायुक्त है, जबकि पुद्गल मूर्त और अचेतन है।

इन्द्रियों के विषय—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये मूर्त है और उनका उपयोग करने वाली इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं। उनसे उत्पन्न होने वाला सुख दुःख भी मूर्त है, अतः उनके कारणभूत कर्म भी मूर्त है।[५४]

मूर्त ही मूर्त मे बधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाश रूप हो जाता है।[५५]

जैन दर्शन मे कर्म शब्द क्रिया का वाचक नहीं रहा है। उसके मन्तव्यानुसार वह आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियो से कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को आकर्षित करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव कर्मसम्बद्ध हो। जीव के साथ कर्म तभी संबद्ध होता है जब मन, वचन, काय की प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति मे कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादि काल से चल रही है। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को लक्ष्य में रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म कहा और राग-द्वेषादिरूप प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा है।[५६] इस तरह कर्म के मुख्य रूप से दो भेद हुए—द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म के होने मे भावकर्म और भावकर्म के होने मे द्रव्यकर्म कारण है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, इसी प्रकार द्रव्यकर्म मे भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का सिलसिला भी अनादि है।[५७]

कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर चिन्तन करते समय ससारी आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर स्मरण रखना चाहिए। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध ससारी आत्मा से है, मुक्त आत्मा से नही। ससारी आत्मा कर्मों से बंधा है। उसमे चैतन्य और जडत्व का मिश्रण है। मुक्त आत्मा कर्मों से रहित होता है, उसमें विशुद्ध चैतन्य ही होता है। बद्ध आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण जो पुद्गल-परमाणु आकृष्ट होकर परस्पर एक दूसरे के साथ मिल जाते है, नीरक्षीरवत् एक हो जाते है, वे कर्म कहलाते है। इस तरह कर्म भी जड़ और चेतन का मिश्रण है। प्रश्न हो सकता है कि संसारी आत्मा भी जड और चेतन का मिश्रण

५४. जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियय।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ···॥ —पचास्तिकाय १४१

५५. पंचास्तिकाय १४२

५६. कर्मप्रकृति—नेमिचन्द्राचार्य विरचित ६

५७. देखिए धर्म और दर्शन, पृ. ४२ देवेन्द्रमुनि शास्त्री

है और कर्म में भी वही बात है, तब दोनों में अन्तर क्या है? उत्तर है कि संसारी आत्मा का चेतन अंश जीव कहलाता है और जड़ अंश कर्म कहलाता है। ये चेतन और जड़ अंश इस प्रकार के नही हैं जिनका संसार-अवस्था में अलग-अलग रूप से अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्तावस्था में ही होता है। संसारी आत्मा सदैव कर्मयुक्त ही होता है। जब वह कर्म से मुक्त हो जाता है तब वह मुक्त आत्मा कहलाता है। कर्म जब आत्मा से पृथक् हो जाता है तब वह कर्म नही पुद्‌गल कहलाता है। आत्मा से सम्बद्ध पुद्‌गल द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्मयुक्त आत्मा की प्रवृत्ति भावकर्म है। गहराई से चिन्तन करने पर आत्मा और पुद्‌गल के तीन रूप होते हैं—(१) शुद्ध आत्मा—जो मुक्तावस्था में है। (२) शुद्ध पुद्‌गल (३) आत्मा और पुद्‌गल का सम्मिश्रण—जो संसारी आत्मा में है कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध आत्मा और पुद्‌गल की सम्मिश्रण-अवस्था में है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

सहज जिज्ञासा हो सकती है कि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्म के साथ किस प्रकार सम्बद्ध हो सकता है? समाधान है कि प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। अनादिकाल से वह कर्मों से बंधा हुआ और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माएँ कथंचित् मूर्त हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो स्वरूप से अमूर्त होने पर भी संसार-दशा मे मूर्त है।

जो आत्मा पूर्णरूप से कर्ममुक्त हो जाता है उसको कभी भी कर्म का बंधन नहीं होता। अतः आत्मा और कर्म का सम्बन्ध मूर्त्त का मूर्त्त मे साथ होने वाला संबंध है। दोनों का अनादिकालीन सम्बन्ध चला आ रहा है।

हम पूर्व मे बता चुकें है कि मूर्त मादक द्रव्यो का असर अमूर्त ज्ञान पर होता है वैसे ही विकारी अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म-पुद्‌गलों का प्रभाव होता है।

कर्म कौन बाँधता है?

अकर्म के कर्म का बधन नही होता। जो जीव पहले से ही कर्मों से बधा है वही जीव नये कर्मों को बाँधता है।[५८]

मोहकर्म का उदय होने पर जीव राग-द्वेष में परिणत होता है और वह अशुभ कर्मों का बध करता है।[५९]

मोहरहित जो वीतराग जीव हैं वे योग के कारण शुभ कर्म का बन्धन करते हैं।[६०]

गौतम—भगवन्! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है या अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है।

भगवन्—गौतम! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट नहीं होता। दुःख का स्पर्श पर्यादान (ग्रहण) उदीरणा वेदना और निर्जरा दुःखी जीव करता है, अदुःखी जीव नहीं करता।[६१]

गौतम ने पूछा—भगवन्! कर्म कौन बाँधता है? संयत, असंयत अथवा संयतासयत?

---

५८. प्रज्ञापना २३।१।२९२

५९. भगवती ९

६०. भगवती ९

६१. भगवती ७।१।२६६

भगवान् ने कहा—गौतम ! असंयत, संयतासंयत और संयत ये सभी कर्म बांधते हैं। तात्पर्य यह है कि सकर्म आत्मा ही कर्म बंधक हैं, उन्हीं पर कर्म का प्रभाव होता है।

कर्मबंध के कारण

जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है किन्तु कर्म किन कारणों से बंधते हैं, यह एक सहज जिज्ञासा है। गौतम ने प्रश्न किया—भगवन् ! जीव कर्मबंध कैसे करता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनमोह का उदय होता है। दर्शनमोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मों को बांधता है।[६२]

स्थानाङ्ग[६३] समवायाङ्ग[६४] में तथा उमास्वाति ने कर्मबंध के पांच कारण बताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग।[६५]

संक्षेप दृष्टि से कर्मबंध के दो कारण हैं—कषाय और योग।[६६]

कर्मबंध के चार भेद हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।[६७] इनमे प्रकृति और प्रदेश का बंध योग से होता है एवं स्थिति व अनुभाग का बंध कषाय से होता है।[६८] संक्षेप में कहा जाय तो कषाय ही कर्मबंध का मुख्य हेतु है।[६९] कषाय के अभाव में साम्परायिक कर्म का बंध नहीं होता। दसवें गुणस्थान तक दोनों कारण रहते हैं, अतः वहाँ तक साम्परायिकबंध होता है। कषाय और योग से होने वाला बंध साम्परायिकबंध कहलाता है और वीतराग को योग के निमित्त से जो गमनागमन आदि क्रियाओ से कर्मबंध होता है वह ईर्यापथिकबंध कहलाता है।[७०] ईर्यापथ-कर्म की स्थिति उत्तराध्ययन[७१] प्रज्ञापना[७२] में दो समय की मानी है और दिगम्बर ग्रन्थो में एव पं० सुखलालजी[७३] ने सिर्फ एक समय की मानी है। योग होने पर भी अगर कषायाभाव हो तो उपार्जित कर्म की स्थिति या रस का बंध नहीं होता। स्थिति और रस दोनों के बंध का कारण कषाय ही है।

विस्तार से कषाय के चार भेद है—क्रोध, मान, माया और लोभ।[७४] स्थानाङ्ग और प्रज्ञापना में

---

६२. प्रज्ञापना २३।१।२८९
६३. स्थानाङ्ग ४१८
६४. समवायाङ्ग ५ समवाय
६५. तत्त्वार्थसूत्र ८।१
६६. समवायाङ्ग २
६७. तत्त्वार्थसूत्र ८।४
६८. (क) स्थानाङ्ग ४ स्थान (ख) पचम कर्मग्रन्थ गा० ९६
६९. तत्त्वार्थसूत्र ८।२
७०. तत्त्वार्थसूत्र ६।५
७१. उत्तराध्ययन अ० २९ पृ० ७१
७२. प्रज्ञापना २३।१३ पृ० १३७
७३. (क) समयट्ठिदिगो बंधो ·····गोम्मटसार कर्मकाड, (ख) तत्त्वार्थसूत्र पं० सुखलालजी, पृ० २१७
७४. (क) सूत्रकृताङ्ग ६।२६, (ख) स्थानाङ्ग ४।१।२५१, (ग) प्रज्ञापना २३।१।२९०

कर्मबंध के ये चार कारण बताये है। संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष।[75] राग और द्वेष में भी उन चारों का समन्वय हो जाता है। राग में माया और लोभ तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश होता है।[76] राग और द्वेष के द्वारा ही अष्टविध कर्मों का बंधन होता है[77] अतः राग-द्वेष को ही भावकर्म माना है।[78] राग-द्वेष का मूल मोह ही है।

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—जिस मनुष्य के शरीर पर तेल चुपडा हो, उसका शरीर उड़ने वाली धूल से लिप्त हो जाता है। वैसे ही राग-द्वेष के भाव से आक्लिश हुए आत्मा पर कर्म-रज का बंध हो जाता है।[79]

स्मरण रखना चाहिए कि मिथ्यात्व को जो कर्म-बंधन का कारण कहा है, उसमें भी राग-द्वेष ही प्रमुख है। राग-द्वेष की तीव्रता से ही ज्ञान विपरीत होता है। इसके अतिरिक्त जहाँ मिथ्यात्व होता है वहाँ अन्य कारण स्वत. होते ही है। अतः शब्द-भेद होने पर भी सभी का सार एक ही है। केवल संक्षेप-विस्तार के विवक्षाभेद से उक्त कथन समझना चाहिए।

जैनदर्शन की तरह बौद्ध-दर्शन ने भी कर्मबधन का कारण मिथ्याज्ञान और मोह माना है।[80] न्यायदर्शन का भी यही मन्तव्य है कि मिथ्याज्ञान ही मोह है। प्रस्तुत मोह केवल तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्ति रूप नही है किन्तु शरीर इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि ये अनात्मा होने पर भी इनमें मैं ही हूँ ऐसा ज्ञान मिथ्याज्ञान और मोह है। यही कर्मबंधन का कारण है।[81] वैशेषिकदर्शन भी प्रकृत कथन का समर्थन करता है।[82] सांख्यदर्शन भी बंध का कारण विपर्यास मानता है [83] और विपर्यास ही मिथ्याज्ञान है।[84] योगदर्शन क्लेश को बंध का कारण मानता है और क्लेश का कारण अविद्या है।[85] उपनिषद[86] भगवद्गीता[87] और ब्रह्मसूत्र में भी अविद्या को ही बंध का कारण माना है।

इस प्रकार जैनदर्शन और अन्य दर्शनों में कर्मबंध के कारणों में शब्दभेद और प्रक्रियाभेद होने पर भी मूल भावनाओं मे खास भेद नहीं है।

---

७५ उत्तराध्ययन ३२।७

७६. (क) स्थानाङ्ग २।३, (ख) प्रज्ञापना २३, (ग) प्रवचनसार गा० ९५

७७. प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति आचार्य नमि

७८ (क) उत्तराध्ययन ३२।७, (ख) स्थानाङ्ग २।२, (ग) समयसार गाथा ९४।९६।१०९।१७७,
(घ) प्रवचनसार १।८४।८८

७९. आवश्यक टीका

८०. (क) सुत्तनिपात ३।१२।३३, (ख) विसुद्धिमग्ग १७।३०२, (ग) मज्झिमनिकाय महातण्हासंखयसुत्तं ३८

८१. (क) न्यायभाष्य ४।२।१, (ख) न्यायसूत्र १।१।२, (ग) न्यायसूत्र ४।१।३, (घ) न्यायसूत्र ४।१।६

८२. (क) प्रशस्तपाद पृ० ५३८ विपर्यय निरूपण, (ख) प्रशस्तपाद भाष्य संसारापवर्ग प्रकरण

८३. सांख्यकारिका ४४-४७-४८

८४. ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानम् —मराठ वृत्ति ४४

८५. योगदर्शन २।३।४

८६. कठोपनिषद् १।२।५

८७. भगवद्गीता ५।१५६

निश्चयनय और व्यवहारनय

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से भी जैनदर्शन में कर्म-सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। जो पर-निमित्त के बिना वस्तु के असली तात्त्विक स्वरूप का कथन करता है वह निश्चयनय है और जो परनिमित्त की अपेक्षा से वस्तु का कथन करता है वह व्यवहारनय है। प्रश्न है कि निश्चय और व्यवहार की प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार क्या कर्म के कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का निरूपण हो सकता है? परनिमित्त के अभाव में वस्तु के वास्तविक स्वरूप के कथन का अर्थ है शुद्ध वस्तु के स्वरूप का कथन। इस अर्थ की दृष्टि से निश्चयनय शुद्ध-आत्मा और शुद्ध-पुद्गल का ही कथन कर सकता है, पुद्गल-मिश्रित आत्मा का या आत्म-मिश्रित पुद्गल का नहीं। अतः कर्म के कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का कथन निश्चयनय से किस प्रकार सम्भव है?[८८] चूंकि कर्म का सम्बन्ध सांसारिक आत्मा से है। व्यवहारनय परनिमित्त की अपेक्षा से वस्तु का निरूपण करता है अतः कर्मयुक्त आत्मा का कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है। निश्चयनय पदार्थ के शुद्ध स्वरूप का अर्थात् जो वस्तु स्वभाव से अपने आप में जैसी है वैसी ही प्रतिपादन करता है और व्यवहारनय ससारी आत्मा जो कर्म से युक्त है उसका प्रतिपादन करता है। इस तरह निश्चय और व्यवहारनय में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। दोनो की विषयवस्तु भिन्न-भिन्न है, उनका क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। निश्चयनय से कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि का निरूपण नही हो सकता। वह मुक्त आत्मा और पुद्गल आदि शुद्ध अजीव का ही प्रतिपादन कर सकता है।

कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व

कितने ही चिन्तकों ने निश्चय और व्यवहारनय की मर्यादा को विस्मृत करके निश्चयनय से कर्म के कर्तृत्व भोक्तृत्व का निरूपण किया है जिससे कर्म सिद्धान्त में अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। इन समस्याओं का कारण है संसारी जीव और मुक्त जीव के भेद का विस्मरण और साथ ही कभी-कभी कर्म और पुद्गल का अन्तर भी भुला दिया जाता है। उन चिन्तको का मन्तव्य है कि जीव न तो कर्मों का कर्ता है और न भोक्ता ही है चूंकि द्रव्यकर्म पौद्गलिक है, पुद्गल के विकार हैं, इसलिए पर है। उनका कर्ता चेतन जीव किस प्रकार हो सकता है? चेतन का कर्म चेतनरूप होता है और अचेतन का कर्म अचेतनरूप। यदि चेतन का कर्म भी अचेतनरूप होने लगेगा तो चेतन और अचेतन का भेद नष्ट होकर महान् सकर दोष उपस्थित होगा। इसलिये प्रत्येक द्रव्य स्व-भाव का कर्ता है पर-भाव का कर्ता नही।[८९]

प्रस्तुत कथन में संसारी जीव को द्रव्यकर्मों का कर्ता व भोक्ता इसलिए नही माना गया कि कर्म पौद्गलिक हैं। यह किस प्रकार सम्भव है कि चेतन जीव अचेतन कर्म को उत्पन्न करे? इस हेतु से जो ससारी अशुद्ध आत्मा है उसको शुद्ध चैतन्य मान लिया गया है और कर्म को शुद्ध पुद्गल। किन्तु सत्य तथ्य यह है कि न संसारी जीव शुद्ध चैतन्य है और न कर्म शुद्ध पुद्गल ही है। संसारी जीव चेतन और अचेतन द्रव्यों का मिला-जुला रूप है, इसी तरह कर्म भी पुद्गल का शुद्ध रूप नही अपितु एक विकृत अवस्था है जो ससारी जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति से निर्मित हुई है और उससे सम्बद्ध है। जीव और पुद्गल दोनों अपनी-अपनी स्वाभाविक अवस्था में हों तो कर्म की उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं हो सकता। ससारी जीव स्वभाव मे स्थित नहीं है किन्तु उसकी स्व और पर-भाव की मिश्रित अवस्था है, इसलिए उसे केवल स्व-भाव का कर्ता किस प्रकार कह सकते है? जब हम यह कहते है कि जीव कर्मों का कर्ता है तो इसका तात्पर्य यह नही कि जीव पुद्गल

---

८८. पचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना पृ० ११

८९. पंचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना पृ० ११-१२

का निर्माण करता है। पुद्गल तो पहले से ही विद्यमान है। उसका निर्माण जीव नहीं करता, जीव तो अपने सन्निकट स्थित पुद्गल परमाणुओं को अपनी प्रवृत्तियों से आकृष्ट कर अपने में मिलाकर नीरक्षीरवत् कर देता है। यही द्रव्यकर्मों का कर्तृत्व कहलाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना एकान्ततः युक्त नहीं है कि जीव द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है। यदि जीव द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है तो फिर उसका कर्ता कौन है? पुद्गल अपने आप कर्म रूप में परिणत नहीं होता, जीव ही उसे कर्म रूप में परिणत करता है। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि द्रव्यकर्मों के कर्तृत्व के अभाव में भावकर्मों का कर्तृत्व किस प्रकार सम्भव हो सकता है! द्रव्यकर्म ही तो भावकर्म को उत्पन्न करते है। सिद्ध द्रव्यकर्मों से मुक्त हैं इसलिए भावकर्मों से भी मुक्त है। जब यह सिद्ध हो जाता है कि जीव पुद्गल-परमाणुओं को कर्म के रूप में परिणत करता है तो वह कर्म फल का भोक्ता भी सिद्ध हो जाता है। चूंकि जो कर्मों से बद्ध होता है वही उनका फल भी भोगता है। इस तरह संसारी जीव कर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता है किन्तु मुक्त जीव न तो कर्मों का कर्ता है और न कर्मों का भोक्ता ही है।

जो विचारक जीव को कर्मों का कर्ता और भोक्ता नही मानते हैं, वे एक उदाहरण देते है। जैसे एक युवक, जिसका रूप अत्यन्त सुन्दर है, कार्यवश कही पर जा रहा है, उसके दिव्य व भव्य रूप को निहार कर एक तरुणी उस पर मुग्ध हो जाय और उसके पीछे-पीछे चलने लगे तो उस युवक का उसमें क्या कर्तृत्व है? कर्त्री तो वह युवती है। युवक तो उसमें केवल निमित्तकारण है।[६०] इसी प्रकार यदि पुद्गल जीव की ओर आकर्षित होकर कर्म के रूप में परिवर्तित होता है तो उसमे जीव का क्या कर्तृत्व है। कर्ता तो पुद्गल स्वयं है। जीव उसमें केवल निमित्तकारण है। यही बात कर्मों के भोक्तृत्व के सम्बन्ध मे भी कह सकते है। यदि यही बात है तो आत्मा न कर्ता सिद्ध होगा, न भोक्ता, न बद्ध होगा, न मुक्त, न राग-द्वेषादि भावों से युक्त सिद्ध होगा और न उनसे रहित ही। परन्तु सत्य तथ्य यह नहीं है। जैसे किसी रूपवान् पर युवती मुग्ध होकर उसके पीछे हो जाती है वैसे जड़ पुद्गल चेतन आत्मा के पीछे नही लगते। पुद्गल अपने आप आकर्षित होकर आत्मा को पकड़ने के लिए नहीं दौड़ता। जीव जब सक्रिय होता है तभी पुद्गल-परमाणु उसकी ओर आकृष्ट होते है। अपने को उसमें मिलाकर उसके साथ एकमेक हो जाते हैं, और समय पर फल प्रदान कर उससे पुनः पृथक् हो जाते है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के लिए जीव पूर्णरूप से उत्तरदायी है। जीव की क्रिया से ही पुद्गल परमाणु उसकी ओर खिंचते है, सम्बद्ध होते है और उचित फल प्रदान करते है। यह कार्य न अकेला जीव ही कर सकता है और न अकेला पुद्गल ही कर सकता है। दोनों के सम्मिलित और पारस्परिक प्रभाव से ही यह सब कुछ होता है। कर्म के कर्तृत्व में जीव की इस प्रकार की निमित्तता नहीं है कि जीव सांख्यपुरुष की भाँति निष्क्रिय अवस्था में निर्लिप्त भाव से विद्यमान रहता हो और पुद्गल अपने आप कर्म के रूप मे परिणत हो जाते हो। जीव और पुद्गल के परस्पर मिलने से ही कर्म की उत्पत्ति होती है। एकान्त रूप से जीव को चेतन और कर्म को जड़ नही कह सकते। जीव भी कर्म-पुद्गल के संसर्ग के कारण कथंचित् जड़ है और कर्म भी चैतन्य के संसर्ग के कारण कथंचित् चेतन हैं। जब जीव और कर्म एक-दूसरे से पूर्णरूप से पृथक् हो जाते है, उनमे किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रहता है तब वे अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाते हैं अर्थात् जीव एकान्त रूप से चेतन हो जाता है और कर्म एकान्त रूप से जड़।

संसारी जीव और द्रव्यकर्म रूप पुद्गल के मिलने पर उसके प्रभाव से ही जीव में राग-द्वेषादि भावकर्म की उत्पत्ति सभव है। प्रश्न है कि यदि जीव अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता है और पुद्गल भी अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता है तो राग-द्वेष आदि भावो का कर्ता कौन है? राग-द्वेष आदि भाव न जीव के शुद्ध स्वभाव के अन्तर्गत है और न पुद्गल के ही शुद्ध स्वभाव के अन्तर्गत हैं अतः उनका कर्ता किसे मानें!

---

९०. पंचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना पृ. १२

उत्तर है—चेतन आत्मा और अचेतन द्रव्यकर्म के मिश्रित रूप को ही इन अशुद्ध-वैभाविक भावों का कर्ता मान सकते हैं। राग-द्वेषादि भाव चेतन और अचेतन द्रव्यो के सम्मिश्रण से पैदा होते हैं वैसे ही मन, वचन और काय आदि भी। कर्मों की विभिन्नता और विविधता से ही यह सारा वैचित्र्य है।

निश्चयदृष्टि से कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानने वाले चिन्तक कहते है—आत्मा अपने स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का और वैभाविक भाव राग, द्वेष आदि का कर्ता है परन्तु उसके निमित्त से जो पुद्गल-परमाणुओं में कर्मरूप परिणमन होता है उसका वह कर्ता नहीं है। जैसे घड़े का कर्ता मिट्टी है, कुंभार नहीं। लोक-भाषा में कुंभार को घड़े का बनाने वाला कहते हैं पर इसका सार इतना ही है कि घट-पर्याय में कुंभार निमित्त है। वस्तुतः घट मृत्तिका का एक भाव है इसलिए उसका कर्ता भी मिट्टी ही है।[९१]

किन्तु प्रस्तुत उदाहरण उपयुक्त नही है। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध घड़े और कुंभार के समान नही है। घड़ा और कुंभार दोनों परस्पर एकमेक नहीं होते किन्तु आत्मा और कर्म नीरक्षीरवत् एकमेक हो जाते हैं। इसलिए कर्म और आत्मा का परिणमन घड़ा और कुंभार के परिणमन से पृथक् प्रकार का है। कर्म-परमाणुओ और आत्म-प्रदेशों का परिणमन जड़ और चेतन का मिश्रित परिणमन होता है जिनमे अनिवार्य रूप से एक दूसरे से प्रभावित होते हैं किन्तु घड़े और कुंभार के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। आत्मा कर्मों का केवल निमित्त ही नही किन्तु कर्ता और भोक्ता भी है। आत्मा के वैभाविक भावों के कारण पुद्गल-परमाणु उसकी ओर आकर्षित होते हैं। इसलिए वह उनके आकर्षण का निमित्त है। वे परमाणु आत्म-प्रदेशो के साथ एकमेक होकर कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं, इसलिए आत्मा कर्मों का कर्ता है। वैभाविक भावों के रूप में आत्मा को उनका फल भोगना पड़ता है, इसलिए वह कर्मों का भोक्ता भी है।

कर्म की मर्यादा

जैन-कर्म-सिद्धान्त का यह स्पष्ट अभिमत है कि कर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा से है। व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा की सुनिश्चित सीमा है और वह उसी सीमा में सीमित है। इसी प्रकार कर्म भी उसी सीमा मे अपना कार्य करता है। यदि कर्म की सीमा न मानें तो आकाश के समान वह भी सर्वव्यापक हो जाएगा। सत्य तथ्य यह है कि आत्मा का स्वदेहपरिमाणत्व भी कर्म के ही कारण है। कर्म के कारण आत्मा देह मे आबद्ध है तो फिर कर्म उसे छोड़ कर अन्यत्र कहाँ जा सकता है? संसारी आत्मा हमेशा किसी न किसी शरीर से बद्ध रहता है और सम्बद्ध कर्मपिण्ड भी उसी शरीर की सीमाओं मे सीमित रहता है।

प्रश्न है—शरीर की सीमाओं में सीमित कर्म अपनी सीमाओ का परित्याग कर फल दे सकता है? या व्यक्ति के तन-मन से भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति, प्राप्ति, व्यय आदि के लिए उत्तरदायी हो सकता है? जिस क्रिया या घटना-विशेष से किसी व्यक्ति का प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है उसके लिए भी क्या उस व्यक्ति के कर्म को कारण मान सकते हैं?

उत्तर है—जैन-कर्म-साहित्य में कर्म के मुख्य आठ प्रकार बताये है। उसमे एक भी प्रकार ऐसा नही है, जिसका सम्बन्ध आत्मा और शरीर से पृथक् किसी अन्य पदार्थ से हो। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म आत्मा के मूलगुण, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात करते है और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म शरीर की विभिन्न अवस्थाओं का निर्माण करते है। इस तरह आठों कर्मों का साक्षात् सम्बन्ध आत्मा और शरीर के साथ है, अन्य पदार्थों और घटनाओं के साथ नहीं है। परम्परा से आत्मा, शरीर-आदि के अतिरिक्त पदार्थों और घटनाओ से भी कर्मों का सम्बन्ध हो सकता है, यदि इस प्रकार सिद्ध हो सके तो।

---

९१. पंचम कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना, पृ. १३

कर्मों का सीधा सम्बन्ध आत्मा और शरीर से है तब प्रश्न उद्बुद्ध होता है कि धन-सम्पत्ति आदि की प्राप्ति को पुण्यजन्य किस कारण से माना जाता है ?

उत्तर में विवेचन है कि धन-परिजन आदि से सुख आदि की अनुभूति हो तो शुभ कर्मोदय की निमित्तता के कारण बाह्य पदार्थों को भी उपचार से पुण्यजन्य मान सकते हैं। वस्तुतः पुण्य का कार्य सुख आदि की अनुभूति है, धन आदि की उपलब्धि नहीं। धन आदि के अभाव में भी सुख आदि का अनुभव होता है तो उसे पुण्य या शुभ कर्मों का फल समझना चाहिए। यह सत्य है कि बाह्य पदार्थों के निमित्त बिना भी सुख आदि की अनुभूति हो सकती है। इसी तरह दुःख आदि भी हो सकता है। सुख-दुःख आदि जितनी भी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अनुभूति होती है उसका मूल कारण बाह्य नहीं आन्तरिक है। कर्म का सम्बन्ध आन्तरिक कारण से है, बाह्य पदार्थों से नहीं। बाह्य पदार्थों की उत्पत्ति, विनाश और प्राप्ति अपने-अपने कारणों से होती है। हमारे कर्म हमारे तक ही सीमित रहते है, सर्वव्यापक नहीं है। वे हमारे शरीर और आत्मा से भिन्न अति दूर पदार्थों को किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं, आकर्षित कर सकते है, हम तक पहुंचा सकते हैं, न्यून और अधिक कर सकते हैं, विनष्ट कर सकते हैं, सुरक्षित कर सकते है ? ये सभी कार्य अन्य कारणों से होते हैं। सुख-दुःख आदि की अनुभूति में निमित्त, सहायक या उत्तेजक होने के कारण उपचार व परम्परा से बाह्य वस्तुओं को पुण्य-पाप का परिणाम मान लेते हैं।

जीव की विविध अवस्थाएं कर्मजन्य है। शरीर, इन्द्रियां, श्वासोच्छ्वास मन-वचन आदि जीव की विविध अवस्थाएं कर्म के कारण है। किन्तु पत्नी या पति की प्राप्ति, पुत्र-पुत्री की प्राप्ति, संयोग-वियोग, हानि-लाभ, सुकाल और दुष्काल, प्रकृति-प्रकोप, राज-प्रकोप आदि का कारण उनका अपना होता है। यह ठीक है कि कुछ कार्यों व घटनाओं में हमारा यत्किंचित् निमित्त हो सकता है किन्तु उसका मूल स्रोत उन्हीं के अन्दर है, हमारे में नहीं। हम प्रिय जन, स्वजन आदि के मिलने को पुण्य कर्म मानते हैं और उनके वियोग को पापफल कहते हैं परन्तु यह मान्यता जैनदर्शन की नहीं है। पिता के पुण्य के उदय से पुत्र पैदा नहीं होता, और पिता के पाप के उदय से पुत्र की मृत्यु नहीं होती। पुत्र के पैदा होने और मरने में उसका अपने कर्मों का उदय है किन्तु पिता का पुण्योदय और पापोदय साक्षात् कारण नहीं है। हाँ, यह सत्य है कि पुत्र पैदा होने के पश्चात् वह जीवित रहता है तो मोहनीय कर्म के कारण पिता को प्रसन्नता हो सकती है और उसके मरने पर दुःख हो सकता है। इस प्रसन्नता और दुःख का कारण पिता का पुण्योदय और पापोदय है और उसका निमित्त पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु है। इस तरह पिता के पुण्योदय और पापोदय से पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु नहीं होती किन्तु पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु पिता के पुण्योदय और पापोदय का निमित्त हो सकती है। इसी तरह अन्यान्य घटनाओं के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। व्यक्ति का कर्मोदय, कर्मक्षय, कर्मोपशम आदि की अपनी एक सीमा है और वह सीमा है उसका शरीर, मन, वचन आदि। उस सीमा को लांघ कर कर्मोदय नहीं होता। साराश यह है कि अपने से पृथक् सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश उनके अपने कारणों से होते हैं, हमारे कर्म के उदय के कारण से नहीं।

उदय

उदय का अर्थ काल-मर्यादा का परिवर्तन है। बंधे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने में समर्थ हो जाते है तब उनके निषेक[९२]—कर्म-पुद्गलों की एक काल में उदय होने योग्य रचना-विशेष—प्रकट होने लगते हैं, वह उदय है। दो प्रकार से कर्म का उदय होता है—

(१) प्राप्त-काल कर्म का उदय।

(२) अप्राप्त-काल कर्म का उदय।

---

९२. कर्म-निषेको नाम-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचना-विशेषः —भगवती ६।३।२३६ वृत्ति

कर्म का बंध होते ही उसमें उसी समय विपाक-प्रदान का आरम्भ नहीं हो जाता। वह निश्चित अवधि के पश्चात् विपाक देता है। वह बीच की अवधि 'अबाधाकाल' कहलाती है। उस समय कर्म का अवस्थान-मात्र होता है। अबाधा का अर्थ अन्तर है। बंध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह अबाधाकाल है।[९३]

लम्बे काल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तप आदि साधना के द्वारा विफल बना कर स्वल्प समय में भोग लिए जाते हैं। आत्मा शीघ्र निर्मल हो जाती है।

यदि स्वाभाविक रूप से ही कर्म उदय में आएँ तो आकस्मिक घटनाओं की सम्भावना एवं तप आदि साधना की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है, परन्तु अपवर्तना से कर्म की उदीरणा या अप्राप्तकाल उदय होता है। अतः आकस्मिक घटनाओं से कर्म-सिद्धांत के प्रति सन्देह उत्पन्न नहीं हो सकता। तप आदि साधना की सफलता का भी यही मुख्य कारण है।

कर्म का परिपाक और उदय सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी। किसी बाह्य कारण के अभाव में भी क्रोध—वेदनीय-पुद्गलों के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आ गया—यह उनका निर्हेतुक उदय है।[९४] इसी तरह हास्य[९५] भय, वेद, और कषाय के पुद्गलों का भी उदय होता है।[९६]

स्वतः उदय में आने वाले कर्म के हेतु

गतिहेतुक उदय—नरकगति में असाता का तीव्र उदय होता है। इसे गतिहेतुक विपाक कहते है।

स्थितिहेतुक उदय—मोहकर्म की उत्कृष्टतम स्थिति में मिथ्यात्व मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थितिहेतुक विपाक-उदय है।

भवहेतुक उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय से नीद आती है) यह सभी संसारी जीवों में होता है तथापि मनुष्य और तिर्यंच दोनो को ही नीद आती है, देव, नारक को नही। यह भवहेतुक विपाक उदय है।

गति, स्थिति और भव के कारण से कितने ही कर्मों का स्वतः विपाक-उदय हो जाता है।

दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म के हेतु

पुद्गलहेतुक उदय—किसी ने पत्थर फेंका, घाव हो गया, असाता का उदय हो गया। यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असाता-वेदनीय का पुद्गलहेतुक विपाक-उदय है।

किसी ने अपशब्द कहा, क्रोध आ गया। यह क्रोध-वेदनीय-पुद्गलो का सहेतुक विपाक-उदय है।

पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदय—बढ़िया भोजन किया किन्तु न पचने से अजीर्ण हो गया। उससे रोग उत्पन्न हुए। यह असाता-वेदनीय का विपाक-उदय है।

मदिरा आदि नशीली वस्तु का उपयोग किया, उन्माद छा गया। यह ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल-परिणमन-हेतुक-विपाक-उदय है।

---

९३. बाधा—कर्मण उदयः, न बाधा अबाधा-कर्मणो बंधस्योदयस्य चान्तरम्। —भगवती ६।३।२३६

९४. स्थानाङ्ग ४।७६ वृत्तिः पत्र १८२

९५. स्थानाङ्ग ४

९६. स्थानाङ्ग ४।७५-७९

इसी तरह विविध हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है।[९७]

यदि ये हेतु प्रस्तुत नहीं होते तो कर्मों का विपाक रूप में उदय नहीं होता। उदय का दूसरा प्रकार है प्रदेशोदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता है। यह कर्मवेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। जो कर्म-बंध होता है वह अवश्य ही भोगा जाता है।

गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! किये हुए पाप-कर्म भोगे बिना नहीं छूटते-क्या?

भगवान् ने समाधान करते हुए कहा—हाँ गौतम! यह सत्य है।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—कैसे भगवन्?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं—(१) प्रदेश-कर्म और (२) अनुभाग-कर्म। जो प्रदेश-कर्म हैं वे अवश्य ही भोगे जाते है तथा जो अनुभाग-कर्म हैं वे अनुभाग (विपाक) रूप में कुछ भोगे जाते हैं. कुछ नही भोगे जाते।[९८]

पुरुषार्थ से भाग्य में परिवर्तन हो सकता है

वर्तमान में हम जो पुरुषार्थ करते हैं उसका फल अवश्य ही प्राप्त होता है। भूतकाल की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नहीं भी है। वर्तमान में किया गया पुरुषार्थ यदि भूतकाल में किये गये पुरुषार्थ से दुर्बल है तो वह भूतकाल के किये गये पुरुषार्थ पर नहीं छा सकता। यदि वर्तमान मे किया गया पुरुषार्थ भूतकाल के पुरुषार्थ से प्रबल है तो वह भूतकाल के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।

कर्म की केवल बंध और उदय से दो ही अवस्थाएँ होती तो बद्ध कर्म मे परिवर्तन को अवकाश नहीं होता किन्तु अन्य अवस्थाएँ भी है—

(१) अपवर्तना—इससे कर्म-स्थिति का अल्पीकरण [स्थितिघात और रस का मन्दीकरण (रसघात)] होता है।

(२) उद्वर्तना से कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।

(३) उदीरणा से दीर्घकाल के पश्चात् उदय में आने वाले कर्म शीघ्र--तत्काल उदय मे आ जाते हैं।

(४) एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है, एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है। जो कर्म शुभ रूप में बंधता है, शुभ रूप मे ही उदय मे आता है, वह शुभ है और शुभ विपाक वाला है। जो कर्म शुभ रूप में बंधता है, अशुभ रूप में उदय में आता है वह शुभ और अशुभ विपाक वाला है। जो कर्म अशुभ रूप मे बंधता है, शुभ रूप मे उदय में जाता है वह अशुभ और शुभ विपाक वाला है। और जो कर्म अशुभ रूप मे बंधता है, अशुभ रूप में ही उदय में आता है वह अशुभ और अशुभ विपाक वाला है। कर्म के उदय में जो यह अन्तर है उसका मूल कारण सक्रमण (बद्धकर्म में आत्मा द्वारा अन्यथा-करण) कर देना है।

---

९७. प्रज्ञापना २३।१।२९३

९८. भगवती १।४।४. वृत्ति

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन

संक्रमण की स्थिति को छोड़ कर सामान्य रूप से जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसका फल उसे प्राप्त होता है। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है।[९९]

कर्म की मुख्यत: दो अवस्थाएँ हैं— बन्ध (ग्रहण) और उदय (फल)। कर्म को बाँधने में जीव स्वतन्त्र है किन्तु उसके फल को भोगने में वह स्वतन्त्र नहीं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है; वह चढ़ने में स्वतन्त्र है, अपनी इच्छानुसार चढ सकता है; किन्तु असावधानीवश गिर जाय तो वह गिरने में स्वतन्त्र नहीं है।[१००] वह इच्छा से गिरना नहीं चाहता है तथापि गिर जाता है, वह गिरने में स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार व्यक्ति भंग पीने में स्वतन्त्र है किन्तु उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र है। इसकी इच्छा न होते हुए भी भंग अपना चमत्कार दिखाएगी ही। उसकी इच्छा का फिर कोई मूल्य नहीं।

उक्त कथन का यह अर्थ नहीं कि बद्ध कर्मों के विपाक में आत्मा कुछ भी परिवर्तन नही कर सकता। जैसे भंग के नशे की विरोधी वस्तु का सेवन किया जाय तो भंग का नशा नही चढता, या नाममात्र का ही चढ़ता है, उसी प्रकार प्रशस्त अध्यवसायों के द्वारा पूर्वबद्ध कर्म के विपाक को मन्द भी किया जा सकता है और नष्ट भी किया जा सकता है। उस अवस्था मे कर्म प्रदेशो से उदित होकर ही निर्जीर्ण हो जाते है। उसकी कालिक मर्यादा (स्थितिकाल) को कम करके शीघ्र उदय में भी लाया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में यो कह सकते है कि जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है तब वह कर्मो को पछाड़ देता है और कर्मों की बहुलता होती है तब जीव उससे दब जाता है। इसलिए कही पर जीव कर्म के अधीन है और कही कर्म जीव के अधीन है।

कर्म के दो प्रकार है—

(१) निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नही हो सकता।

(२) अनिकाचित—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है।

दूसरे शब्दो में (१) निरुपक्रम—इसका कोई प्रतिकार नही होता, इसका उदय अन्यथा नही हो सकता। (२) सोपक्रम—यह उपचार-साध्य होता है।

जीव निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा से कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की दृष्टि से दोनो बाते है— जब तक जीव उस कर्म को नष्ट करने का प्रयास नही करता तब तक वह उस कर्म के अधीन ही होता है और जब जीव प्रबल पुरुषार्थ के साथ मनोबल और शरीर-बल आदि सामग्री के सहयोग से सत् प्रयास करता है तब कर्म उसके अधीन होता है। जैसे—उदयकाल से पहले कर्म को उदय मे लाकर नष्ट कर देना, उसकी स्थिति और रस को मन्द कर देना। पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर उन्हें बहुत ही शीघ्र नष्ट करने के लिए तपस्या की जाती है।

पातञ्जल योगभाष्य में भी अदृष्टजन्य वेदनीय कर्म की तीन गतियाँ निरूपित की गई है। उनमे एक गति

---

९९. सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिणफला भवन्ति।। —दशाश्रुतस्कन्ध ६

१००. कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मिउ, परवसा होन्ति।
रुक्ख दुरुहइ सवसो, विगलसपरवसो पडइ तत्तो।। —विशेषावश्यक भाष्य १।३

यह है—कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।[101] इसे जैन-पारिभाषिक शब्दों में प्रदेशोदय कहा है।

उदीरणा

गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन् ! जीव उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है अथवा अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ? उत्तर मिला—जीव अनुदीर्ण पर उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है।

(१) उदीर्ण कर्म-पुद्गलो की पुनः उदीरणा की जाय तो उस उदीरणा की कही पर भी परिसमाप्ति नहीं हो सकती। अतः उदीर्ण की उदीरणा नहीं होती।

(२) जिन कर्म-पुदगलो की उदीरणा वर्तमान में नही पर सुदूर भविष्य में होने वाली है या जिसकी उदीरणा[102] नहीं होने वाली है, उन अनुदीर्ण—कर्म-पुद्गलों की भी उदीरणा नही हो सकती है।

(३) जो कर्म-पुद्गल उदय मे आ चुके है (उदयानन्तर पश्चात्-कृत) वे शक्तिहीन हो गये हैं, उनकी भी उदीरणा नही होती।

(४) जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य) हैं उन्हीं की उदीरणा होती है।

उदीरणा का कारण

कर्म जब स्वाभाविक रूप से उदय में आते है तब नवीन पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। अबाधा स्थिति पूर्ण होते ही कर्म-पुद्गल स्वतः उदय में आ जाते है। स्थिति-क्षय से पूर्व उदीरणा द्वारा उदय में लाये जा सकते है। एतदर्थ इसमें विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।[103]

इसमे भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ से कर्म में भी परिवर्तन हो सकता है, यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट है।

कर्म की उदीरणा 'करण' से होती है। करण का अर्थ 'योग' है। योग के तीन प्रकार है—मन, वचन और काय।

उत्थान, बल, वीर्य आदि इन्ही के प्रकार हैं। योग शुभ और अशुभ दोनो प्रकार का है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय रहित योग शुभ है और इनसे सहित योग अशुभ है। सत् प्रवृत्ति शुभ योग है और असत् प्रवृत्ति अशुभ योग है। सत् प्रवृत्ति और असत् प्रवृत्ति दोनो से उदीरणा होती है।[104]

---

१०१. कृतस्याऽविपक्वस्य नाशः अदत्तफलस्य कस्यचित् पापकर्मणः
प्रायश्चित्तादिना नाश इत्येका गतिरित्यर्थः। —पातंजलयोग २।१३ भाष्य

१०२. भगवती १।३।३५

१०३. भगवती १।३।३५

१०४. भगवती १।३।३५

वेदना

गौतम ने भगवान् से पूछा—भगवान् ! अन्ययूथिको का यह अभिमत है कि सभी जीव एवंभूत वेदना (जिस प्रकार कर्म बांधा है, उसी प्रकार) भोगते हैं—क्या यह कथन उचित है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! अन्ययूथिकों का प्रस्तुत एकान्त कथन मिथ्या है। मेरा यह अभिमत है कि कितने ही जीव एवंभूत-वेदना भोगते हैं और कितने ही जीव अन-एवंभूत-वेदना भी भोगते हैं।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—भगवन् ! यह कैसे ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! जो जीव किये हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं वे एवंभूत-वेदना भोगते हैं और जो जीव किये हुए कर्मों से अन्यथा वेदना भोगते है वे अन-एवंभूत-वेदना भोगते है।

निर्जरा

आत्मा और कार्मण वर्गणा के परमाणु, ये दोनो पृथक् है। जब तक पृथक रहते हैं तब तक आत्मा, आत्मा है और परमाणु-परमाणु है। जब दोनों का संयोग होता है तब परमाणु 'कर्म' कहलाते हैं।

कर्म-प्रायोग्य-परमाणु जब आत्मा से चिपकते है तब वे कर्म कहलाते है। उस पर अपना प्रभाव डालने के पश्चात् वे अकर्म हो जाते है। अकर्म होते ही वे आत्मा से अलग हो जाते हैं। इस अलगाव का नाम निर्जरा है।

कितने ही फल टहनी पर पककर टूटते हैं तो कितने ही फल प्रयत्न से पकाये जाते हैं। दोनों ही फल पकते हैं किन्तु दोनों के पकने की प्रक्रिया पृथक् पृथक् है। जो सहज रूप से पकता है उसके पकने का समय लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकाया जाता है उसके पकने का समय कम होता है। कर्म का परिपाक ठीक इसी-प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से जो कर्म-परिपाक होता है वह निर्जरा विपाकी-निर्जरा कहलाती है। इसके लिए किसी भी प्रकार का नवीन प्रयत्न नही करना पड़ता इसलिए यह निर्जरा न धर्म है और न अधर्म है।

निश्चित काल-मर्यादा से पूर्व शुभ-योग के द्वारा कर्म का परिपाक होकर निर्जरा होती है, वह अविपाकी निर्जरा कहलाती है। यह निर्जरा सहेतुक है। इसका हेतु शुभ-प्रयास है, अतः धर्म है।

आत्मा पहले या कर्म ?

आत्मा पहले है या कर्म पहले है ? दोनो मे पहले कौन है और पीछे कौन है ? यह एक प्रश्न है।

उत्तर है—आत्मा और कर्म दोनों अनादि है। कर्मसन्तति का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है। प्रतिपल-प्रतिक्षण जीव नूतन कर्म बाधता रहता है। ऐसा कोई भी क्षण नहीं, जिस समय सांसारिक जीव कर्म नही बांधता हो। इस दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध सादि भी कहा जा सकता है पर कर्म-सन्तति की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है।[१०५]

अनादि का अन्त कैसे ?

प्रश्न है—जब आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है तब उसका अन्त कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो अनादि होता है उसका नाश नहीं होता।

---

१०५. परमात्मप्रकाश १।५९।६०

उत्तर है—अनादि का अन्त नहीं होता, यह सामुदायिक नियम है, जो जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह नियम लागू नहीं भी होता। स्वर्ण और मिट्टी का सम्बन्ध अनादि है तथापि वे पृथक्-पृथक् होते हैं। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का अन्त होता है।[106] यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नहीं है। किसी एक कर्मविशेष का अनादि काल से आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। पूर्वबद्ध कर्मस्थिति पूर्ण होने पर कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। नवीन कर्म का बन्धन होता रहता है। इस प्रकार प्रवाह रूप से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि काल से है[107] न कि व्यक्तिशः। अतः अनादिकालीन कर्मों का अन्त होता है। संवर के द्वारा नये कर्मों का प्रवाह रुकता है और तप द्वारा संचित कर्म नष्ट होते है। तब आत्मा मुक्त बन जाता है।[108]

आत्मा बलवान या कर्म

आत्मा और कर्म इन दोनों में अधिक शक्ति-सम्पन्न कौन है? क्या आत्मा बलवान् है या कर्म बलवान् है?

समाधान है—आत्मा भी बलवान् है और कर्म भी बलवान् हैं। आत्मा में अनन्त शक्ति है तो कर्म में भी अनन्त शक्ति है। कभी जीव काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होने पर कर्मों को पछाड़ देता है और कभी कर्मों की बहुलता होने पर भी जीव उनसे दब जाता है।[109]

बहिर्दृष्टि से कर्म बलवान् प्रतीत होते हैं पर अन्तर्दृष्टि से आत्मा ही बलवान् है क्योंकि कर्म का कर्ता आत्मा है। वह मकड़ी की तरह स्वयं कर्मों का जाल फैला कर उनमें उलझता है। यदि वह चाहे तो कर्मों को काट भी सकता है। कर्म चाहे कितने भी शक्तिशाली हों पर आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न है।

लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर है और पानी मुलायम है किन्तु मुलायम पानी पत्थर के भी टुकड़े-टुकड़े कर देता है। कठोर चट्टानों में भी छेद कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है। वीर हनुमान को जब तक स्व-स्वरूप का परिज्ञान नहीं हुआ तब तक वह नाग-पाश में बंधा रहा, रावण की ठोकरें खाता रहा, अपमान के जहरीले घूंट पीता रहा, किन्तु ज्यों ही उसे स्वरूप का ज्ञान हुआ, त्यों ही नाग-पाश को तोड़कर मुक्त हो गया। आत्मा को भी जब तक अपनी विराट् शक्ति का ज्ञान नहीं होता तब तक वह भी कर्मों को अपने से अधिक शक्तिमान् समझकर उनसे दबा रहता है, ज्ञान होने पर उनसे मुक्त हो जाता है।

ईश्वर और कर्मवाद

जैनदर्शन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जीव स्वय जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है।[110] न्यायदर्शन[111] की तरह वह कर्मफल का नियन्ता ईश्वर को नहीं मानता। कर्मफल का नियमन करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम समुत्पन्न

---

१०६. द्वयोरप्यनादिसम्बन्धः कनकोपल-सन्निभः।

१०७. (क) पंचाध्यायी २।४५, पं. राजमल, (ख) लोकप्रकाश ४२४, (ग) स्थानाङ्ग १।४।७ टीका

१०८. उत्तराध्ययन २५।४५

१०९. गणधरवाद २-२५

११०. उत्तराध्ययन सूत्र २०।३७

१११. (क) न्यायदर्शन सूत्र ४।१ (ख) गौतमसूत्र अ. ४। आ. १, सू. २१

होता है।[११२] जिससे वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ होकर आत्मा के संस्कारो को मलिन करता है। उससे उनका फलोपभोग होता है। अमृत और विष, पथ्य और अपथ्य भोजन मे कुछ भी ज्ञान नही होता तथापि आत्मा का संयोग पाकर वे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल विपाक उत्पन्न करते है। वह विना किसी प्रेरणा अथवा विना ज्ञान के अपना कार्य करते ही हैं। अपना प्रभाव डालते ही है।[११३]

कालोदायी अनगार ने भगवान् श्री महावीर से प्रश्न किया—भगवन् ! क्या जीवों के किये गये पाप कर्मों का परिपाक पापकारी होता है।

भगवान् ने उत्तर दिया—कालोदायी ! हाँ, होता है।

कालोदायी ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की—भगवन् ! किस प्रकार होता है ?

भगवान् ने रूपक की भाषा में समाधान करते हुए कहा—कालोदायी ! जिस प्रकार कोई पुरुष मनोज्ञ, सम्यक् प्रकार से पका हुआ शुद्ध अष्टादश व्यंजनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है। वह भोजन आपातभद्र—खाते समय अच्छा होता है—किन्तु ज्यों-ज्यो उसका परिणमन होता है त्यो-त्यों विकृति उत्पन्न होती है। वह परिणामभद्र नही होता। इसी प्रकार प्राणातिपात आदि अठारह प्रकार के पापकर्म आपातभद्र और परिणाम-अभद्र होते है। कालोदायी, इसी प्रकार पापकर्म पाप-विपाक वाले होते है।

कालोदायी ने निवेदन किया—भगवन् ! क्या जीवो के किये हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?

भगवान् ने कहा—हाँ होता है।

कालोदायी ने पुनः प्रश्न किया—भगवन् ! कैसे होता है ?

भगवान् ने कहा—कालोदायी ! प्रणातिपातविरति यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से विरति आपातभद्र प्रतीत नहीं होती, पर परिणामभद्र होती है। इसी प्रकार हे कालोदायी ! कल्याणकर्म भी कल्याणविपाक वाले होते हैं।

जैसे गणित करने वाली मशीन जड़ होने पर भी अंक गिनने मे भूल नही करती वैसे ही कर्म भी जड होने पर भी फल देने में भूल नही करता। उसके लिए ईश्वर को नियंता मानने की आवश्यकता नही है। आखिर ईश्वर वही फल प्रदान करेगा जैसे जीव के कर्म होंगे, कर्म के विपरीत वह कुछ भी देने में समर्थ नही होगा। इस प्रकार एक ओर ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानना और दूसरी ओर उसे अणुमात्र भी परिवर्तन का अधिकार न देना वस्तुतः ईश्वर का उपहास है। इससे यह भी सिद्ध है कि कर्म की शक्ति ईश्वर से भी अधिक है और ईश्वर भी उसके अधीन ही कार्य करता है। दूसरी दृष्टि से कर्म में भी कुछ करने-धरने की शक्ति नही माननी होगी, क्योंकि वह ईश्वर के सहारे ही अपना फल दे सकता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के अधीन हो जाएगे। इससे तो यही तर्क-सगत है कि कर्म को ही अपना फल देने वाला स्वीकार किया जाय। इससे ईश्वर का ईश्वरत्व भी अक्षुण्ण रहेगा और कर्मवाद के सिद्धात में भी किसी प्रकार की बाधा समुपस्थित नही होगी। जैन संस्कृति की चिन्तनधारा प्रस्तुत कथन का ही समर्थन करती है।

---

११२. भगवती ७।१०

११३. भगवती ७।१०

कर्म का संविभाग नहीं

वैदिकदर्शन का यह मन्तव्य है कि आत्मा सर्वशक्तिमान ईश्वर के हाथ की कठपुतली है। उसमें स्वयं कुछ भी कार्य करने की क्षमता नही है। स्वर्ग और नरक में भेजने वाला, सुख और दुःख को देने वाला ईश्वर है। ईश्वर की प्रेरणा से ही जीव स्वर्ग और नरक में जाता है।[११४]

जैन-दर्शन के कर्म सिद्धांत ने प्रस्तुत कथन का खण्डन करते हुए कहा है— ईश्वर किसी का उत्थान और पतन करने वाला नही है। वह तो वीतराग है। आत्मा ही अपना उत्थान और पतन करता है। जब आत्मा स्वभाव-दशा में रमण करता है तब उत्थान करता है और जब विभावदशा में रमण करता है तब उसका पतन होता है। विभावदशा में रमण करने वाला आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशालमली वृक्ष है और स्वभाव-दशा में रमण करने वाला आत्मा कामधेनु और नन्दनवन है।[११५] यह आत्मा सुख और दुःख का कर्ता भोक्ता स्वयं ही है। शुभ मार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है और अशुभ मार्ग पर चलने वाला आत्मा स्वय ही अपना शत्रु है।[११६]

जैनदर्शन का यह स्पष्ट उद्घोष है कि जो भी सुख और दु.ख प्राप्त हो रहा है । उसका निर्माता आत्मा स्वय ही है। जैसा आत्मा कर्म करेगा वैसा ही उसे फल भोगना पड़ेगा।[११७] वैदिक-दर्शन और बौद्धदर्शन की तरह वह कर्मफल के सविभाग में विश्वास नहीं करता। विश्वास ही नही अपितु उस विचारधारा का खण्डन भी करता है।[११८] एक व्यक्ति का कर्म दूसरे व्यक्ति मे विभक्त नही किया जा सकता। यदि विभाग को स्वीकार किया जायेगा तो पुरुषार्थ और साधना का मूल्य ही क्या है? पाप-पुण्य करेगा कोई और भोगेगा कोई और। अत. यह सिद्धात युक्ति-युक्त नही है।[११९]

कर्म का कार्य

कर्म का मुख्य कार्य है— आत्मा को संसार मे आबद्ध रखना। जब तक कर्म-बध की परम्परा का प्रवाह प्रवहमान रहता है तब तक आत्मा मुक्त नही बन सकता। यह कर्म का सामान्य कार्य है। विशेष रूप से देखा जाय तो भिन्न-भिन्न कर्मों के भिन्न-भिन्न कार्य है। जितने कर्म है उतने ही कार्य है।

आठ कर्म

जैन कर्मशास्त्र की दृष्टि मे कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ है, जो प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती है। उनके नाम ये है—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।[१२०]

---

११४. महाभारत वनपर्व अ ३, श्लोक २८

११५. उत्तराध्ययन २०।३६

११६. उत्तराध्ययन २०।३७

११७. उत्तराध्ययन ४।४

११८. आत्ममीमांसा, पं. दलसुख मालवणिया पृ १३१

११९. द्वात्रिंशिका, आचार्य अमितगति ३०-३१

१२०. (क) उत्तराध्ययन ३३।२-३ (ख) स्थानाङ्ग ८।३।५७६ (ग) प्रज्ञापना २३।१ (घ) भगवती ५।९, पृ. ४५३

इन आठ कर्म-प्रकृतियों के भी दो अवान्तर भेद हैं। इनमें चार घाती हैं और चार अघाती हैं (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय ये चार घाती हैं।[१२१] (१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम, (४) गोत्र—ये अघाती हैं।[१२२]

जो कर्म आत्मा से बंधकर उसके स्वरूप का या उसके स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं वे घाती कर्म है। इनकी अनुभाग-शक्ति का सीधा असर आत्मा के ज्ञान आदि गुणों पर होता है। इनसे गुणविकास अवरुद्ध होता है। जैसे बादल सूर्य के चमचमाते प्रकाश को आच्छादित कर देता है। उसकी रश्मियों को बाहर नही आने देता वैसे ही घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण (१) अनन्तज्ञान, (२) अनन्तदर्शन, (३) अनन्तसुख और (४) अनन्तवीर्य गुणो को प्रकट नहीं होने देता। ज्ञानदर्शनावरणीय कर्म आत्मा में अनन्त ज्ञान-दर्शन शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकते हैं। मोहनीयकर्म आत्मा के सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् चरित्र गुण का अवरोध करता है जिससे आत्मा को अनन्त सुख प्राप्त नही होता। अन्तरायकर्म आत्मा की अनन्तवीर्यशक्ति आदि का प्रतिघात करता है जिससे आत्मा अपनी अनन्त विराट् शक्ति का विकास नही कर पाता। इस प्रकार घाती-कर्म आत्मा के विभिन्न गुणों का घात करते है।

जो कर्म आत्मा के निजगुण का घात नही कर केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करता है वह अघाती कर्म है। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्‌गलिक द्रव्यों से होता है। इनकी अनुभाग शक्ति जीव के गुणों पर सीधा असर नही करती। अघाती कर्मों के उदय से आत्मा का पौद्‌गलिक द्रव्यों से सम्बन्ध जुड़ता है, जिससे आत्मा "अमूर्तोऽपि मूर्त इव" रहती है। उसे शरीर के कारागृह में बद्ध रहना पड़ता है। जो जीव के गुण (१) अव्याबाध सुख, (२) अटल अवगाह व (३) अमूर्तिकत्व और (४) अगुरुलघुभाव को प्रकट नही होने देता। वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छादित करता है। आयुष्यकर्म आत्मा की अटल अवगाहना, शाश्वत स्थिरता को नही होने देता। नामकर्म आत्मा की अरूपी अवस्था को आवृत किये रहता है। गोत्र कर्म आत्मा के अगुरुलघुभाव को रोकता है। इस प्रकार अघाती कर्म अपना प्रभाव दिखाते है। जब घातीकर्म नष्ट हो जाते है तब आत्मा केवलज्ञान केवलदर्शन का धारक अरिहन्त बन जाता है और जब अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं तब विदेह सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

आठो कर्मों की अवान्तर अनेक उत्तर प्रकृतियाँ है। विस्तार भय से हम उन सभी का यहाँ पर निरूपण नही कर रहे है।

कर्मफल की तीव्रता-मन्दता

कर्मफल की तीव्रता और मन्दता का मूल आधार तन्निमित्तक कषायो की तीव्रता और मन्दता है। कषायों की तीव्रता जिस प्राणी में जितनी अधिक होगी उतना ही अशुभ कर्म प्रबल होगा और कषायों की मन्दता जिस प्राणी में जितनी अधिक होगी उसके शुभ कर्म उतने ही प्रबल होंगे।

कर्मों के प्रदेशः विभाजन

प्राणी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओ द्वारा जिन कर्मप्रदेशो का संग्रह करता है वे प्रदेश नाना रूपों में विभक्त होकर आत्मा के साथ बद्ध हो जाते है। आठ कर्मों में आयुकर्म को सबसे कम हिस्सा प्राप्त होता है।

---

१२१. (क) पंचाध्यायी २।९९८ (ख) गोमटसार-कर्मकाण्ड ९

१२२. पंचाध्यायी २।९९९

नाम और गोत्र दोनों का हिस्सा बराबर होता है। उसमे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों को प्राप्त होता है। इन तीनों का हिस्सा समान रहता है। उससे अधिक भाग मोहनीयकर्म को मिलता है। सबसे अधिक भाग वेदनीयकर्म को मिलता है। इन प्रदेशों का पुनः उत्तर-प्रकृतियों में विभाजन होता है। प्रत्येक प्रकार के बंधे हुए कर्म के प्रदेशों की न्यूनता व अधिकता का यही मूल आधार है।

कर्मबन्ध

लोक मे ऐसा कोई स्थान नही, जहाँ कर्मवर्गणा के पुद्गल न हो। प्राणी मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति करता है और कषाय के उत्ताप से उत्तप्त होता है अतः वह कर्मयोग्य-पुद्गलो को सर्व दिशाओं से ग्रहण करता है। आगमों में स्पष्ट निर्देश है कि एकेन्द्रिय जीव व्याघात न होने पर छहों दिशाओं से कर्म ग्रहण करते हैं, व्याघात होने पर कभी तीन, चार और कभी पांच दिशाओं से ग्रहण करते है किन्तु शेष जीव नियम से सर्व-दिशाओ से ग्रहण करते हैं।[१२३] किन्तु क्षेत्र के सम्बन्ध में यह मर्यादा है कि जिस क्षेत्र में वह स्थित है उसी क्षेत्र में स्थित कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है, अन्यत्र स्थित पुद्गलों को नही[१२४]। यह भी विस्मरण नही होना चाहिए कि जितनी योगों की चचलता में तरतमता होगी उस के अनुसार न्यूनाधिक रूप मे जीव कर्मपुद्गलो को ग्रहण करेगा। योगों की प्रवृत्ति मन्द होगी तो परमाणुओं की संख्या भी कम होगी। आगमिक भाषा में इसे ही प्रदेश-बंध कहते है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो आत्मा के असंख्यात प्रदेश है। उन प्रदेशों मे एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशो का बन्ध होना प्रदेश-बन्ध है। अर्थात् जीव के प्रदेशो और कर्म-पुद्गलों के प्रदेशो का परस्पर बद्ध हो जाना प्रदेश-बन्ध है।[१२५]

गणधर गौतम ने महावीर से पूछा—भगवन्! क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य—एक दूसरे से बद्ध, एक दूसरे से स्पृष्ट, एक-दूसरे मे अवगाढ, एक दूसरे मे स्नेह-प्रतिबद्ध हैं और एक दूसरे में एकमेक होकर रहते है?

उत्तर मे महावीर ने कहा—हे गौतम! हाँ रहते है।

हे भगवन्! ऐसा किस हेतु से कहते है?

हे गौतम! जैसे एक ह्रद हो, जल से पूर्ण, जल से किनारे तक भरा हुआ, जल से लबालब, जल से उपर उठा हुआ और भरे हुए घडे की तरह स्थित। अब यदि कोई पुरुष उस ह्रद में एक बड़ी, सौ छेदों वाली नाव छोड़े तो हे गौतम! वह नाव उन आस्रव-द्वारो—छिद्रों द्वारा भरती-भरती जल से पूर्ण, उपर तक भरी हुई, बढ़ते जल से ढंकी हुई होकर, भरे घडे की तरह होगी या नही?

हाँ भगवन्! होगी।

हे गौतम! इसी हेतु से मै कहता हूँ कि जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ और प्रतिबद्ध है और परस्पर एकमेक होकर रहते है।[१२६]

यही आत्म-प्रदेशो और कर्म-पुद्गलो का सम्बन्ध प्रदेशबंध है।

---

१२३. (क) उत्तराध्ययन ३२।१८, (ख) भगवती १७।४

१२४. विशेषावश्यक भाष्य गा. १९४१, पृ. ११७

१२५. (क) भगवती १।४।४० वृत्ति, (ख) नवतत्त्व प्रकरण गा. ७१ की वृत्ति
(ग) सप्ततत्वप्रकरण अ. ४, देवानन्दसूरिकृत

१२६. भगवती १।६

प्रकृतिबन्ध

योगो की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किये गये कर्म-परमाणु ज्ञान को आवृत करना, दर्शन को आच्छन्न करना, सुख, दुख का अनुभव करना आदि विभिन्न प्रकृतियो (स्वभावों) के रूप मे परिणत होते हैं। आत्मा के साथ बद्ध होने से पूर्व कार्मणवर्गणा के पुद्गल एक रूप थे, बद्ध होने के साथ ही उनमे नाना प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं। इसे आगम की भाषा मे प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ये दोनों योगों की प्रवृत्ति से होते है।[127] केवल योगो की प्रवृत्ति से जो बंध होता है वह सूखी दीवार पर हवा के झोंके के साथ आने वाली रेती के समान है। ग्यारहवें, बारहवे और तेरहवें गुणस्थान मे कषायाभाव के कारण कर्म का बधन इसी प्रकार का होता है। कषायरहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मबन्ध निर्बल, अस्थायी और नाममात्र का होता है, इससे संसार नही बढ़ता।

योगों के साथ कषाय की जो प्रवृत्ति होती है उससे अमुक समय तक आत्मा से पृथक् न होने की कालिक मर्यादा पुद्गलों मे निर्मित होती है। यह कालमर्यादा ही आगम की भाषा मे स्थितिबध है। दूसरे शब्दो में कहा जाय तो आत्मा के द्वारा ग्रहण की गई ज्ञानावरण आदि कर्म-पुद्गलो की राशि कितने काल तक आत्म-प्रदेशो में रहेगी, उसकी मर्यादा स्थितिबंध है।[128]

अनुभागबन्ध

जीव के द्वारा ग्रहण की हुई शुभाशुभ कर्मो की प्रकृतियों का तीव्र, मन्द आदि विपाक अनुभागबध है। उदय में आने पर कर्म का अनुभव तीव्र या मन्द कैसा होगा, यह प्रकृति आदि की तरह कर्मबध के समय ही नियत हो जाता है। इसे अनुभागबध कहते है।[129]

उदय मे आने पर कर्म अपनी मूलप्रकृति के अनुसार ही फल प्रदान करते है। ज्ञानावरणीयकर्म अपने अनुभाव-फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है। दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को आवृत करता है। इसी प्रकार अन्य कर्म भी अपनी प्रकृति के अनुसार तीव्र या मन्द फल प्रदान करते है। उनकी मूलप्रकृति मे उलट-फेर नही होता।

पर उत्तर-प्रकृतियों के सम्बन्ध मे यह नियम पूर्णत: लागू नही होता। एक कर्म की उत्तर-प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर-प्रकृति के रूप मे परिवर्तित हो सकती है। जैसे मतिज्ञानावरणकर्म, श्रुतज्ञानावरणकर्म के रूप मे परिणत हो जाता है। फिर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरण के रूप मे ही होता है। किन्तु उत्तर-प्रकृतियो मे भी कितनी ही प्रकृतियाँ ऐसी है जो सजातीय होने पर भी परस्पर सक्रमण नही करती, जैसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। आयुकर्म की उत्तर-प्रकृतियो में भी सक्रमण नही होता। जैसे—नारक आयुष्य तिर्यच आयुष्य के रूप में या अन्य आयुष्य के रूप में नही बदल सकता। इसी प्रकार अन्य आयुष्य भी।[130]

प्रकृति-सक्रमण की तरह बधकालीन रस मे भी परिवर्तन हो सकता है। मन्दरस वाला कर्म बाद मे तीव्ररस वाले कर्म के रूप मे बदल सकता है और तीव्ररस, मन्दरस के रूप मे हो सकता है। अत. जीव एवभूत तथा

---

१२७. (क) पंचम कर्मग्रन्थ गाथा ९६, (ख) स्थानाङ्ग २।४।९६ की टीका

१२८. स्थिति: कालावधारणम्

१२९. (क) भगवती १।४।४० वृत्ति, (ख) तत्त्वार्थसूत्र ८।२२

१३०. (क) तत्त्वार्थसूत्र ८।२२, भाष्य, (ख) विशेषावश्यक भाष्य गा. १९३८

अन-एवंभूत वेदना वेदते है।[131]

इस विषय में स्थानाङ्ग की चतुर्भंगी का उल्लेख पहले किया जा चुका है।[132]

जिज्ञासा हो सकती है कि इसका मूल कारण क्या है ? जैन कर्मसाहित्य समाधान करता है कि कर्म की विभिन्न अवस्थाएं हैं। मुख्य रूप से उन्हे ग्यारह भेदों में विभक्त कर सकते है।[133] (१) बन्ध, (२) सत्ता, (३) उद्वर्तन-उत्कर्ष, (४) अपवर्तन-अपकर्म, (५) सक्रमण, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) उपशमन, (९) निधत्ति, (१०) निकाचित और (११) अबाधाकाल।

(१) **बंध** –आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओ का सम्बन्ध होना, क्षीर-नीरवत् एकमेक हो जाना बंध है।[134] बध के चार प्रकारो का वर्णन हम कर चुके है।

(२) **सत्ता**—आबद्ध-कर्म अपना फल प्रदान कर जब तक आत्मा से पृथक् नही हो जाते तब तक वे आत्मा मे ही सम्बद्ध रहते है। इसे जैन दार्शनिको ने सत्ता कहा है।

(३) **उद्वर्तन-उत्कर्ष**—आत्मा के साथ आबद्ध कर्म का स्थिति और अनुभागबंध तत्कालीन परिणामों में प्रवहमान कषाय की तीव्र एव मन्द धारा के अनुरूप होता है। उसके पश्चात् की स्थिति-विशेष अथवा भाव-विशेष के कारण उस स्थिति एवं रस में वृद्धि होना उद्वर्तन-उत्कर्ष है।

(४) **अपवर्तन-अपकर्ष**—पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति एव अनुभाग को कालान्तर में न्यून कर देना अपवर्तन-अपकर्ष है। इस प्रकार उद्वर्तन-उत्कर्ष से विपरीत अपवर्तन-अपकर्ष है।

साराश यह है कि ससार को घटाने-बढाने का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायों पर विशेष आधृत है।

(५) **संक्रमण**—एक प्रकार के कर्म परमाणुओ की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि के रूप मे परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया को सक्रमण कहते है। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए कुछ निश्चित मर्यादाए है जिनका उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है। सक्रमण के चार प्रकार है—(१) प्रकृति-सक्रमण, (२) स्थिति-सक्रमण, (३) अनुभाव-संक्रमण, (४) प्रदेश-सक्रमण।[135]

(६) **उदय**—कर्म का फलदान उदय है। यदि कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो तो वह फलोदय है और फल दिये बिना ही उदय मे आकर नष्ट हो जाय तो प्रदेशोदय है।

(७) **उदीरणा** नियत समय से पूर्व कर्म का उदय मे आना उदीरणा है। जैसे समय के पूर्व ही प्रयत्न से आम आदि फल पकाये जाते है वैसे ही साधना से आबद्ध कर्म का नियत समय से पूर्व भोग कर क्षय किया जा सकता है। सामान्यत यह नियम है कि जिस कर्म का उदय होता है उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है।

(८) **उपशमन**—कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय मे आने के लिए उन्हें अक्षम बना देना उपशम है। अर्थात् कर्म की वह अवस्था जिसमें उदय अथवा उदीरणा सभव नही, किन्तु उदवर्तन, अपवर्तन और संक्रमण

---

१३१. भगवती ५।५

१३२. (क) स्थानाङ्ग ४।४।३१२, (ख) तुलना कीजिए—अगुत्तरनिकाय ४।२३२-२३३

१३३. (क) द्रव्यसग्रह टीका गा. ३३

१३४. (क) तत्त्वार्थसूत्र १।४ सर्वार्थसिद्धि (ख) उत्तराध्ययन २८।२४ नेमिचन्द्रीय टीका

१३५. स्थानाङ्ग ४।२१६

की संभावना हो, वह उपशमन है। जैसे अंगारे को राख से इस प्रकार आच्छादित कर देना जिससे वह अपना कार्य न कर सके। किन्तु जैसे आवरण के हटते ही अंगारे जलाने लगते है वैसे ही उपशम भाव के दूर होते ही उपशान्त कर्म उदय में आकर अपना फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।

(९) **निधत्ति**—जिसमें कर्मों का उदय और संक्रमण न हो सके किन्तु उद्वर्तन-अपवर्तन की संभावना हो, वह निधत्ति[१३६] है। यह भी चार प्रकार का है।[१३७] (१) प्रकृति-निधत्त, (२) स्थिति-निधत्त, (३) अनुभाव-निधत्त, (४) प्रदेश-निधत्त।

(१०) **निकाचित**— जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण एवं उदीरणा इन चारों अवस्थाओं का अभाव हो, वह निकाचित है। अर्थात् आत्मा ने जिस रूप में कर्म बाधा है उसी रूप में भोगे बिना उसकी निर्जरा नहीं होती। वह भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप मे चार प्रकार का है।[१३८]

(११) **अबाधाकाल**— कर्म बंधने के पश्चात् अमुक समय तक फल न देने की अवस्था का नाम अबाध-अवस्था है। अबाधाकाल को जानने का प्रकार यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की है उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधाकाल होता है। जैसे ज्ञानावरणीय की स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है तो अबाधाकाल तीस सौ (तीन हजार) वर्ष का है।[१३९] भगवती में मूल अष्ट कर्मप्रकृतियो का अबाधाकाल बताया है और प्रज्ञापना[१४०] में उनकी उत्तर-प्रकृतियों का भी अबाधाकाल उल्लिखित है, विशेष जिज्ञासुओं को मूलग्रन्थ देखने चाहिए।

जैन कर्मसाहित्य में कर्मों की इन अवस्थाओं एवं प्रक्रिया का जैसा विश्लेषण है, वैसा अन्य दार्शनिकों के साहित्य में दृग्गोचर नहीं होता। हाँ, योगदर्शन मे नियत-विपाकी अनियतविपाकी, और आवायगमन के रूप मे कर्म की त्रिविध दशा का उल्लेख किया है। नियतविपाकी कर्म का अर्थ है— जो नियत समय पर अपना फल देकर ही नष्ट होता है। अनियतविपाकी कर्म का अर्थ है जो कर्म विना फल दिये ही आत्मा से पृथक् हो जाते है और आवायगमन का अर्थ है एक कर्म का दूसरे में मिल जाना। योगदर्शन की इन त्रिविध अवस्थाओं की तुलना क्रमश निकाचित, प्रदेशोदय और सक्रमण के साथ की जाती है।

कर्म और पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का अर्थ है—वर्तमान जीवन के पश्चात् का परलोक जीवन। परलोक जीवन किस जीव का कैसा होता है इसका मुख्य आधार उसका पूर्वकृत कर्म है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं।[१४१] पुनर्जन्म कर्मसगी जीवों के होता है।[१४२] अतीत कर्मों का फल हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान कर्मों का फल हमारा भावी जीवन है। कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य सम्बन्ध है।

आयुष्य-कर्म के पुद्गल-परमाणु जीव मे देव, नारक आदि अवस्थाओ मे गति की शक्ति उत्पन्न करते

---

१३६. कर्मप्रकृति गा. २
१३७. स्थानाङ्ग ४।२९६
१३८. स्थानाङ्ग २।२९६
१३९. भगवती २।३
१४०. प्रज्ञापना २३।२।२१-२९
१४१. आचाराग १२।६
१४२. भगवती २।५

हैं।[143] इसी से जीव नए जन्म-स्थान में (अमुक आयु मे) उत्पन्न होता है।

भगवान् महावीर ने कहा--क्रोध, मान, माया और लोभ--ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण करने वाले है।[144] गीता में कहा गया है--जैसे फटे हुए कपड़े को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहनता है वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मृत्यु के पश्चात् नये शरीर को धारण करता है।[145] यह आवर्तन प्रवृत्ति से होता है।[146] तथागत बुद्ध ने अपने पैर में चुभने वाले तीक्ष्ण काँटे को पूर्वजन्म में किये हुए प्राणी-वध का विपाक कहा है।[147]

नवजात शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते है। उसका मूल कारण पूर्वजन्म की स्मृति है।[148] जन्म लेते ही बच्चा मां का स्तन-पान करने लगता है, यह पूर्वजन्म में किये हुए आहार के अभ्यास से ही होता है।[149] जैसे एक युवक का शरीर बालक-शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है।[150] नवोत्पन्न शिशु में जो सुख-दु:ख का अनुभव होता है वह भी पूर्व अनुभवयुक्त होता है। जीवन के प्रति मोह और मृत्यु के प्रति भय है, वह भी पूर्वबद्ध संस्कारों का परिणाम है। यदि पहले के जन्म मे उसका अनुभव नही होता तो सद्योजात प्राणी में ऐसी वृत्तियाँ प्राप्त नही हो सकती थी। इस प्रकार अनेक युक्तियाँ देकर भारतीय चिन्तकों ने पुनर्जन्म सिद्ध किया है।

कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके फल रूप परलोक या पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है। जिन कर्मों का फल वर्तमान भव मे प्राप्त नही होता उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना आवश्यक है। पुनर्जन्म और पूर्वभव न माना जायेगा तो कृतकर्म का निर्हेतुक विनाश और अकृत कर्म का भोग मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कर्म-व्यवस्था दूषित हो जायेगी। इन दोषो के परिहार हेतु ही कर्मवादियो ने पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार की है।

भारत के सभी दार्शनिको ने ही नही अपितु पाश्चात्य विचारकों ने भी पुनर्जन्म के सम्बन्ध मे विचार अभिव्यक्त किये है। उनका संक्षिप्त साराश इस प्रकार है--

यूनान के महान् तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने दर्शन की व्याख्या की है और उसका केन्द्र बिन्दु पुनर्जन्म को माना है।

प्लेटो के जाने माने हुए शिष्य अरस्तू पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने के लिए इतने आग्रहशील थे कि उन्होंने अपने समकालीन दार्शनिकों का आह्वान करते हुए कहा कि--हमें इस मत का कदापि आदर नही करना चाहिए कि हम मानव है, तथा अपने विचार मृत्युलोक तक ही सीमित न रखे, अपितु अपने दैवी अंश को जागृत कर अमरत्व को प्राप्त करे।

---

१४३. स्थानाङ्ग ९।४०
१४४. दशवैकालिक ८।३९
१४५. श्रीमद् भगवद् गीता २।२२
१४६. श्रीमद् भगवद् गीता २।२६
१४७. इत एकनवतिकल्पे शक्त्या मे पुरुषो हत:।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव:॥
१४८. न्यायसूत्र ३।१।१२
१४९. न्यायसूत्र ३।१।१२
१५०. विशेषावश्यक भाष्य

लूथर के अभिमतानुसार भावी जीवन के निषेध करने का अर्थ है—स्वयं के ईश्वरत्व का तथा उच्चतर नैतिक जीवन का निषेध और स्वैराचार का स्वीकार।

फ्रांसीसी धर्म-प्रचारक मोसिना तथा ईसाई संत पाल के अनुसार—देह के साथ ही आत्मा का नाश मानने का अर्थ होता है कि विवेकपूर्ण जीवन का अन्त और विकारमय जीवन के लिए द्वार मुक्त करना।

फ्रेंच विचारक रेनन का अभिमत है कि भावी जीवन में विश्वास न करना नैतिक और आध्यात्मिक पतन का कारण है।

मैकटेगार्ट की दृष्टि से आत्मा में अमरत्व की साधक युक्तियों से हमारे भावी जीवन के साथ ही पूर्वजन्म की सिद्धि होती है।

सर हेनरी जोन्स लिखते हैं कि अमरत्व के निषेध का अर्थ होता है पूर्ण नास्तिकता।

श्री प्रिंगल पैटिसन ने अपने अमरत्व-विचार नामक ग्रन्थ में लिखा है—"यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि मृत्यु विषयक चिन्तन ने ही मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाया है।"

इन स्वल्प अवतरणों से भी यह स्पष्ट है कि विश्व के सभी मूर्धन्य मनीषियों ने आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

विपाकसूत्र के प्रत्येक अध्ययन में पुनर्जन्म की चर्चा है। जो व्यक्ति दुःख से कराह रहा है और जो सुख के सागर पर तैर रहा है, उन सभी के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा व्यक्त की गई है कि यह इस प्रकार कैसे है? भगवान् उस का पूर्व भव सुनाकर जिज्ञासु को ऐसा समाधान देते हैं कि वह उसका रहस्य स्वयं समझ जाता है। अन्याय, अत्याचार, वेश्यागमन, प्रजापीडन, रिश्वत, हिंसा, नरमेध यज्ञ, मांस-भक्षण आदि ऐसे दुष्कृत्य हैं जिनके कारण विविध प्रकार की यातनाएं भोगने का उल्लेख है। सुखविपाक में सुपात्र-दान का प्रतिफल सुख बताया गया है।

व्याख्या साहित्य

विपाकसूत्र का विषय अत्यधिक सरल और सुगम होने से इस पर न निर्युक्ति का निर्माण किया गया, न भाष्य लिखा गया और न चूर्णियाँ ही रची गई। सर्वप्रथम आचार्य अभयदेव ने इस पर संस्कृत भाषा में टीका का निर्माण किया। प्रारम्भ में आचार्य ने भगवान् महावीर को नमस्कार कर विपाकसूत्र पर वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की और विपाकश्रुत का शब्दार्थ प्रस्तुत किया। वृत्तिकार ने अनेक पारिभाषिक शब्दों के संक्षिप्त और सारपूर्ण अर्थ भी दिये हैं। उदाहरण के रूप में 'रट्ठकूडे' का अर्थ 'रट्ठकूड, रटउड, राष्ट्रकूट— 'रट्ठउडेत्ति राष्ट्रकूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिक'—किया है। वृत्ति के अन्त में विज्ञों को यह नम्र निवेदन किया है कि वे वृत्ति को परिष्कृत करने का अनुग्रह करें। प्रस्तुत वृत्ति का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् १८७६ में राय धनपतसिंहजी ने कलकत्ता से किया। उसके पश्चात् सन् १९२० में आगमोदय समिति बम्बई से और मुक्ति कमल जैन मोहनमाला बड़ौदा से और सन १९३५ में गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय गांधीरोड अहमदाबाद से अंग्रेजी अनुवाद व टिप्पण के साथ प्रकाशित हुआ है।

पी. एल वैद्य ने सन् १९३३ में प्रस्तावना के साथ प्रस्तुत आगम प्रकाशित किया। जैनधर्म प्रचारक सभा भावनगर से वि. सं. १९८७ में गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ। जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय कोटा से सन १९३५ में और वी. सं. २४४६ में हैदराबाद से क्रमशः मुनि आनन्दसागरजी व पूज्य अमोलकऋषिजी ने हिन्दी अनुवाद सहित इस आगम का प्रकाशन करवाया। जैनशास्त्रमाला कार्यालय लुधियाना से वि. सं. २०१० में हिन्दी में आचार्य आत्मारामजी म० कृत विस्तृत टीका युक्त संस्करण प्रकाशित हुआ है। टीका में अनेक रहस्य उद्घाटित

किये गये है। जैनशास्त्रोद्धार समिति राजकोट ने सन् १९५९ में पूज्य घासीलालजी म. कृत संस्कृत व्याख्या व हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। इनकी संस्कृत टीका पर आचार्य अभयदेव की वृत्ति का स्पष्ट प्रभाव है। जैनसाहित्य-प्रकाशन-समिति अहमदाबाद से सन् १९४० मे गोपालदास जीवाभाई पटेल ने गुजराती छायानुवाद प्रकाशित किया है। इस तरह समय-समय पर विभिन्न स्थानो से प्रस्तुत आगम के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए है।

प्रस्तुत संस्करण

आगमो के अभिनव सस्करण की माग प्रतिपल प्रतिक्षण बढती हुई देख कर श्रमणसंघ के युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी ने आगम-बत्तीसी के प्रकाशन के सम्बन्ध में चिन्तन किया और विविध विज्ञो के सहयोग से कार्य प्रारम्भ हुआ। मुझे लिखते हुए परम आह्लाद है कि स्वल्पावधि मे आगमों के श्रेष्ठतम संस्करण प्रकाशित हुए है। इन सस्करणों की सामान्य पाठको से लेकर मूर्धन्य मनीषियों तक ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की। युवाचार्यश्री की प्रबल प्रेरणा से यह कार्य अत्यन्त द्रुतगति से प्रगति पर है। दनादन आगम प्रकाशित हो रहे है।

आगममाला की लडी की कडी मे विपाकसूत्र प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत आगम के कुशल सम्पादक है—पंडित श्रीरोशनलालजी, जो जैनदर्शन के अच्छे अभ्यासी है। वर्षों से श्रमण और श्रमणियों को आगम और दर्शन का अभ्यास करा रहे है। प्रस्तुत आगम में उन्होंने विस्तार मे न जाकर बहुत ही संक्षेप मे विवेचन प्रस्तुत किया। यह विवेचन सक्षेप मे होने पर भी सारपूर्ण है। प. प्रवर कलम कलाधर शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की प्रतिभा का चमत्कार भी यत्र-तत्र निहारा जा सकता है।

मुझे दृढ आत्मविश्वास है कि यह आगम जन-जन को प्रेरणादायी सिद्ध होगा। भौतिक भक्ति के युग में पले-पुसे मानवों को आध्यात्मिक चिन्तन प्रदान करेगा।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

बागरेचा भवन
गढसिवाना
दि. ५।६।१९८२

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

विषयसूची

प्रथम श्रुतस्कन्ध : दुःखविपाक

विषय	पृष्ठ
प्रथम अध्ययन : मृगापुत्र	
सार: संक्षेप	३
उत्क्षेप-चम्पानगरी	६
सुधर्मास्वामी का आगमन	६
आर्य जम्बू की जिज्ञासा	८
सुधर्मास्वामी का समाधान	९
जन्मान्ध मृगापुत्र	१०
मृगापुत्र के विषय मे गौतम की जिज्ञासा	१२
मृगापुत्रविषयक प्रश्न	१६
भगवान् द्वारा समाधान	१७
इक्काई का अत्याचार	१७
इक्काई को भयंकर रोग	१८
इक्काई की मृत्यु	२०
मृगापुत्र का जन्म	२२
मृगापुत्र का भविष्य	२३
द्वितीय अध्ययन : उज्झितक	
उत्क्षेप	२६
उज्झितक-परिचय	२७
उज्झितक की दुर्दशा	२७
पूर्वभव-विवरण : भीम कूटग्राह	३०
उज्झितक का भविष्य	३८
तृतीय अध्ययन : अभग्नसेन	
उत्क्षेप	४१
चोरपल्ली	४१
चोरसेनापति विजय	४१
अभग्नसेन	४२
अभग्नसेन का पूर्वभव	४४
अभग्नसेन का निन्नयभव	४४
अभग्नसेन का वर्त्तमानभव	४५
अभग्नसेन का भविष्य	५६
चतुर्थ अध्ययन : शकट	
जम्बूस्वामी की जिज्ञासा	५८
सुधर्मास्वामी का समाधान	५८
शकट के पूर्वभव का वृत्तान्त	५९
शकट का वर्त्तमान भव	६०
शकट का भविष्य	६३
पंचम अध्ययन : बृहस्पतिदत्त	
प्रस्तावना	६५
पूर्वभव	६६
वर्त्तमान भव	६७
भविष्य	६९
षष्ठ अध्ययन : नन्दिवर्द्धन	
प्रस्तावना	७०
गौतमस्वामी का प्रश्न	७१
भगवान् का उत्तर—नन्दिषेण का पूर्वभव	७१
जेलर का घोर अत्याचार	७२
पितृवध का दु:संकल्प	७६
षड्यन्त्र विफल : घोर कदर्थना	७६
नन्दिषेण का भविष्य	७७
सप्तम अध्ययन : उम्बरदत्त	
प्रस्तावना	७९
उम्बरदत्त का वर्त्तमान भव	७९
पूर्वभव सम्बन्धी पृच्छा	८१
पूर्वभव-वर्णन	८१
उम्बरदत्त का भविष्य	८८

विषय	पृष्ठ
अष्टम अध्ययन : शौरिकदत्त	
प्रस्तावना	८९
शौरिकदत्त का वर्त्तमानभव	८९
पूर्वभव-कथा	९०
शौरिकदत्त का भविष्य	९४
नवम अध्ययन : देवदत्ता	
उत्क्षेप	९६
वर्त्तमान भव	९६
पूर्वभव	९७
देवदत्ता का भविष्य	१०९
दशम अध्ययन : अंजू	
प्रस्तावना	११०
पूर्वभव	१११
वर्त्तमान भव	१११
भविष्यत् वृत्तान्त	११३

द्वितीय श्रुतस्कन्ध : सुखविपाक

विषय	पृष्ठ
सार : संक्षेप	११४
प्रथम अध्ययन : सुबाहुकुमार	
प्रस्तावना	११६
सुबाहु का जन्म : गृहस्थजीवन	११७
सुबाहु का धर्मश्रवण	११८
गृहस्थधर्म-स्वीकार	११८
गौतम की सुबाहुविषयक जिज्ञासा	११९
भगवान् द्वारा समाधान	१२०
सुपात्र-दान	१२२
सुबाहु की प्रव्रज्या	१२६
सुबाहु का भविष्य	१२७
द्वितीय अध्ययन : भद्रनन्दी	१२९
तृतीय अध्ययन : सुजातकुमार	१३०
चतुर्थ अध्ययन : सुवासवकुमार	१३१
पंचम अध्ययन : जिनदास	१३२
षष्ठ अध्ययन : धनपति	१३३
सप्तम अध्ययन : महाबल	१३४
अष्टम अध्ययन : भद्रनन्दी	१३५
नवम अध्ययन : महाचन्द्र	१३६
दशम अध्ययन : वरदत्त	१३७
परिशिष्ट	१४१
अनध्यायकाल	१५०

पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइयं एक्कारसमं अंगं

विवागसुयं

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिविरचितं एकादशमङ्गम्

विपाकश्रुतम्

विपाकसूत्र-प्रथम श्रुतस्कन्ध

सार : संक्षेप

विपाकसूत्र अपने अभिधान के अनुसार अशुभ एवं शुभ कर्मों का विपाक—फल प्रदर्शित करने वाला ग्यारहवां अंग-शास्त्र है। समस्त कर्मप्रकृतियां मुख्यतः दो भागों में विभक्त की जाती हैं: शुभ और अशुभ। इनमें से अशुभ प्रकृतियाँ पाप—दुःख रूप और शुभ प्रकृतियाँ पुण्य—सातारूप सुख प्रदान करती हैं। इन दोनों प्रकार की कर्मप्रकृतियों का फल-विपाक दिखलाने के लिए प्रस्तुत शास्त्र को दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त किया गया है—दुःखविपाक और सुखविपाक। दुःखविपाक में पापकर्मों का और सुखविपाक में पुण्य कर्मों का फल प्रतिपादित किया गया है।

जैन साहित्य में कर्मसिद्धान्त का अत्यन्त विस्तारपूर्वक सांगोपांग वर्णन किया गया है। बहुसंख्यक स्वतन्त्र ग्रन्थों की इस मौलिक तथा दुरूह सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए रचना की गई है। यद्यपि वह सब कर्म-साहित्य जिज्ञासुओं के लिए बहुत रस-प्रद है, मगर सबके लिए सुगम-सुबोध नहीं है। इस कमी की पूर्त्ति के लिए 'विपाकसूत्र' सर्वोत्तम साधन है। इसमें कथाओं के माध्यम से कर्म-विपाक की प्ररूपणा अत्यन्त सुगम एवं सुबोध शैली में की गई है। इस दृष्टि से विपाकसूत्र का अपना विशिष्ट एवं मौलिक स्थान और महत्त्व है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन है। प्रथम अध्ययन विस्तृत है और शेष अध्ययन अपेक्षाकृत संक्षिप्त है।

प्रथम अध्ययन में विजय क्षत्रिय-नरेश के पापी पुत्र मृगापुत्र का वर्णन किया गया है। मृगापुत्र पूर्वभवोपार्जित प्रकृष्ट पापकर्म के उदय से जब रानी मृगा के गर्भ में आया तो रानी राजा को अप्रिय, अनिष्ट एवं अनगमती हो गई। जन्म हुआ तो जन्म से ही अन्धा, बहिरा, लूला-लंगड़ा और हुण्डकसंस्थानी हुआ। उसके शरीर के हाथ, पैर, कान, आँख, नाक आदि अवयवों का अभाव था, मात्र उनके निशान थे। मृगा देवी जन्मते ही उसे घूरे (उकरड़े) पर फिकवा देना चाहती थी, मगर अपने पति के समझाने-बुझाने पर गुप्त रूप से भोंयरे (भूगृह) में रख कर उसका पालन-पोषण करने लगी।

एकदा भगवान् महावीर के कहने पर गौतम स्वामी को मृगापुत्र का पता लगा। वे उसे देखने के लिए गए। जिस भूगृह में मृगापुत्र रहता था वह असह्य सड़ांध से व्याप्त था। मृगादेवी उसका भोजन-पानी साथ लेकर गौतम स्वामी के साथ वहाँ गई। अत्यन्त गृद्धिपूर्वक उसने वह आहार ग्रहण किया। उदर में जाते ही भस्मक व्याधि के प्रभाव से वह आहार हजम हो गया और तत्काल मवाद और रुधिर के रूप में बदल गया। उसने उस रुधिर और मवाद का वमन किया और उसे भी चाट गया।

यह सब लोमहर्षक वीभत्स एवं दयनीय दशा देखकर गौतम स्वामी भ० महावीर की

सेवा में लौटे। उसकी दुर्दशा का कारण पूछा। तब भगवान् ने उसके पूर्व जन्म का विवरण इस प्रकार बतलाया—

भारतवर्ष में शतद्वार-नरेश का प्रतिनिधि विजयवर्द्धमान नामक खेट का शासक 'इक्काई' नामक राष्ट्रकूट (राठौड़) था। यह राष्ट्रकूट अत्यन्त अधर्मी, अधर्मानुयायी, अधर्मनिष्ठ, अधर्मदर्शी, अधर्मप्रज्वलन एवं अधर्माचारी था। आदर्श शासक में जो विशिष्टताएँ होनी चाहिए उनमें से एक भी उसमें नहीं थी। इतना ही नहीं, वह प्रत्येक दृष्टि से भ्रष्ट और अधम शासक था। सब तरह से प्रजा का अधिक से अधिक उत्पीडन करने में ही वह अपनी शान मानता था। वह रिश्वतखोर था, ब्याजखाऊ था और निरपराध जनों पर झूठे आरोप लगाकर उन्हें तंग किया करता था। रात-दिन पाप-कृत्यों में तल्लीन रहता था।

तीव्रतर पापकर्मों के आचरण का तात्कालिक फल यह हुआ कि कुछ समय के पश्चात् उसके शरीर में एक साथ सोलह कष्टकारी असाध्य रोग उत्पन्न हो गए। इन रोगों के फलस्वरूप 'हाय-हाय' करता वह चल बसा। अपने पापों के विपाक को भोगने के लिए वह प्रथम नरक में नारक के रूप में उत्पन्न हुआ। नरक की लम्बी आयु भोगने के पश्चात् वह मृगापुत्र के रूप में जन्मा है।

मृगापुत्र के अतीत की यह कहानी सुनने के बाद गौतम स्वामी ने उसके भविष्य के विषय में पूछा।

भगवान् ने मृगापुत्र का भविष्य बतलाते हुए फर्माया—

१. वह प्रथम नरक की एक सागरोपम की आयु पूर्ण करके सिंह की पर्याय में जन्म लेगा। इस पर्याय में भी वह अतीव अधर्मी होगा।
२. सिंह-पर्याय का अन्त होने पर वह पुनः प्रथम नरक में जन्मेगा।
३. नरक से निकल कर सरीसृप—रेंग कर चलने वाला जन्तु होगा।
४. तत्पश्चात् दूसरे नरक में उत्पन्न होगा।
५. फिर पक्षी-योनियों में जन्म लेगा।
६. पक्षियों में जन्म-मरण करने के पश्चात् तीसरी नरकभूमि में। फिर—
७. पुनः सिंह-पर्याय में।
८. तदन्तर चौथे नरक में।
९. उरगजातीय प्राणियों में।
१०. पाँचवें नरक में।
११. स्त्री के रूप में।
१२. छठी तमःप्रभा नरकभूमि में।
१३. मनुष्यपर्याय में—नर के रूप में।
१४. तमस्तमःप्रभा नामक सातवें नरक में।
१५. लाखों वार जलचर जीवों की साढे बारह लाख कुलकोटियों में।
१६. तत्पश्चात् चतुष्पदों में, उरपरिसर्पों में, भुजपरिसर्पों में, खेचरों में, चौ-इन्द्रियों में, ते-इन्द्रियों में, दो-इन्द्रियों में, कटुक रस वाले वनस्पति-वृक्षों में, वायुकाय, अप्काय, तेजस्काय तथा पृथ्वीकाय में लाखों-लाखों वार उत्पन्न होकर मृत्यु को प्राप्त करेगा।

१७. इतना दीर्घकालिक भवभ्रमण करने और असीम-अपार वेदनाएँ भोगने के अनन्तर बैल के रूप में जन्मेगा। तत्पश्चात्—

१८. उसे मनुष्यभव की प्राप्ति होगी। मनुष्यभव में संयम की साधना करके वह सिद्धि प्राप्त करेगा।

शासन के माध्यम से प्राप्त सत्ता का दुरुपयोग करने वालों, रिश्वतखोरों, प्रजा पर अनुचित कर-भार लादने वालों और इस प्रकार के पापों का आचरण करने वालों के भविष्य का यह एक निर्मल दर्पण है। आज के वातावरण में प्रस्तुत अध्ययन और आगे के अध्ययन भी अत्यन्त उपयोगी और शिक्षाप्रद हैं।

प्रथम अध्ययन में प्रदर्शित पाप के दुःखरूप विपाक का ही अगले अध्ययनों में निरूपण किया गया है। घटनाओं एवं पापाचार के प्रकार में किंचित् भिन्नता होते हुए भी दुःखविपाक के सभी अध्ययनों का मूल स्वर एक-सा है।

विस्तार से जानने के लिए जिज्ञासु-जन मूल शास्त्र का अध्ययन करें।

प्रथम श्रुतस्कन्ध : प्रथम अध्ययन

उत्क्षेप

१—तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। वण्णओ। पुण्णभद्दे चेइए। वण्णओ।

१—उस काल तथा उस समय में चम्पा नाम की एक नगरी थी। चम्पा नगरी का वर्णन औपपातिक सूत्रान्तर्गत नगरी के वर्णन के ही सदृश समझ लेना चाहिये। (उस नगरी के बाहर ईशान-कोण में) पूर्णभद्र नामक एक चैत्य-उद्यान था। पूर्णभद्र चैत्य का वर्णन औपपातिक सूत्र में विस्तार-पूर्वक किया गया है, अतः जिज्ञासु को अपनी जिज्ञासापूर्ति वहीं से कर लेना चाहिए।

विवेचन--व्यवहार में काल तथा समय, ये दोनों शब्द सामानार्थक हैं। फिर सूत्रकार ने इन दोनों शब्दों का पृथक् प्रयोग क्यों किया ? इस शङ्का का आचार्य अभयदेव सूरि ने इस तरह समाधान किया है—

'अथ कालसमययोः को विशेषः ? उच्यते—सामान्यः वर्त्तमानवसर्पिणी चतुर्थारक-लक्षणः कालः, विशिष्टः पुनस्तदेकदेशभूतः समयः।'

सूत्रकार को काल शब्द से सामान्य-वर्त्तमान अवसर्पिणी काल का चतुर्थ आरा अभिप्रेत है और समय शब्द से चौथे आरे के उस भाग का ही ग्रहण करना अभीष्ट है जबकि यह कथा कही जा रही है।

तत्त्वज्ञ पुरुष महीना, वर्ष आदि रूप से जिसका कलन—निर्णय करते हैं अथवा 'यह एक पक्ष का है', 'दो महीने का है', इस तरह का कलन (संख्या-गिनती) को काल कहते है। अथवा कलाओं—समयों के समूह को काल कहते हैं। निश्चय काल का स्वरूप वर्तना है अर्थात् समस्त द्रव्यों के वर्तन में जो निमित्त कारण होता है वह निश्चय काल है।

सुधर्मास्वामी का आगमन

२—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मे नामं अणगारे जाइसंपन्ने वण्णओ--(कुलसम्पन्ने, बल-रूव-विणय-णाण-दंसण-चरित्त-लाघवसम्पन्ने, ओयंसी, तेयंसी, वच्चंसी, जयंसी, जियकोहे, जियमाणे, जियमाए, जियलोहे, जिइंदिए, जियनिद्दे, जियपरिसहे, जीवियास-मरणभय-विप्पमुक्के, तवप्पहाणे, गुणप्पहाणे एवं करण-चरण-निग्गह-णिच्छय-अज्जव-मद्दव-लाघव-खंति-गुत्ति-मुत्ति-विज्जा-मंत-बंभ-वय-नय-नियम-सच्च-सोय-णाण-दंसण-चरित्ते ओराले घोरे घोरपरिसहे घोरव्वए घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेसे) चउद्दसपुव्वी चउनाणोवगए पंचहिं अणगारसएहिं सद्धि संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं जाव (चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे) जेणेव चंपानयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ,

उवागच्छित्ता अहापडिरूवं जाव (उग्गहं उग्गिण्हइ, अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे) विहरइ। परिसा निग्गया। धम्मं सोच्चा निसम्म जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगाय।

२—उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य—जातिसम्पन्न (जिसकी माता में मातृजनोचित प्रशस्त गुण विद्यमान हों अथवा जिसका मातृपक्ष निर्मल हो) कुल-सम्पन्न—उत्तम पितृपक्ष सहित, बलसम्पन्न—उत्तम प्रकार के संहनन के बल से युक्त, रूपसम्पन्न—देवों की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर रूप वाले, विनयवाले, चार ज्ञान सहित, क्षायिकसमकित से सम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, लाघव-सम्पन्न-द्रव्य से अल्प उपधिवाले और भाव से ऋद्धि, रस, व साता इन तीन प्रकार के गौरव (गर्व) से रहित, ओजस्वी-मनस्तेजसम्पन्न-वर्धमानपरिणाम वाले, तेजस्वी-शरीर की कान्ति वाले, वर्चस्वी-सौभाग्यादि गुणयुक्त वचन वाले अथवा वर्चस्वी-प्रभावशाली, यशस्वी-यश:सम्पन्न, क्रोध, मान, माया तथा लोभ को जीतने वाले, पांच इन्द्रियों और निद्रा के विजेता, बावीस परिषहों को जीतने वाले, जीने की आशा तथा मृत्यु के भय से रहित, तप:प्रधान—उत्कृष्ट तप करने वाले, गुणप्रधान—उत्कृष्ट संयम गुणवाले, करणप्रधान— पिण्डशुद्धि आदि करणसत्तरीप्रधान, चरणप्रधान—महाव्रतादिक चरणसत्तरीप्रधान, निग्रह-प्रधान—अनाचार में नहीं प्रवर्तित होने वाले, निश्चय-प्रधान–तत्त्व का निश्चय करने में उत्तम, आर्जवप्रधान—माया का निग्रह करने में वरिष्ठ, मार्दव-प्रधान—मान का निग्रह करने में श्रेष्ठ, लाघवप्रधान—क्रिया को करने की कुशलता वाले, क्षान्ति-प्रधान—क्रोध को नियन्त्रण में रखने में कुशल, गुप्तिप्रधान—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति व कायगुप्ति का सरलता पूर्वक पालन करने में आदर्श, मुक्तिप्रधान—निर्लोभीपने में श्रेष्ठतम, विद्याप्रधान—देवताधिष्ठित प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं में परम निष्णात, मन्त्रप्रधान—हरिणेगमेषी आदि देव-अधिष्ठित विद्याओं से भरपूर अथवा जो साधन-सहित हो—साधने से सिद्धि होती हो वह विद्या और साधनरहित मात्र पाठ करने से जो सिद्ध हो जाते हों वे मन्त्र, इन दोनो में कुशल, ब्रह्म-प्रधान—ब्रह्मचर्य की साधना अथवा सर्वकुशल अनुष्ठानों में कुशल, वेदप्रधान—लौकिक-लौकिकोत्तर आगमों सम्बन्धी कुशलता से सम्पन्न, नयप्रधान—नैगमादि सात नयों के सूक्ष्मता से ज्ञाता, नियमप्रधान—अनेक प्रकार के अभिग्रहों को धारण करने में वरिष्ठ, सत्यप्रधान—सत्यवाणी बोलने में कुशल, दर्शन-प्रधान—चक्षुदर्शनादि से अथवा सम्यक्त्व गुण से श्रेष्ठ, चारित्र-प्रधान—प्रतिलेखनादि सत्क्रियाओं को करने में जागृत, ओराल—उदार, भयानक—उग्र तपश्चर्या करने के कारण समीपवर्ती अल्पसत्त्व वाले मनुष्यों की दृष्टि में भयानक, घोरपरिषह—इन्द्रियों व कषाय नामक शत्रुओं को वशवर्ती करने में निर्दय, घोरव्रत—दूसरों के लिये जिन व्रतों का अनुष्ठान दुष्कर प्रतीत हो, ऐसे विशुद्ध महाव्रतों को पालने वाले. घोर तपस्वी—उग्र तपस्या करने वाले, घोर ब्रह्मचर्यवासी—उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य के धारक, उज्झितशरीर—शरीर के सत्कार-श्रृङ्गार से रहित, संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्य—अनेक योजनप्रमाण रही हुई वस्तुओं को जला सकने की क्षमता वाली विस्तीर्ण तेजोलेश्या को जिन्होंने अपने शरीर में ही समाविष्ट कर लिया है, ऐसी शक्ति से सम्पन्न, चौदह पूर्वों के ज्ञाता, केवलज्ञान को छोड़कर शेष चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि व मन:पर्यवज्ञान के धारक, पांच सौ अनगारों (साधुओं) से घिरे हुए सुधर्मा अनगार-मुनि क्रमश: विहार करते हुए अर्थात् अप्रतिबद्ध विहारी होने से विवक्षित ग्राम से अनन्तर के ग्राम में चलते हुए, साधुवृत्ति के अनुसार सुखपूर्वक विहरण करते हुए चम्पानगरी के पूर्णभद्र नामक चैत्य-उद्यान में साधुवृत्ति के अनुरूप [अवग्रह (आश्रय) उपलब्ध कर संयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए] विचरने

लगे ! धर्मकथा सुनने के लिये जनता (परिषद्) नगर से निकलकर वहाँ आयी। धर्मकथा श्रवण कर और हृदय में अवधारण कर जिस ओर से आयी थी उसी ओर (यथास्थान) चली गई।

३—तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अन्तेवासी अज्जजंबू नामं अणगारे सत्तुस्सेहे, जहा गोयमसामी तहा, जाव (समचउरंससंठाणसंठिए, वज्जरिसहनारायसंघयणे, कणगपुलगणिघस-पम्हगोरे, उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, ओराले, घोरे, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्तविउलतेउलेस्से, चोद्दसपुव्वी, चउणाणोवगए, सव्वक्खरसन्निवाई समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामन्ते उड्ढजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे) विहरइ।

तए णं अज्जजंबू नामं अणगारे जायसड्ढे (जायसंसए, जायकोउहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए, उप्पन्नकोउहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए, संजायकोउहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए, समुप्पन्न-कोउहल्ले, उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठेत्ता) जेणेव अज्जसुहम्मे अणगारे तेणेव उवागए, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता (अज्जसुहम्मस्स थेरस्स णच्चासण्णे नातिदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहं पंजलिउडे विणएणं) जाव पज्जुवासइ, पज्जुवासित्ता एवं वयासी।

३—उस काल उस समय में आर्य सुधर्मा स्वामी के शिष्य जम्बू स्वामी थे, जो सात हाथ प्रमाण शरीर वाले तथा गौतम स्वामी के समान थे। (श्री गौतम स्वामी का वर्णन भगवती सूत्र में वर्णित है। तदनुसार पालथी मारकर बैठने पर जिनके शरीर की ऊँचाई और चौड़ाई बराबर हो ऐसे समचतुरस्र संस्थान वाले हैं, जो वज्रऋषभनाराचसंहनन के (हड्डियों की रचना की दृष्टि से सर्वोत्तम सुदृढ़ व सबल अस्थिबंधन के) धारक हैं, जो सोने की रेखा के समान और पद्म-पराग, (कमल-रज) के समान वर्ण वाले हैं, जो उग्र (साधारण मनुष्य जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता ऐसे) तप करने वाले हैं, दीप्त तपस्वी (कर्मरूपी वन को भस्म करने में समर्थ तप करने वाले), तप्त-तपस्वी (जिस तप से कर्मों को सन्ताप हो—कर्म नष्ट हो जाएं—ऐसे कठोर तप को करने वाले), महातपस्वी (किसी तरह की आकांक्षा-अभीप्सा रक्खे विना निष्काम भाव से किये जाने वाले महान् तप को करने वाले) हैं, जो उदार हैं, आत्म-शत्रुओं को नष्ट करने में निर्भीक हैं, जो दूसरों के द्वारा दुष्प्राप्य गुणों को धारण करने वाले हैं, जो घोर तप के अनुष्ठान के कारण तपस्वी पद से अलंकृत हैं, जो शरीर में ममत्व वृत्ति से रहित हैं, जो अनेक योजन-प्रमाण क्षेत्राश्रित वस्तुओं के दहन में समर्थ विस्तीर्ण तेजो-लेश्या को—तपोजन्य विशिष्ट लब्धि-विशेष को संक्षिप्त किये हुए हैं, जो चौदह पूर्वों के ज्ञाता हैं, जो चार ज्ञान के धारक हैं, जिन्हें सम्पूर्ण अक्षरसंयोग का ज्ञान है, जिन्होंने उत्कुटुक आसन लगा रखा है, जो अधोमुख हैं तथा धर्मध्यान रूप कोष्ठक में प्रवेश किये हुए, भगवान् महावीर के पास संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं) ऐसे आचार को धारण करने वाले यावत् ध्यान रूप कोष्ठ को प्राप्त हुए आर्य जम्बू नामक अनगार विराजमान हो रहे हैं। तदन्तर जातश्रद्ध (अर्थात् तत्त्व को जानने की इच्छा में जिनकी प्रवृत्ति हो) जातसंशय (इच्छा में प्रवृत्ति होने का कारण संशय है, क्योंकि संशय होने से ही जानने की इच्छा होती है) जात-कुतूहल—(कुतूहल—उत्सुकता अर्थात् श्री सुधर्मास्वामी से प्रश्न करने पर उनसे अपूर्व वस्तु-तत्त्व की समझ प्राप्त होगी इत्यादि) उत्पन्नश्रद्ध, उत्पन्नसंशय, उत्पन्नकुतूहल, संजातश्रद्ध, संजातसंशय, संजातकुतूहल, समुत्पन्नश्रद्ध, समुत्पन्नसंशय,

समुत्पन्नकुतूहल होकर श्री जम्बूस्वामी उठने को तैयार हुए, तैयार होकर, उठकर खड़े हुए, खड़े होकर जिस स्थान पर आर्य सुधर्मा स्वामी विराजमान थे, उसी स्थान पर पधार गये। दाहिनी ओर से बायीं ओर तीन बार अञ्जलिबद्ध हाथ घुमाकर आवर्तनपूर्वक प्रदक्षिणा करने के पश्चात् वन्दना-नमस्कार करके आर्य सुधर्मा स्वामी से न बहुत दूर और न बहुत पास, सुधर्मा स्वामी की सेवा करते हुए विनय पूर्वक इस प्रकार बोले—

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में जातश्रद्ध, उत्पन्नश्रद्ध, संजातश्रद्ध और समुत्पन्नश्रद्ध आदि विशेषण प्रयोग किये गये हैं, वे मन में उत्पन्न होने वाली क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक हैं। प्रथम तीन अवग्रह रूप, दूसरे तीन ईहारूप और तीसरे तीन अवायरूप और चौथे तीन धारणारूप समझना चाहिए।

४—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव[1] संपत्तेणं दसमस्स अंगस्स पण्हावागरणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, एक्कारसमस्स णं भंते ! अंगस्स विवागसुयस्स समणेणं जाव[2] संपत्तेणं के अट्ठे पन्नत्ते ?

४—हे भगवन् । यदि मोक्ष को प्राप्त हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रश्नव्याकरण नामक ग्यारहवें अङ्ग का यह अर्थ प्रतिपादित किया है तो विपाकश्रुत नामक ग्यारहवें अङ्ग का यावत् मोक्ष को सम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने क्या अर्थ प्रतिपादित किया है ?

सुधर्मा स्वामी का उत्तर

५—तए णं अज्जसुहम्मे अणगारे जंबुं अणगारं एवं वयासी—"एवं खलु, जंतु ! समणेणं जाव[3] संपत्तेणं एक्कारसमस्स अंगस्स विवागसुयस्स दो सुयक्खंधा पन्नत्ता; तं जहा—दुहविवागा य सुहविवागा य।"

जइ णं भंते ! समणेणं जाव[4] संपत्तेणं एक्कारसमस्स अंगस्स विवागसुयस्स दो सुयक्खंधा पन्नत्ता, तं जहा—दुहविवागा य सुहविवागा य, पढमस्स णं, भंते ! सुयक्खंधस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव[5] संपत्तेणं कइ अज्झयणा पन्नत्ता ?

५—तदनन्तर आर्य सुधर्मा स्वामी ने (अपने सुविनीत शिष्य) श्री जम्बू अनगार को इस प्रकार कहा—हे जम्बू (धर्म की आदि करने वाले, तीर्थप्रवर्तक) मोक्षसंलब्ध भगवान् श्रीमहावीर स्वामी ने विपाकश्रुत (जिसमें शुभ-अशुभ कर्मों के सुख-दुःख रूप विपाक—परिणामों का दृष्टान्तपूर्वक कथन है) नाम के ग्यारहवें अङ्ग के दो श्रुतस्कन्ध प्रतिपादित किये हैं, जैसे कि—दुःखविपाक और सुखविपाक।

हे भगवन् ! यदि मोक्ष को उपलब्ध श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने विपाकश्रुत संज्ञक एकादशवें अङ्ग के दुःखविपाक और सुखविपाक नामक दो श्रुतकन्ध कहे हैं, तो हे प्रभो ! दुःखविपाक नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कितने अध्ययन प्रतिपादित किये हैं ?

६—तए णं अज्जसुहम्मेअणगारे जंबुं एवं वयासी—एवं खलु जम्बू ! समणेणं·······आइगरेणं तित्थयरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता, तं जहा—

१-२-३-४-५. यहां 'जाव' शब्द से भगवती, समवायाङ्ग आदि सूत्रों में उल्लिखित तथा नमोत्थु णं पाठ में भगवान् के जितने विशेषण बताए गये हैं, वे समझ लेना चाहिये।

मियापुत्ते य उज्झियए अभग्ग, सगडे बहस्सई नन्दी ।
उंबर सोरियदत्ते य देवदत्ता य अंजू य ।।१।।

६—तत्पश्चात् आर्य सुधर्मास्वामी ने अपने अन्तेवासी श्री जम्बू अनगार को इस प्रकार कहा—'हे जम्बू ! धर्म की आदि करने वाले, तीर्थप्रवर्तक, मोक्ष को उपलब्ध श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुखविपाक के दस अध्ययन फरमाये हैं जैसे कि—

(१) मृगापुत्र (२) उज्झितक (३) अभग्नसेन (४) शकट (५) बृहस्पति (६) नन्दिवर्धन (७) उम्बरदत्त (८) शौरिकदत्त (९) देवदत्ता और (१०) अञ्जू ।

७—'जइ णं, भंते ! समणेणं आइगरेणं तित्थयरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता; तं जहा—मियापुत्ते य जाव अंजू य, पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पन्नत्ते ?'

तए णं से सुहम्मे जंबु अणगारं एवं वयासी—'एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं *मियग्गामे नामं नयरे होत्था । वण्णओ ।*[1] तस्स णं मियग्गामस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए चंदणपायवे नामं उज्जाणे होत्था सव्वोउय० । वण्णओ । तत्थ णं सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था, चिराइए जहा पुण्णभद्दे ।

७—अहो भगवन् ! यदि धर्म की आदि करने वाले, तीर्थप्रवर्तक मोक्ष को समुपलब्ध श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुखविपाक के मृगापुत्र से लेकर अञ्जू पर्यन्त दश अध्ययन कहे हैं तो मुक्तिप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने, प्रभो ! दुखविपाक के प्रथम अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?

इसके उत्तर में आर्य सुधर्मा स्वामी अपने (सुशिष्य) श्री जम्बू अनगार को कहते हैं—हे जम्बू ! उस काल उस समय में मृगाग्राम नाम का एक नगर था जिसका वर्णन औपपातिक सूत्र में किये गये नगरवर्णन के ही समान जान लेना चाहिए । उस मृगाग्राम सञ्ज्ञक नगर के बाहर उत्तर पूर्व दिशा के मध्य अर्थात् ईशान कोण में सब ऋतुओं में होने वाले फल पुष्प आदि से युक्त चन्दन-पादप नामक एक उपवन था । इसका भी वर्णन औपपातिक सूत्र से समझ लेना चाहिये । उस उद्यान में सुधर्मा नामक यक्ष का एक पुरातन यक्षायतन था जिसका वर्णन पूर्णभद्र यक्षायतन की तरह समझना ।

जन्मांध मृगापुत्र

८—तत्थ णं मियग्गामे नयरे विजए नामं खत्तिए राया परिवसइ, वण्णओ । तस्स णं विजयस्स

---

१. प्रस्तुत आगम में प्रायः चार स्थानों पर "वण्णओ" पद का प्रयोग प्राप्त होता है—प्रथम नगर के साथ, दूसरा उद्यान के साथ, तीसरा विजय राजा और चौथा रानी मृगावती के साथ । जैनागमों की अपनी एक पारम्परिक प्रणालिका ही है कि यदि किसी एक आगम में किसी उद्यान, नगर, चैत्य, राजा, रानी, संयमशील साधु का सांगोपांग वर्णन कर दिया हो, प्रसंगवश उस वर्णन को पुनः नहीं दुहराते हुए निर्दिष्ट आगम से उसका वर्णन जान लेने के लिये 'वण्णओ' ऐसा सांकेतिक शब्द निर्दिष्ट किया जाता है । अतः जहाँ कहीं वण्णओ शब्द का संकेत हो वहाँ औपपातिक सूत्र में वर्णित नगर, उद्यान, यक्ष, यक्षायतन, राजा व रानी के वर्णन की तरह समझ लेना चाहिये ।

खत्तियस्स मिया नामं देवी होत्था। अहीण.........। वण्णओ। तस्स णं विजयस्स खत्तियस्स पुत्ते मियाए देवीए अत्तए मियापुत्ते नामं दारए होत्था। जाइ-अन्धे, जाइ-मूए, जाइ-बहिरे, जाइ-पंगुले, हुंडे य वायवे य। नत्थि णं तस्स दारगस्स हत्था वा पाया वा कण्णा वा अच्छी वा णासा वा। केवलं से तेसिं अंगोवंगाणं आगिई आगिइमित्ते। तए णं सा मियादेवी तं मियापुत्तं दारगं रहस्सियंसि भूमिघरंसि रहस्सिएणं भत्तपाणेणं पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ।

८—उस मृगापुत्र नामक नगर में विजय नाम का एक क्षत्रिय राजा निवास करता था। उस विजय नामक क्षत्रिय राजा की मृगा नामक रानी थी। उस सर्वांगसुन्दरी रानी का रूप-लावण्य औपपातिक सूत्र में किये गये राज्ञीवर्णन के ही समान जान लेना। उस विजय क्षत्रिय का पुत्र और मृगा देवी का आत्मज मृगापुत्र नाम का एक बालक था। वह बालक जन्म के समय से ही अन्धा, गूंगा, बहरा, लूला, हुण्ड था (उसके शरीर के सभी अवयव बिना ढंग के– बेढब थे) वह वातरोग से पीड़ित था। उसके हाथ, पैर, कान, आँख और नाक भी न थे। इन अंगोपांगों का केवल आकार ही था और वह आकार-चिह्न भी नाम-मात्र का (उचित स्वरूपवाला नहीं) था। वह मृगादेवी गुप्त भूमिगृह (मकान के नीचे के तलघर) में गुप्तरूप से आहारादि के द्वारा उस बालक का पालन-पोषण करती हुई जीवन बिता रही थी।

९—तत्थ णं मियग्गामे नयरे एके जाइअन्धे पुरिसे परिवसेइ। से णं एगेणं सचक्खुएणं पुरिसेणं पुरओ दण्डएणं पगड्ढिज्जमाणे पगड्ढिज्जमाणे फुट्टहडाहडसीसे मच्छियाचडगरपहकरेणं णज्जिज्ज-माणमग्गे मियग्गामे नयरे गिहे गिहे कालुणवडियाए वित्ति कप्पेमाणे विहरइ।

९—उस मृगाग्राम में एक जन्मान्ध पुरुष रहता था। आँखों वाला एक व्यक्ति उसकी लकड़ी पकड़े रहा करता था। उसी की सहायता से वह चला करता था। उसके मस्तक के बाल बिखरे हुए अत्यन्त अस्त-व्यस्त थे। (अत्यन्त मैला-कुचेला होने के कारण) उसके पीछे मक्खियों के झुण्ड के झुण्ड भिनभिनाते रहते थे। ऐसा वह जन्मान्ध पुरुष मृगाग्राम नगर के घर-घर में कारुण्यमय-दैन्यमय भिक्षावृत्ति से अपनी आजीविका चला रहा था।

१०—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसरिए। जाव परिसा निग्गया। तए णं से विजए खत्तिए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे, जहा कूणिए तहा निग्गए जाव पज्जुवासइ।

१०—उस काल तथा उस समय में श्रमण भगवान् महावीर (नगर के बाहर चन्दन-पादप उद्यान में) पधारे। उनके पदार्पण के समाचारों को जानते ही जनता उनके दर्शनार्थ निकली। तदनन्तर विजय नामक क्षत्रिय राजा भी महाराजा कूणिक की तरह भगवान् के शुभागमन के वृत्तान्त को जानकर दर्शनार्थ नगर से चला यावत् समवसरण में जाकर भगवान् की पर्युपासना—सेवा-भक्ति करने लगा।

११—तए णं से जाइअन्धे पुरिसे तं महया जणसद्दं जाव सुणेत्ता तं पुरिसं एवं वयासी—"किं णं देवाणुप्पिया! अज्ज मियग्गामे नयरे इन्दमहे इ वा जाव (खंदमहे इ वा उज्जाण-गिरिजत्ता इ वा जओ णं बहवे उग्गा भोगा एगदिसिं एगाभिमुहा) निग्गच्छंति?" तए णं से पुरिसे जाइअन्ध-

पुरिसं एवं वयासी—'नो खलु, देवाणुप्पिया ! इन्दमहे इ वा जाव निग्गच्छइ। समणे जाव विहरइ। तए णं एए जाव निग्गच्छंति।" तए णं से जाइ अंधपुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी—'गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! अम्हे वि समणं भगवं जाव पज्जुवासामो।" तए णं जाइअन्धे पुरिसे तेणं पुरओदंडएणं पुरिसेणं पगड्डिज्जमाणे पगड्डिज्जमाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागए, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासइ। तए णं समणे भगवं महावीरे विजयस्स खत्तियस्स तीसे य·······धम्ममाइक्खइ, जाव परिसा पडिगया, विजए वि गए।

११—तदनन्तर वह जन्मान्ध पुरुष नगर के कोलाहलमय वातावरण को जानकर उस पुरुष के प्रति इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रिय ! क्या आज मृगाग्राम नगर में इन्द्र-महोत्सव है [स्कन्द-महोत्सव है, उद्यान की या पर्वत की यात्रा है, जिसके कारण ये उग्रवंशी तथा भोगवंशी आदि एक ही दिशा में—एक ही ओर] नगर के बाहर जा रहे हैं ? (यह सुन) उस पुरुष ने जन्मान्ध से कहा—'हे देवानुप्रिय ! आज इस ग्राम (नगर) में इन्द्रमहोत्सव नहीं है किन्तु (इस मृगा-ग्राम—नगर के बाहर चन्दन-पादप उद्यान में) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे हैं; वहाँ ये सब दर्शनार्थ जा रहे हैं। तब उस जन्मान्ध पुरुष ने कहा—'चलो, हम भी चलें और चलकर भगवान् की पर्युपासना करें। तदनन्तर दण्ड के द्वारा आगे को ले जाया जाता हुआ वह जन्मान्ध पुरुष, जहाँ पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहाँ पर आ गया। वहाँ आकर वह तीन बार दक्षिण ओर से आरम्भ करके प्रदक्षिणा (आवर्तन) करता है। प्रदक्षिणा करके वंदन-नमस्कार करता है। वन्दना तथा नमस्कार करके भगवान् की पर्युपासना—सेवा भक्ति में तत्पर हुआ। तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने विजय राजा तथा नगर-जनता को धर्मोपदेश दिया। यावत् कथा सुनकर विजय राजा तथा परिषद् यथास्थान चले गये।

मृगापुत्र के विषय में गौतम की जिज्ञासा

१२—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इन्दभूई नामं अणगारे जाव विहरइ। तए णं से भगवं गोयमे तं जाइअन्धपुरिसं पासइ, पासित्ता जायसड्ढे जाव एवं वयासी—'अत्थि णं भंते ! केई पुरिसे जाइअन्धे जाइअन्धारूवे ?'

हंता अत्थि।

"कह णं भंते ! से पुरिसे जाइअन्धे जाइअन्धरूवे ?"

'एवं खलु, गोयमा ! इहेव मियग्गामे नयरे विजयस्स खत्तियस्स पुत्ते मियादेवीए अत्तए मियापुत्ते नामं दारए जाइअन्धे जाइअन्धरूवे। नत्थि णं तस्स दारगस्स जाव आगिइमित्ते। तए णं सा मियादेवी जाव पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ !'

तए णं से भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे मियापुत्तं दारगं पासित्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया !'

१२—उस काल तथा उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य इन्द्र-

भूति नाम के अनगार भी वहाँ विराजमान थे। भगवान् गौतम स्वामी (इन्द्रभूति अनगार) ने उस जन्मान्ध पुरुष को देखा और देखकर जातश्रद्ध—प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले—भगवान् गौतम इस प्रकार बोले—'अहो भगवन् ! क्या कोई ऐसा पुरुष भी है कि जो जन्मान्ध व जन्मान्धरूप हो ?'

भगवान् ने कहा—'हाँ, ऐसा पुरुष है !'

'हे प्रभो ! वह पुरुष कहाँ है जो जन्मान्ध व जन्मान्धरूप हो ?'

भगवान् ने कहा—'हे गौतम ! इसी मृगाग्राम नगर में विजयनरेश का पुत्र और मृगादेवी का आत्मज मृगापुत्र नाम का बालक है, जो जन्मतः अन्धा तथा जन्मान्धरूप है। उसके हाथ, पैर, चक्षु आदि अङ्गोपाङ्ग भी नहीं हैं ! मात्र उन अङ्गोपाङ्गों के आकार ही हैं ! उसकी माता मृगादेवी उसका पालन-पोषण सावधानी पूर्वक छिपे-छिपे कर रही है।

तदनन्तर भगवान् गौतम ने भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके उनसे विनती—प्रार्थना की कि—'हे प्रभो ! यदि आपकी अनुज्ञा प्राप्त हो तो मैं मृगा-पुत्र को देखना चाहता हूँ।'

इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—'गौतम ! जैसे तुम्हें सुख उपजे वैसा करो !'

१३—तए णं से भगवं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुन्नाए समाणे हट्ठतुट्ठे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिआओ पडिनिक्खमेइ, पडिनिक्खिमित्ता अतुरियं जाव [अचल-मसंभंते जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरओरियं] सोहेमाणे जेणेव मियग्गामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मियग्गामं नयरं मज्झंमज्झेणं अणुपविसइ, अणुप्पविसित्ता जेणेव मियादेवीए गिहे तेणेव उवागच्छइ।

१३—तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा आज्ञा प्राप्त कर प्रसन्न व सन्तुष्ट हुए श्रीगौतम स्वामी भगवान् के पास से (मृगापुत्र को देखने के लिये) निकले। विवेकपूर्वक (जरा भी उतावल किये बिना ईर्यासमिति का यथोचित पालन करते हुए) भगवान् गौतम स्वामी जहाँ मृगाग्राम नगर था वहाँ आये और आकर मृगाग्राम नगर के मध्यमार्ग से मृगाग्राम नगर में प्रवेश किया। क्रमशः जहाँ मृगादेवी का घर था, गौतम स्वामी वहां पहुँच गये।

१४—तए णं सा मियादेवी भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठ जाव एवं वयासी—"संदिसतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ?"

तए णं से भगवं गोयमे मियादेविं एवं वयासी—"अहं णं देवाणुप्पिए, तव पुत्तं पासिउं हव्वमागए।"

तए णं सा मियादेवी मियापुत्तस्स दारगस्स अणुमग्गजायए चत्तारि पुत्ते सव्वालंकारविभूसिए करेइ, करेत्ता भगवओ गोयमस्स पाएसु पाडेइ, पाडेत्ता एवं वयासी—"एए णं भंते ! मम पुत्ते, पासह।"

१४—तदनन्तर उस मृगादेवी ने भगवान् गौतम स्वामी को आते हुए देखा और देखकर हर्षित प्रमुदित हुई इस प्रकार कहने लगी—'भगवन् ! आपके पधारने का क्या प्रयोजन है ?'

इसके उत्तर में भगवान् गौतम स्वामी ने कहा—'हे देवानुप्रिये ! मैं तुम्हारे पुत्र को देखने आया हूँ !'

तब मृगादेवी ने मृगापुत्र के पश्चात् उत्पन्न हुए चार पुत्रों को वस्त्र-भूषणादि से अलंकृत किया और अलंकृत करके गौतमस्वामी के चरणों में डाला (नमस्कार कराया) और डाल करके (नमस्कार कराने के पश्चात्) इस प्रकार कहा—'भगवन् ! ये मेरे पुत्र हैं; इन्हें आप देख लीजिए !'

१५—तए णं से भगवं गोयमे मियादेविं एवं वयासी—"नो खलु देवाणुप्पिए ! अहं एए तव पुत्ते पासिउं हव्वमागए। तत्थ णं जे से तव जेट्ठे मियापुत्ते दारए दाइअन्धे जाइअन्धरूवे, जं णं तुमं रहस्सियंसि भूमिघरंसि रहस्सिएणं भत्तपाणेणं पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरसि तं णं अहं पासिउं हव्वमागए।'

तए णं सा मियादेवी भगवं गोयमं एवं वयासी—'से के णं गोयमा ! ते तहारूवे नाणी वा तवस्सी वा, जेणं तव एसमट्ठे मम ताव रहस्सीकए तुब्भं हव्वमक्खाए, जओ णं तुब्भे जाणह ?'

तए णं भगवं गोयमे मियादेविं एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे, तओ णं अहं जाणामि।"

१५—यह सुनकर भगवान् गौतम मृगादेवी से बोले—हे देवानुप्रिये ! मैं तुम्हारे इन पुत्रों को देखने के लिए यहाँ नहीं आया हूँ, किन्तु तुम्हारा जो ज्येष्ठ पुत्र मृगापुत्र है, जो जन्मान्ध व जन्मान्धरूप है, तथा जिसको तुमने एकान्त भूमिगृह (भोंरे) में गुप्तरूप से सावधानी पूर्वक रक्खा है और छिपे-छिपे खानपान आदि के द्वारा जिसके पालन-पोषण में सावधान रह रही हो, उसी को देखने मैं यहाँ आया हूँ !

यह सुनकर मृगादेवी ने गौतम से (आश्चर्यचकित होकर) निवेदन किया कि—हे गौतम ! वे कौन तथारूप ऐसे ज्ञानी व तपस्वी हैं, जिन्होंने मेरे द्वारा एकान्त गुप्त रक्खी यह बात आपको यथार्थरूप में बता दी। जिससे आपने यह गुप्त रहस्य सरलता से जान लिया ?

तब भगवान् गौतम स्वामी ने कहा—हे भद्रे ! मेरे धर्माचार्य्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं और प्रभु महावीर स्वामी ने ही मुझे यह रहस्य बताया है।

१६—जाव च णं मियादेवी भगवया गोयमेण सद्धिं एयमट्ठं संलवइ, तावं च णं मियापुत्तस्स दारगस्स भत्तवेला जाया यावि होत्था। तए णं सा मियादेवी भगवं गोयमं एवं वयासी—'तुब्भे णं भंते! इहं चेव चिट्ठह जा णं अहं तुब्भं मियापुत्तं दारगं उववंसेमि त्ति कट्टु जेणेव भत्त-पाणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वत्थपरियट्टयं करेइ, करेत्ता कट्ठसगडियं गिण्हइ, गिण्हित्ता विउलस्स असण-पाण-खाइम-साइमस्स भरेइ, भरित्ता तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी अणुकड्ढमाणी जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी—"एह णं तुब्भे भंते ! मम अणुगच्छह, जा णं अहं तुब्भं मियापुत्तं दारगं उववंसेमि।" तए णं से भगवं गोयमे मियादेविं पिट्ठओ समणुगच्छइ।

१६—जिस समय मृगादेवी भगवान् गौतमस्वामी के साथ संलाप-संभाषण-वार्तालाप कर रही थी उसी समय मृगापुत्र दारक के भोजन का समय हो गया। तब मृगादेवी ने भगवान् गौतम स्वामी से निवेदन किया—'भगवन् ! आप यहीं ठहरिये, मैं अभी मृगापुत्र बालक को दिखलाती हूँ।' इतना

कहकर वह जहाँ भोजनालय था, वहाँ आती है और आकर वस्त्र-परिवर्तन करती है। वस्त्र-परिवर्तन कर काष्ठ-शकट—लकड़ी की गाड़ी को—ग्रहण करती है और उसमें योग्य परिमाण में (विपुल मात्रा में) अशन, पान, खादिम व स्वादिम आहार भरती है। तदनन्तर उस काष्ठ-शकट को खींचती हुई जहाँ भगवान् गौतम स्वामी थे वहाँ आती है और भगवान् गौतम स्वामी से निवेदन करती है—'प्रभो ! आप मेरे पीछे पधारें। मैं आपको मृगापुत्र दारक बताती हूँ। (यह सुनकर) गौतम स्वामी मृगादेवी के पीछे-पीछे चलने लगे।

१७—तए णं सा मियादेवी तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी अणुकड्ढमाणी जेणेव भूमिघरे तेणेव उवागच्छइ; उवागच्छित्ता चउप्पुडेणं वत्थेणं मुहं बंधेइ। मुहं बंधमाणी भगवं गोयमं एवं वयासी—'तुब्भे वि य णं भंते ! मुहपोत्तियाए मुहं बंधह।' तए णं से भगवं गोयमे मियादेवीए एवं वत्ते समाणे मुहपोत्तियाए मुहं बंधेइ।

१७—तत्पश्चात् वह मृगादेवी उस काष्ठ-शकट को खीचती-खीचती जहां भूमिगृह (भोंरा) था वहाँ पर आती है और आकर चार पड़ वाले वस्त्र से मुँह को बांधकर भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार निवेदन करने लगी—'हे भगवन् ! आप भी मुख-वस्त्रिका से मुंह को बांध ले।' मृगादेवी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर भगवान् गौतमस्वामी ने भी मुख-वस्त्रिका से मुख को बांध लिया।

१८—तए णं सा मियादेवी परंमुही भूमिघरस्स दुवारं विहाडेइ। तए णं गंधे निग्गच्छइ-से जहानामए अहिमडे इ वा जाव [गोमडे इ वा सुणहमडे इ वा मज्जारमडे इ वा मणुस्समडे इ वा महिसमडे इ वा मूसगमडे इ वा आसमडे इ वा हत्थिमडे इ वा सीहमडे इ वा वग्घमडे इ वा विगमडे इ वा दीविगमडे इ वा मयकुहिय-विणट्ठ-दुरभिवावण्ण-दुब्भिगंधे किमिजालाउलसंसत्ते असुइ-विलीण-विगय-बीभच्छदरिसणिज्जे भवेयारूवे सिया ?

नो इणट्ठे समट्ठे, एत्तो अणिट्ठतराए चेव अकंततराए चेव अप्पियतराए चेव अमणुण्णतराए चेव अमणामतराए चेव] गन्धे पन्नत्ते ! तए णं से मियापुत्ते दारए तस्स विउलस्स असण-पाण-खाइम-साइमस्स गन्धेणं अभिभूए समाणे तंसि विउलंसि असण-पाण-खाइम-साइमंमि मुच्छिए तं विउलं असण-पाण खाइम-साइमं आसएणं आहारेइ, आहारित्ता खिप्पामेव विद्धंसेइ, तओ पच्छा पूयत्ताए य सोणियत्ताए य परिणामेइ; तं पि य णं से पूयं च सोणियं च आहारेइ।

१८—तत्पश्चात् मृगादेवी ने पराङ्मुख होकर (पीछे को मुख करके) जब उस भूमिगृह के दरवाजे को खोला तब उसमे से दुर्गन्ध निकलने लगी। वह गन्ध मरे हुए सर्प यावत् (गाय, कुत्ता, बिल्ली, मनुष्य, महिष, मूषिक, अश्व, हाथी, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, द्वीपिक आदि का कलेवर सड़ गया हो, गल गया हो, दुर्गंधित हो, जिसमें कीड़ों का समूह बिलबिला रहा हो, जो अशुचि, विकृत और देखने में भी बीभत्स हो, वह दुर्गन्ध ऐसी थी ? नहीं, वह दुर्गन्ध) उससे भी अधिक अनिष्ट (अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ एवं अमनाम) थी !

---

१. अशन—रोटी, दाल, शाक, भात आदि सामग्री अशन शब्द से अभिप्रेत है।

२. पानी मात्र का ग्रहण पान शब्द से किया गया है।

३. द्राक्ष, पिस्ता, बादाम आदि मेवे व मिठाई आदि पदार्थ खाद्य हैं।

४. पान, सुपारी, इलायची, लवंग आदि मुखवास योग्य पदार्थ स्वादिम शब्द से इष्ट हैं।

तदनन्तर उस महान् अशन, पान, खादिम, स्वादिम के सुगन्ध से आकृष्ट व मूर्च्छित हुए उस मृगापुत्र ने उस महान अशन, पान, खादिम, स्वादिम का मुख से आहार किया। शीघ्र ही वह नष्ट हो गया (जठराग्नि द्वारा पचा दिया गया) वह आहार तत्काल पीव (मवाद) व रुधिर के रूप में परिवर्तित हो गया। मृगापुत्र दारक ने पीव व रुधिर रूप में परिवर्तित उस आहार का वमन कर दिया। वह बालक अपने ही द्वारा वमन किये हुए उस पीव व रुधिर को भी खा गया।

मृगापुत्र-विषयक-प्रश्न

१९—तए णं भगवओ गोयमस्स तं मियापुत्तं दारगं पासित्ता अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—'अहो णं इमे दारए पुरापोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणे विहरइ। न मे दिट्ठा नरगा वा नेरइया वा। पच्चक्खं खलु अयं पुरिसे नरगपडिरूवयं वेयणं वेयइ।' त्ति कट्टु मियं देविं आपुच्छइ, आपुच्छित्ता मियाए देवीए गिहाओ पडिनिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता मियग्गामं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता-नमंसित्ता एवं वयासी—'एवं खलु अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मियग्गामं नयरं मज्झंमज्झेण अणुप्पविसामि, अणुपविसित्ता जेणेव मियाए देवीए गिहे तेणेव उवागए। तए णं से मियादेवी मम एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठा, तं चेव सव्वं जाव पूयं च सोणियं च आहारेइ। तए णं इमे अज्झत्थिए चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—अहो णं इमे दारए पुरा जाव विहरइ।

से णं भंते! पुरिसे पुव्वभवे के आसी? किंनामए वा किंगोत्तए वा? कयरंसि गामंसि वा नयरंसि वा? किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा समायरित्ता केसिं वा पुरा जाव विहरइ?

१९—मृगापुत्र दारक की ऐसी (वीभत्स तथा करुणाजनक) दशा को देखकर भगवान् गौतम स्वामी के मन में ये विकल्प उत्पन्न हुए—अहो! यह बालक पूर्वजन्मों के दुश्चीर्ण (दुष्टता से किए गए) व दुष्प्रतिकान्त (जिन कर्मों को विनष्ट करने का कोई सुगम उपाय ही नहीं है) अशुभ पापकर्मों के पापरूप फल को पा रहा है। नरक व नारकी तो मैंने नहीं देखे, परन्तु यह मृगापुत्र सचमुच नारकीय वेदनाओं का अनुभव करता हुआ (प्रत्यक्ष) प्रतीत हो रहा है। इन्हीं विचारों से आक्रान्त होते हुए भगवान् गौतम ने मृगादेवी से पूछ कर कि अब मैं जा रहा हूं, उसके घर से प्रस्थान किया। मृगाग्राम नगर के मध्यभाग से चलकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे; वहाँ पधार गये। पधारकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करके वन्दन तथा नमस्कार किया और वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—

भगवन्! आपश्री से आज्ञा प्राप्त करके मृगाग्राम नगर के मध्यभाग से चलता हुआ जहाँ मृगादेवी का घर था वहाँ मैं पहुचा। मुझे आते हुए देखकर मृगादेवी हृष्ट तुष्ट हुई यावत् पीव व शोणित-रक्त का आहार करते हुए मृगा-पुत्र को देखकर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ—अहह! यह बालक पूर्वजन्मोपार्जित महापापकर्मों का फल भोगता हुआ वीभत्स जीवन बिता रहा है। भगवन्! यह पुरुष मृगापुत्र पूर्वभव में कौन था? किस नाम व गोत्र का था? किस ग्राम अथवा नगर का रहने वाला था? क्या देकर, क्या भोगकर, किन-किन कर्मों का आचरण कर और किन-किन पुराने कर्मों के फल को भोगता हुआ जीवन बिता रहा है?

भगवान् द्वारा समाधान

२०—'गोयमा !' इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इह जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे सयदुवारे नामं नयरे होत्था रिद्धत्थिमिय ......। वण्णओ[1] । तत्थ णं सयदुवारे नयरे धणवई नामं राया होत्था । वण्णओ । तस्स णं सयदुवारस्स नयरस्स अदूरसामन्ते दाहिणपुरत्थिमे दिसीभाए विजयवद्धमाणे नामं खेडे होत्था । रिद्धत्थिमियसमिद्धे । तस्स णं विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंचगामसयाइं आभोए यावि होत्था । तत्थ णं विजयवद्धमाणे खेडे इक्काई नामं रट्ठकूडे होत्था, अहम्मिए जाव (अधम्माणुए अधम्मिट्ठे अधम्मक्खाई अधम्मपलोई अधम्मपलज्जणे अधम्मसमुदाचारे) दुप्पडियाणंदे । से णं इक्काई रट्ठकूडे विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पञ्चण्हं गामसयाणं आहेवच्चं जाव पालेमाणे विहरइ ।

२०—'हे गौतम !' इस तरह सम्बोधन करते हुए श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने भगवान् गौतम के प्रति इस प्रकार कहा—'हे गौतम ! उस काल तथा उस समय में इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में शतद्वार नामक एक समृद्धिशाली नगर था । उस नगर में धनपति नाम का एक राजा राज्य करता था । उस नगर से कुछ दूरी पर (न अधिक दूर और अधिक समीप) दक्षिण और पूर्व-दिशा के मध्य—अग्निकोण में विजयवर्द्धमान नामक एक खेट—(नदी व पर्वतों से घिरा हुआ अथवा धूलि के प्राकार से वेष्टित) नगर था जो ऋद्धि-समृद्धि आदि से परिपूर्ण था । उस विजयवर्द्धमान खेट का पांच सौ ग्रामों का विस्तार था । उस व जयवर्द्धमान खेट में इक्काई-एकादि नाम का राष्ट्रकूट—राजा की ओर से नियुक्त प्रतिनिधि—प्रान्ताधिपति था, जो परम अधार्मिक यावत् (अधर्मानुगामी, अधर्मानिष्ठ, अधर्मभाषी, अधमर्मानुरागी, अधर्माचारी) तथा दुष्प्रत्यानन्दी—परम असन्तोषी, (साधुजनविद्वेषी अथवा पापकृत्यों में ही सदा आनन्द मानने वाला) था । वह एकादि विजयवर्द्धमान खेट के पांच सौ ग्रामों का आधिपत्य—शासन और पालन करता हुआ जीवन बिता रहा था ।

इक्काई का अत्याचार

२१—तए णं से इक्काई विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंच गामसयाइं बहूहिं करेहि य भरेहि य विद्धीहि य उक्कोडाहि य पराभवेहि य दिज्जेहि य भिज्जेहि य कुंतेहि य लंछपोसेहि य आलीवणेहि य पंथकोट्टेहि य ओवीलेमाणे ओवीलेमाणे विहम्मेणाणे विहम्मेमाणे तज्जेमाणे तज्जेमाणे तालेमाणे तालेमाणे निद्धणे करेमाणे करेमाणे विहरइ ।

तए णं से इक्काई रट्ठकूडे विजयवद्धमाणस्स खेडस्स बहूणं राई-सर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-सेट्ठि-सत्थवाहाणं अन्नेसिं च बहूणं गामेल्लगपुरिसाणं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य गुज्झेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य सुणमाणे भणइ न 'सुणेमि', असुणमाणे भणइ 'सुणेमि' एवं पस्समाणे, भासमाणे, गिण्हमाणे जाणेमाणे' । तए णं से इक्काई रट्ठकूडे एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं कलिकलुसं समज्जिणमाणे विहरइ ।

२१—तदनन्तर वह एकादि नाम का प्रतिनिधि (प्रान्ताधिपति) विजयवर्द्धमान खेट के पांच सौ ग्रामों को करों-महसूलों से, करों की प्रचुरता से, किसानों को दिये धान्यादि के द्विगुण आदि के

1. औप० सूत्र—१

ग्रहण करने से, रिश्वत-घूसखोरी से, दमन से, अधिक व्याज से, हत्यादि के अपराध लगा देने से, धन-ग्रहण के निमित्त किसी को स्थान आदि का प्रबन्धक बना देने से, चोर आदि व्यक्तियों के पोषण से, ग्रामादि को जलाने से, पथिकों को मार पीट करने से, व्यथित-पीड़ित करता हुआ, धर्म से विमुख करता हुआ, कशादि से ताड़ित और सधनों को निर्धन करता हुआ प्रजा पर अधिकार जमा रहा था।

तदनन्तर वह राजप्रतिनिधि एकादि विजयवर्द्धमान खेट के राजा-मांडलिक, ईश्वर-युवराज तलवर-राजा के प्रिय कृपापात्र अथवा राजा की ओर से जिन्हें उच्च सन्मान, पदवी, आसन-स्थान-विशेष प्राप्त हुआ हो ऐसे नागरिक लोग, माडंबिक (मडंब—जिसके निकट दो-दो योजन तक कोई ग्राम न हो उस प्रदेश को मडंब कहते हैं, उसके अधिपति) कौटुम्बिक—बड़े कुटुम्बों के स्वामी, श्रेष्ठी, सार्थ-नायक तथा अन्य अनेक ग्रामीण पुरुषों के कार्यों में, कारणों मे, गुप्त मन्त्रणाओं में, निश्चयों और विवादास्पद निर्णयों अथवा व्यावहारिक बातों में सुनता हुआ भी कहता था कि "मैंने नहीं सुना" और नहीं सुनता हुआ कहता था कि "मैंने सुना है।" इसी प्रकार देखता हुआ, बोलता हुआ, ग्रहण करता हुआ और जानता हुआ भी वह कहता था कि मैंने देखा नहीं, बोला नहीं, ग्रहण किया नहीं और जाना नहीं। इसी प्रकार के वंचना-प्रधान कर्म करने वाला मायाचारों को ही प्रधान कर्तव्य मानने वाला, प्रजा को पीड़ित करने रूप विज्ञान वाला और मनमानी करने को ही सदाचरण मानने वाला, वह एकादि प्रान्ताधिपति दु:ख के कारणीभूत परम कलुषित पापकर्मों को उपार्जित करता हुआ जीवन-यापन कर रहा था।

इक्काई को भंयकर रोग

२२—तए णं तस्स रट्ठकूडस्स अन्नया कयाइ सरीरगंसि जमगसमगमेव सोलस रोगायंका पाउब्भूया। तं जहा—

सासे कासे जरे दाहे कुच्छिसूले भगंदरे।
अरिसे अजीरए दिट्ठी, मुद्धसूले अकारए॥
अच्छिवेयणा कण्ण-वेयणा कंडू उयरे कोढे॥

तए णं से इक्काई रट्ठकूडे सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूए समाणे कोडुम्बियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—"गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! विजयवद्धमाणे खेडे सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-महापह-पहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह—इह खलु देवाणु-प्पिया! इक्काई रट्ठकूडस्स सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्भूया, तं जहा—सासे कासे जरे जाव कोढे। तं जो णं इच्छइ देवाणुप्पिया! वेज्जो वा वेज्जपुत्तो वा जाणओ वा जाणयपुत्तो वा तेगिच्छी वा तेगिच्छिपुत्तो वा इक्काई रट्ठकूडस्स तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए तस्स णं इक्काई रट्ठकूडे विउलं अत्थसंपयाणं बलयइ। दोच्चं पि तच्चं पि उग्घोसेह, उग्घोसित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।"

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव पच्चप्पिणंति!

२२—उसके बाद किसी समय उसके शरीर में एक साथ ही सोलह प्रकार के रोगातंक (जीवन के लिये अत्यन्त कष्टकर अथवा लगभग असाध्य रोग) उत्पन्न हो गये। जैसे कि—श्वास,

कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, अर्श, बवासीर, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मस्तक-शूल, अरोक, अक्षि-वेदना, कर्णवेदना, खुजली, जलोदर, और कुष्टरोग—कोढ़।

तदनन्तर उक्त सोलह प्रकार के भयंकर रोगों से खेद को प्राप्त वह एकादि नामक प्रान्ताधिपति सेवकों को बुलाता है और बुलाकर इस प्रकार कहता है—"देवानुप्रियो! तुम जाओ और विजयवर्द्धमान खेट शृंगाटक (त्रिकोणमार्ग) त्रिक-त्रिपथ (जहाँ तीन मार्ग मिलते हों) चतुष्क-चतुष्पथ (जहाँ चार मार्ग एकत्रित होते हों) चत्वर (जहाँ चार से अधिक मार्गों का संगम होता हो) महापथ—राजमार्ग और साधारण मार्ग पर जाकर अत्यन्त ऊँचे स्वरों से इस तरह घोषणा करो—'हे देवानुप्रियो! एकादि प्रान्तपति के शरीर में श्वास, कास, ज्वर यावत् कोढ़ नामक १६ भयङ्कर रोगातंक उत्पन्न हुए हैं। यदि कोई वैद्य या वैद्यपुत्र, ज्ञायक या ज्ञायक-पुत्र, चिकित्सक या चिकित्सक-पुत्र उन सोलह रोगातंकों में से किसी एक भी रोगातंक को उपशान्त करे तो एकादि राष्ट्रकूट उसको बहुत सा धन प्रदान करेगा!' इस प्रकार दो तीन बार उद्घोषणा करके मेरी उस आज्ञा के यथार्थ पालन की मुझे सूचना दो।"

उन कौटुम्बिक पुरुषों-सेवकों ने आदेशानुसार कार्य सम्पन्न करके उसे सूचना दी।

२३—तए णं से विजयवद्धमाणे खेडे इमं एयारूवं उग्घोसणं सोच्चा निसम्म बहवे वेज्जा य जाव[1] सत्थकोसहत्थगया सएहिंतो सएहिंतो गिहेहिंतो पडिनिक्खमन्ति, पडिनिक्खमित्ता विजयवद्धमाणस्स खेडस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव इक्काई रट्ठकूडस्स गिहे तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छित्ता इक्काइरट्ठकूडस्स सरीरगं परामुसंति, परामुसित्ता तेसिं रोगाणं निदाणं पुच्छंति, पुच्छित्ता, इक्काइरट्ठकूडस्स बहूहिं अब्भंगेहि य उव्वट्टणेहि य सिणेहपाणेहि य वमणेहि य विरेयणेहि य सेयणाहि य अवद्दहणाहि य अवण्हाणेहि य अणुवासणाहिं य वत्थिकम्मेहि य निरूहेहिं य सिरावेहेहि य तच्छणेहि य पच्छणेहि य सिरोवत्थीहि य तप्पणाहि य पुडपागेहि य छल्लीहि य मूलेहि य फलेहि य बीएहि य सीलियाहि य गुलियाहि य ओसहेहि य भेसज्जेहि य इच्छंति तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए, नो चेव णं संचाएंति उवसामित्तए। तए णं ते बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणया य जाणयपुत्ता य तेगिच्छिया य तेगिच्छियपुत्ता य जाहे नो संचाएंति तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए, ताहे संता तंता परितंता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

२३—तदनन्तर उस विजयवर्द्धमान खेट में इस प्रकार की उद्घोषणा को सुनकर तथा अवधारण करके अनेक वैद्य, वैद्यपुत्र, ज्ञायक, ज्ञायकपुत्र, चिकित्सक, चिकित्सकपुत्र अपने अपने शस्त्रकोष (औजार रखने की पेटी या थैली) को हाथ में लेकर अपने घरों से निकलते हैं और निकलकर विजयवर्द्धमान नामक खेट के मध्यभाग से जाते हुए जहां एकादि प्रान्ताधिपति का घर था, वहाँ पर आते हैं। आकर एकादि राष्ट्रकूट के शरीर का संस्पर्श करते हैं, संस्पर्श करके निदान (रोगों के मूल कारण) की पृच्छा करते हैं और पूछकर के एकादि राष्ट्रकूट के इन सोलह रोगातंकों में से किसी एक रोगातंक को शान्त करने के लिये अनेक प्रकार के अभ्यंगन (मालिश), उद्वर्तन (उवटन-बरणा वगैरह मलने) स्नेहपान (घृतादि स्निग्ध पदार्थों के पान कराने), वमन (उल्टी कराने), विरेचन (जुलाब अथवा अधोद्वार से मल को निकालने, स्वेदन (पसीने), अवदन (गर्म लोहे के कोश आदि से चर्म पर दागने),

१. देखिए ऊपर का सूत्र १।१।१२२

अवस्नान (चिकनाहट दूर करने के लिए अनेक-विध द्रव्यों से संस्कारित जल से स्नान कराने), अनुवासन (गुदा द्वारा पेट में तैलादि के प्रवेश कराने), निरूह (औषधियों को डालकर पकाये गए तैल के प्रयोग—विरेचन विशेष), बस्तिकर्म (गुदा में बत्ती आदि के प्रक्षेप करने), शिरोवेध (नाड़ी के वेधन करने), तक्षण (क्षुरा, चाकू आदि सामान्य शस्त्रों द्वारा कर्तन-काटना), प्रतक्षण (विशेष रूप से कर्तन—बारीक शस्त्रों से त्वचा विदारण करने) शिरोवस्ति (सिर में चर्म कोश बाँधकर उसमें औषधि-द्रव्य-संस्कृत तैलादि को पूर्ण कराने-भराने) तर्पण (स्निग्ध पदार्थों से शरीर को बृंहण—तृप्त करने) पुटपाक—(अमुक रस का पुट देकर पकाई हुई औषध) छल्ली (छाल) मूलकन्द (मूली, गाजर, आलू आदि जमीकन्द) शिलिका (चिरायता आदि औषध) गुटिका—अनेक द्रव्यों को महीन पीसकर औषध के रस की भावना आदि से बनाई गई गोलियें) औषध (एक द्रव्यनिर्मित दवा) और भेषज्य (अनेक-द्रव्य-संयोजित दवा) आदि के प्रयोग से प्रयत्न करते हैं अर्थात्—इन पूर्वोक्त साधनों का रोगोपशान्ति के लिए उपयोग करते हैं परन्तु उपर्युक्त अनेक प्रकार के प्रयोगात्मक उपचारों से वे इन सोलह रोगों में से किसी एक रोग को भी उपशान्त करने में समर्थ न हो सके ! जब उन वैद्यपुत्रादि श्रान्त (शारीरिक खेद) तान्त (मानसिक खेद) तथा परितान्त (शारीरिक व मानसिक खेद) से खेदित हुए जिधर से आये थे उधर ही चल दिए ।

इक्काई की मृत्यु : मृगापुत्र का वर्तमान भव

२४—तए णं इक्काई रट्ठकूडे वेज्ज-पडियाइक्खिए परियारगपरिच्चत्ते निव्विण्णोसहभेसज्जे सोलहरोगायंकेहिं अभिभूए समाणे रज्जे य रट्ठे य जाव (कोसे य कोट्ठागारे य बले य वाहणे य पुरे य) अन्तउरे य मुच्छिए रज्जं च रट्ठं च आसाएमाणे पत्थेमाणे पीहमाणे अभिलसमाणे अट्टदुहट्टवसट्टे अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने । से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव मियग्गामे नयरे विजयस्स खत्तियस्स मियाए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने !

२४—इस प्रकार वैद्यों के द्वारा प्रत्याख्यात होकर (अर्थात् इन रोगों का प्रतीकार और उपचार हमसे सम्भव नहीं है, इस तरह कहे जाने पर) सेवकों द्वारा परित्यक्त होकर औषध और भैषज्य से निर्विण्ण (उदासीन) विरक्त-उपरत, सोलह रोगातंकों से परेशान, राज्य, राष्ट्र-देश, यावत् (कोष, भंडार, बल, वाहन, पुर तथा) अन्तःपुर-रणवास में मूर्छित-आसक्त एवं राज्य व राष्ट्र का आस्वादन प्रार्थना स्पृहा-इच्छा और अभिलाषा करता हुआ वह एकादि प्रान्तपति आर्त—मनोव्यथा से व्यथित, दुखार्त—शारीरिक पीड़ा से पीड़ित और वशार्त—इन्द्रियाधीन होने से परतन्त्र—स्वाधीनता रहित जीवन व्यतीत करके २५० वर्ष की सम्पूर्ण आयु को भोगकर यथासमय काल करके इस रत्नप्रभा पृथिवी—प्रथम नरक में उत्कृष्ट एक सागरोपम की स्थिति वाले नारकों में नारकरूप से उत्पन्न हुआ । तदनन्तर वह एकादि का जीव भवस्थिति संपूर्ण होने पर नरक से निकलते ही इस मृगाग्राम नगर में विजय क्षत्रिय की मृगादेवी नाम की रानी की कुक्षि में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ ।

२५—तए णं तीसे मियादेवीए सरीरे वेयणा पाउब्भूया, उज्जला जाव दुरहियासा । जप्पभिइं च णं मियापुत्ते दारए मियाए देवीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए उववन्ने, तप्पभिइं च णं मियादेवी विजयस्स खत्तियस्स अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुन्ना अमणामा जाया यावि होत्था ।

२५—मृगादेवी के उदर में उत्पन्न होने पर मृगादेवी के शरीर में उज्ज्वल यावत् ज्वलन्त—उत्कट व जाज्वल्यमान वेदना उत्पन्न हुई—तीव्रतर वेदना का प्रादुर्भाव हुआ। जिस दिन से मृगापुत्र बालक मृगादेवी के उदर में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ, तबसे लेकर वह मृगादेवी विजय नामक क्षत्रिय को अनिष्ट, अमनोहर, अप्रिय, अमनोज्ञ-असुन्दर—मन को न भाने वाली—मन से उतरी हुई, अप्रिय हो गयी।

२६—तए णं तीसे मियाए देवीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियाए जागरमाणीए इमे एयारूवे अज्झत्थिए जाव[1] समुप्पज्जित्था—"एवं खलु अहं विजयस्स खत्तियस्स पुव्वि इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणामा धेज्जा विसासिया अणुमया आसी। जप्पभिइं च णं मम इमे गब्भे कुच्छिसि गब्भत्ताए उववन्ने, तप्पभिइं च णं अहं विजयस्स खत्तियस्स अणिट्ठा जाव अमणामा जाया यावि होत्था। नेच्छइ णं विजए खत्तिए मम नामं व गोयं वा गिण्हित्तए वा, किमंगपुण दंसणं वा परिभोगं वा। तं सेयं खलु ममं एयं गब्भं बहूहिं गब्भसाडणाहि य पाडणाहि य गालणाहि य मारणाहि य साडित्तए वा पाडित्तए वा गालित्तए वा मारित्तए वा एवं संपेहेइ, संपेहित्ता बहूणि खाराणि य कडुयाणि य तवूराणि य गब्भसाडणाणि य खायमाणी य पीयमाणी य इच्छइ तं गब्भं साडित्तए-४ नो चेव णं से गब्भे सडइ वा-४। तए णं सा मियादेवी जाहे नो संचाएइ तं गब्भं साडित्तए वा-४ ताहे संता तंता परितंता अकामिया असयंवसा तं गब्भं दुहं-दुहेणं परिवहइ।

२६—तदनन्तर किसी काल में मध्यरात्रि के समय कुटुम्बचिन्ता से जागती हुई उस मृगादेवी के हृदय में यह अध्यवसाय-विचार उत्पन्न हुआ कि मैं पहले तो विजय क्षत्रिय को इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और अत्यन्त मनगमती, ध्येय, चिन्तनीय, विश्वसनीय व सम्माननीय थी परन्तु जबसे मेरी कुक्षि में यह गर्भस्थ जीव गर्भ के रूप में उत्पन्न हुआ तबसे विजय क्षत्रिय को मैं अप्रिय यावत् मन से अग्राह्य हो गई हूँ। इस समय विजय क्षत्रिय मेरे नाम तथा गोत्र को ग्रहण करना—अरे स्मरण करना भी नहीं चाहते! तो फिर दर्शन व परिभोग-भोगविलास की तो बात ही क्या है? अतः मेरे लिये यही श्रेयस्कर है कि मैं इस गर्भ को अनेक प्रकार की शातना (गर्भ को खण्ड-खण्ड कर गिरा देने वाले प्रयोग) पातना (अखण्ड रूप से गर्भ को गिराने रूप क्रियाओं से) गालना (गर्भ को द्रवीभूत करके गिराने रूप उपायों से) व मारणा (मारने वाले प्रयोग) से नष्ट कर दूँ। इस प्रकार वह शातना, पातना, गालना और मारणा के लिये विचार करती है और विचार करके गर्भपात के लिये गर्भ को गिरा देने वाली क्षारयुक्त (खारी), कड़वी, कसैली, औषधियों का भक्षण तथा पान करती हुई उस गर्भ के शातन, पातन, गालन व मारण करने की इच्छा करती है। परन्तु वह गर्भ उपर्युक्त सभी उपायों से भी शातन, पातन, गालन व मारण रूप नाश को प्राप्त नहीं हुआ। तब वह मृगादेवी शरीर से श्रान्त, मन से दुःखित तथा शरीर और मन से खिन्न होती हुई इच्छा न रहते हुए भी विवशता के कारण अत्यन्त दुःख के साथ गर्भ वहन करने लगी।

२७—तस्स णं दारगस्स गब्भगयस्स चेव अट्ठ नालीओ अब्भिंतरप्पवहाओ, अट्ठ नालीओ बाहिरप्पवहाओ, अट्ठ पूयप्पवहाओ, अट्ठ सोणियप्पवहाओ, दुवे-दुवे कण्णंतरेसु, दुवे दुवे अच्छि-अंतरेसु,

---

१. देखिए सूत्र १।१।१९

दुवे दुवे नक्कंतरेसु, दुवे दुवे धमणि-अंतरेसु अभिक्खणं अभिक्खणं पूयं च सोणियं च परिस्सवमाणीओ परिस्सवमाणीओ चेव चिट्ठंति ।

तस्स णं दारगस्स गब्भगयस्स चेव अग्गिए नामं वाही पउब्भूए । जे णं से दारए आहारेइ, से णं खिप्पामेव विद्धंसमागच्छइ, पूयत्ताए सोणियत्ता य परिणमइ । तं पि य से पूयं च सोणियं च आहारेइ ।

२७—गर्भगत उस बालक की आठ नाड़ियाँ अन्दर की ओर बह रही थी और आठ नाड़ियाँ बाहर की ओर बह रही थी । उनमें प्रथम आठ नाड़ियों से रुधिर बह रहा था । इन सोलह नाड़ियों में से दो नाड़ियाँ कर्ण-विवरों—छिद्रों में, दो-दो नाड़ियाँ नेत्रविवरों में, दो-दो नासिकाविवरों में तथा दो-दो धमनियों (हृदयकोष्ठ के भीतर की नाड़ियों) में बार-बार पीव व लोहू बहा रही थी । गर्भ में ही उस बालक को भस्मक नामक व्याधि उत्पन्न हो गयी थी, जिसके कारण वह बालक जो कुछ खाता, वह शीघ्र ही भस्म हो जाता था, तथा वह तत्काल पीव व शोणित के रूप में परिणत हो जाता था । तदनन्तर वह बालक उस पीव व शोणित को भी खा जाता था ।

२८—**तए णं सा मियादेवी अन्नया कयाइ नवण्हं मासाणं बहुपुण्णाणं दारगं पयाया जाइ-अन्धे जाव [जाइमूए जाइबहिरे, जाइपंगुले हुंडे य वायव्वे । णत्थि णं तस्स दारगस्स हत्था वा पाया वा कण्णा वा अच्छी वा नासा वा । केवलं से तेसिं अंगाणं] आगिइमेत्ते । तए णं सा मियादेवी तं दारगं हुंडं अन्धरूवं पासइ, पासित्ता भीया तत्था तसिया उव्विग्गा संजातभया अम्मधाइं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं देवाणुप्पिया ! तुमं एयं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झाहि ।'**

तए णं सा अम्मधाई मियादेवीए 'तह' त्ति एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जेणेव विजए खत्तिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं जाव (सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु) एवं वयासी—'एवं खलु सामी ? मियादेवी नवण्हं मासाणं जाव आगिइमेत्ते ! तए णं सा मियादेवी तं हुंडं अन्धरूवं पासइ, पासित्ता भीया तत्था उव्विग्गा संजायभया ममं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! एयं दारगं एगन्ते उक्कुरुडियाए उज्झाहि ।' तं संदिसह णं सामी ! तं दारगं अहं एगन्ते उज्झामि उदाहु मा !"

२८—तत्पश्चात् नौ मास परिपूर्ण होने के अनन्तर मृगादेवी ने एक बालक को जन्म दिया जो जन्म से अन्धा और अवयवों की आकृति मात्र रखने वाला था । तदनन्तर विकृत, बेहूदे अंगोपांग वाले तथा अन्धरूप उस बालक को मृगादेवी ने देखा और देखकर भय, त्रास, उद्विग्नता और व्याकुलता को प्राप्त हुई । (भयातिरेक से उसका शरीर कांपने लगा) उसने तत्काल धायमाता को बुलाया और बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिये ! तुम जाओ और इस बालक को ले जाकर एकान्त में किसी कूड़े-कचरे के ढेर (रोडी) पर फेंक आओ । तदनन्तर उस धायमाता ने मृगादेवी के इस कथन को 'बहुत अच्छा' इस प्रकार कहकर स्वीकार किया और स्वीकार करके वह जहाँ विजय नरेश थे वहाँ पर आयी और दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगी—'हे स्वामिन् ! पूरे नव मास हो जाने पर मृगादेवी ने एक जन्मान्ध यावत् अवयवों की आकृति मात्र रखने वाले बालक को जन्म दिया है । उस हुण्ड बेहूदे अवयववाले, विकृतांग, व जन्मान्ध बालक को देखकर मृगादेवी भयभीत हुई और मुझे बुलाया । बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिये ! तुम जाओ और इस बालक को ले जाकर

एकान्त में किसी कूड़े-कचरे के ढेर पर फेंक आओ। अतः हे स्वामिन् ! आप ही मुझे बतलाएँ कि मैं उसे एकान्त में ले जाकर फेंक आऊँ या नहीं ?

२९—तए णं से विजए खत्तिए तीसे अम्मधाईए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म तहेव संभंते उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेत्ता जेणेव मियादेवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मियादेविं एवं वयासी—'देवाणुप्पिया ! तुब्भं पढमं गब्भे। तं जइ णं तुब्भे एयं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झसि, तओ णं तुब्भं पया नो थिरा भविस्सइ। तो णं तुमं एयं दारगं रहस्सियगंसि भूमिघरंसि रहस्सिएणं भत्तपाणेणं पडिजागरमाणी विहराहि; तो णं तुब्भं पया थिरा भविस्सइ।" तए णं सा मियादेवी विजयस्स खत्तियस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तं दारगं रहस्सियंसि भूमिघरंसि रहस्सिएणं भत्तपाणेणं पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ।

२९—उसके बाद वह विजय नरेश उस धायमाता के पास से यह सारा वृत्तान्त सुनकर सम्भ्रान्त—व्याकुल—से होकर जैसे ही बैठे थे (सत्वर) उठकर खड़े हो गये। खड़े होकर जहाँ रानी मृगादेवी थी, वहां आये और मृगादेवी से इस प्रकार कहने लगे—'हे देवानुप्रिये ! तुम्हारा यह प्रथम गर्भ है, यदि तुम इसको (एकान्त स्थान में) कूड़े-कचरे के ढेर पर फिकवा दोगी तो तुम्हारी भावी प्रजा-सन्तान स्थिर न रहेगी अर्थात् उसे हानि पहुँचेगी। अतः (फेंकने की अपेक्षा) तुम इस बालक को गुप्त भूमिगृह (भोंरे) में रखकर गुप्त रूप से भक्तपानादि के द्वारा इसका पालन-पोषण करो। ऐसा करने से तुम्हारी भावी सन्तति स्थिर रहेगी। तदनन्तर वह मृगादेवी विजय क्षत्रिय के इस कथन को स्वीकृतिसूचक "तथेति" (बहुत अच्छा) ऐसा कहकर विनम्र भाव से स्वीकार करती है और स्वीकार करके उस बालक को गुप्त भूमिगृह में स्थापित कर गुप्तरूप से आहारपानादि के द्वारा पालन-पोषण करती हुई समय व्यतीत करने लगी।

३०—एवं खलु गोयमा ! मियापुत्ते दारए पुरापोराराणं जाव[1] पच्चणुभवमाणे विहरइ !

३०—भगवान् महावीर स्वामी फरमाते हैं—हे गौतम ! यह मृगापुत्र दारक अपने पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों का प्रत्यक्ष रूप से फलानुभव करता हुआ इस तरह समय-यापन कर रहा है।

मृगापुत्र का भविष्य

३१—मियापुत्ते णं भंते ! दारए इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गमिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?

३१—हे भगवन् ! यह मृगापुत्र नामक दारक यहाँ से मरणावसर पर मृत्यु को पाकर कहाँ जायगा ? और कहाँ पर उत्पन्न होगा ?

३२—गोयमा ! मियापुत्ते दारए छव्वीसं वासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इहेव जम्बुद्दीवे द्दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले सीहकुलंसि सीहत्ताए पच्चायाहिइ। से णं तत्थ सीहे भविस्सइ अहम्मिए जाव बहुनगरणिग्गयजसे सूरे दढप्पहारी साहसिए, सुबहुं पावकम्मं समज्जिणइ, समज्जिणित्ता, कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसं सागरोवमट्ठिइएसु जाव (नेरइएसु नेरइयत्ताए) उववज्जिहिइ।

---

१. सूत्र १।१।१८

से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता सरीसवेसु उववज्जिहिइ। तत्थ णं कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए उक्कोसियाए तिण्णि सागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिइ।

से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता पक्खीसु उववज्जिहिइ। तत्थ वि कालं किच्चा, तच्चाए पुढवीए सत्त सागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिति।

से णं तओ सीहेसु। तयाणंतरं चोत्थीए। उरगो, पंचमीए। इत्थीओ, छट्ठीए। मणुओ, अहे सत्तमीए। तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता से जाइं इमाइं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छ-कच्छभ गाह-मगर-सुंसुमाराईणं अद्धतेरस-जाइकुल-कोडिजोणिपमुहसयसहस्साइं, तत्थ णं एगमेगंसि जोणि-विहाणंसि अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता, तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाइस्सइ। से णं तओ अणंतरं उवट्टित्ता चउप्पएसु एवं उरपरिसप्पेसु, भुयपरिसप्पेसु, खहयरेसु, चउरिंदिएसु, तेइंदिएसु, बेइन्दिएसु, वणप्फइए कडुयरुक्खेसु, कडुयदुद्धिएसु, वाउ-तेउ-आउ-पुढवीसु अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाइस्सइ।

से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता सुपइट्ठपुरे नयरे गोणत्ताए पच्चायाहिइ। से णं तत्थ उम्मुक्क-बालभावे अन्नया कयाइ पढमपाउसंसि गंगाए महानईए खलीणमट्टियं खणमाणे तडीए पेल्लिए समाणे कालगए तत्थेव सुपइट्ठपुरे नयरे सेट्ठिकुलंसि पुमत्ताए पच्चायाहिस्सइ।

से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म मुंडे भवित्ता अगराओ अणगारियं पव्वइस्सइ। से णं तत्थ अणगारे भविस्सइ, इरियासमिए जाव (भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिए, मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते, गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्त-) बंभयारी। से णं तत्थ बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिइ। से णं तओ अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवंति अड्ढाइं······ जहा दढपइन्ने, सा चेव वत्तव्वया, कलाओ जाव सिज्झिहिइ।

एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि।

॥ पढमं अज्झयणं समत्तं ॥

३१—(गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान्श्री ने कहा—) हे गौतम! मृगापुत्र दारक २६ वर्ष के परिपूर्ण आयुष्य को भोगकर मृत्यु का समय आने पर काल करके इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में वैताढ्य पर्वत की तलहटी में सिंहकुल में सिंह के रूप में उत्पन्न होगा। वह सिंह महाअधर्मी तथा पापकर्म में साहसी बनकर अधिक से अधिक पापरूप कर्म एकत्रित करेगा। वह सिंह मृत्यु का समय आने मर मृत्यु को प्राप्त होकर इस रत्नप्रभापृथ्वी नामक पहली नरकभूमि में, जिसकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है;—उन नारकियों में उत्पन्न होगा। अन्तररहित—विना व्यवधान के पहली नरक से निकलकर सीधा सरीसृपों (भुजाओं अथवा छाती के बल से चलने वाले तिर्यञ्च प्राणियों) की योनियों में उत्पन्न होगा। वहाँ से काल करके दूसरे नरक में, जिसकी उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की है, उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर सीधा पक्षी-योनि

में उत्पन्न होगा। वहाँ से मृत्यु के समय काल करके सात-सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले तीसरे नरक में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर सिंह की योनि में उत्पन्न होगा। वहाँ वह बड़ा अधर्मी, दूर-दूर तक प्रसिद्ध शूर एवं गहरा प्रहार करने वाला होगा। वहाँ से काल करके चौथी नरकभूमि में जन्म लेगा। चौथे नरक से निकलकर सर्प बनेगा। वहाँ से पाँचवें नरक में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर स्त्रीरूप में उत्पन्न होगा। स्त्री पर्याय से काल करके छट्ठे नरक में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर पुरुष होगा। वहाँ से काल करके सबसे निकृष्ट सातवीं नरक भूमि में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर जो ये पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में मच्छ, कच्छप, ग्राह, मगर, सुंसुमार आदि जलचर पञ्चेन्द्रिय जाति में योनियाँ हैं—उत्पत्तिस्थान हैं, एवं कुलकोटियों में, जिनकी संख्या साढ़े बारह लाख है, उनके एक एक योनि-विधान—योनि-भेद में लाखों बार उत्पन्न होकर पुनः पुनः उत्पन्न होकर मरता रहेगा। तत्पश्चात् चतुष्पदों में (चौपाये—पशु-योनि में) उरपरिसर्प—छाती के बल चलने वालों में, भुज-परिसर्प—भुजाओं के बल चलने वालों में, खेचर—आकाश में उड़ सकने वाले जीवों में, एवं चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और दो इन्द्रिय वाले प्राणियों में तथा वनस्पति कायान्तर्गत कटु—कड़वे वृक्षों में, कटु दुग्धवाली अर्कादि वनस्पतियों में, वायुकाय, तेजस्काय, अप्काय व पृथ्वीकाय में लाखों-लाखों बार जन्म मरण करेगा।

तदनन्तर वहाँ से निकलकर सुप्रतिष्ठपुर नामक नगर में वृषभ (बैल) के पर्याय में उत्पन्न होगा। जब वह बाल्यावस्था को त्याग करके युवावस्था में प्रवेश करेगा तब किसी समय, वर्षाऋतु के आरम्भ-काल में गंगा नामक महानदी के किनारे पर स्थित मृत्तिका—मिट्टी को खोदता हुआ नदी के किनारे पर गिर जाने से पीड़ित होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जायगा। मृत्यु को प्राप्त हो जाने के अनन्तर उसी सुप्रतिष्ठपुर नामक नगर में किसी श्रेष्ठि के घर में पुत्ररूप से उत्पन्न होगा। वहाँ पर वह बालभाव का परित्याग कर युवावस्था को प्राप्त होने पर तथारूप-साधुजनोचित गुणों को धारण करने वाले स्थविर-वृद्ध जैन साधुओं के पास धर्म को सुनकर, मनन कर तदनन्तर मुण्डित होकर अगारवृत्ति का परित्याग कर अनगारधर्म को प्राप्त करेगा अर्थात् गृहस्थावस्था को छोड़ कर साधुधर्म को अङ्गीकार करेगा। अनगारधर्म में ईर्यासमिति युक्त यावत् ब्रह्मचारी होगा। वह बहुत वर्षों तक यथाविधि श्रामण्य-पर्याय (साधुवृत्ति) का पालन करके आलोचना व प्रतिक्रमण से आत्मशुद्धि करता हुआ समाधि को प्राप्त कर समय आने पर कालमास में काल प्राप्त करके सौधर्म नाम के प्रथम देव-लोक में देवरूप में उत्पन्न होगा। तदनन्तर देवभव की स्थिति पूरी हो जाने पर वहां से च्युत होकर (देवशरीर को छोड़कर) महाविदेह क्षेत्र में जो आढ्य-सम्पन्न (धनाढ्य) कुल हैं;—उनमें उत्पन्न होगा। वहाँ उसका कलाभ्यास, प्रव्रज्याग्रहण यावत् मोक्षगमन रूप वक्तव्यता दृढप्रतिज्ञ की भांति ही समझ लेनी चाहिये।

सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू! इस प्रकार से निश्चय ही श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने, जो कि मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं; दुःखविपाक के प्रथम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार मैंने प्रभु से साक्षात् सुना है; उसी प्रकार हे जम्बू! मैं तुमसे कहता हूँ।

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

द्वितीय अध्ययन

उत्क्षेप

१—'जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, बीयस्स णं भंते । अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पन्नत्ते ?'

तए णं से सुहम्मे अणगारे जम्बु अणगारं एवं वयासी—

जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! यदि मोक्ष-संप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के प्रथम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादित किया है तो हे भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने, जो यावत् मोक्ष को प्राप्त हुए हैं;—विपाकसूत्र के द्वितीय अध्ययन का क्या अर्थ बताया है ? इसके उत्तर में श्रीसुधर्मा अनगार ने श्रीजम्बू अनगार को इस प्रकार कहा—

२—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामे नामं नयरे होत्था। रिद्धत्थिमियसमिद्धे। तस्स णं वाणियग्गामस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए दूईपलासे नामं उज्जाणे होत्था। तत्थ णं दूईपलासे सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था। तत्थ णं वाणियग्गामे मित्ते नामं राया होत्था। वण्णओ। तस्स णं मित्तस्स रन्नो सिरी नामं देवी होत्था। वण्णओ।

२—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में वाणिजग्राम नामक एक नगर था जो ऋद्धि-स्तिमित-समृद्ध (ऋद्ध अर्थात् गगनचुम्बी अनेक बड़े-बड़े ऊँचे महलों वाला तथा अनेकानेक जनों से व्याप्त था तथा स्तिमित—अर्थात् स्वचक्र तथा परचक्र के भय से नितान्त रहित व समृद्ध अर्थात् धनधान्य आदि महाऋद्धियों से सम्पन्न) था। उस वाणिजग्राम के उत्तरपूर्व दिशा के मध्यभाग-ईशानकोण में दूतिपलाश नामक उद्यान था। उस दूतिपलाश संज्ञक उद्यान में सुधर्मा नाम के यक्ष का यक्षायतन था। उस वाणिजग्राम नामक नगर में मित्र नामक राजा था जिसका वर्णन-प्रकरण पूर्ववत् ही जानना। उस मित्र राजा की श्री नाम की पटरानी थी। उसका वर्णन भी पूर्ववत् ही जानना।

३—तत्थ णं वाणियग्गामे कामज्झया नामं गणिया होत्था। अहीण जाव (पडिपुण्णपंचिंदियसरीरा लक्खण-वंजण-गुणोववेया माणुम्माण-प्पमाण-पडिपुण्ण-सुजाय-सव्वंगसुंदरंगी ससिसोमाकाराकंत-पियदंसणा) सुरूवा, बावत्तरिकलापंडिया, चउसट्ठि-गणिया-गुणोववेया एगूणतीसविसेसे रममाणी, एकवीसरइगुणप्पहाणा बत्तीस-पुरिसोवयारकुसला, नवंगसुत्तपडिबोहिया, अट्ठारसदेसीभासाविसारया, सिंगारागारचारुवेसा, गीयरइगन्धव्व-नट्टकुसला संगय-गय-भणिय-हसिय-विहिय-विलास-सललिय-संलाव-निउणजुत्तोवयारकुसला सुन्दरत्थण-जहण-वयण-कर-चरण-नयण-लावण्ण-विलासकलिया ऊसियज्झया सहस्सलंभा, विदिण्णछत्त-चामर-वालवीयणीया, कण्णीरहप्पयाया यावि होत्था। बहूणं गणियासहस्साणं आहेवच्चं जाव (पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणा-ईसर-सेणावच्चं कारेमाणी पालेमाणी) विहरइ।

३—उस वाणिजग्राम नगर में सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीर वाली, लक्षणों, मसा-

तिलकादि व्यञ्जनों एवं गुणों से परिपूर्ण, प्रमाणोपेत समस्त अंगोपांगों वाली, चन्द्रमा के समान सौम्य आकृति से युक्त, कमनीय, सुदर्शन, परम सुन्दरी, ७२ कलाओं में कुशल, गणिका के ६४ गुणों से युक्त, २९ प्रकार के विशेषों-विषयगुणों में रमण करने वाली, २१ प्रकार के रतिगुणों में प्रधान, कामशास्त्र प्रसिद्ध पुरुष के ३२ उपचारों में कुशल, सुप्त नव अंगों से जागृत अर्थात् जिसके नव अंग (दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक जिह्वा, एक त्वचा और मन) जागे हुए हैं, अठारह देशों की अठारह प्रकार की भाषाओं में प्रवीण, शृंगारप्रधान वेषयुक्त अर्थात् जिसका सुन्दर वेष मानो शृंगार का घर ही हो ऐसी, गीत (संगीत-विद्या) रति (कामक्रीडा) गान्धर्व (नृत्ययुक्त गीत) नाटय (नृत्यकला) में कुशल मन को आकर्षित करने वाली, उत्तम गति-गमन से युक्त (हास्य बोलचाल, व्यवहार एवं उचित उपचार में कुशल, स्तनादिगत सौन्दर्य से युक्त, गीत, नृत्यादि कलाओं से हजार मुद्रा का लाभ लेने वाली (कमाने वाली, जिसका एक रात्रि का शुल्क सहस्र स्वर्णमुद्राएँ थीं), जिसके विलास भवन पर ऊँची ध्वजा फहरा रही थी, जिसको राजा की ओर से पारितोषिक रूप में छत्र, चामर-चँवर, बाल व्यंजनिका—चॅवरी या छोटा पंखा कृपापूर्वक प्रदान किये गए थे और जो कर्णीरथ नामक रथविशेष से गमनागमन करने वाली थी; ऐसी काम-ध्वजा नाम की गणिका-वेश्या रहती थी जो हजारों गणिकाओं का स्वामित्व, नेतृत्व करती हुई समय व्यतीत कर रही थी।

उज्झितक-परिचय

४—तत्थ णं वाणियग्गामे विजयमित्ते नामं सत्थवाहे परिवसइ। अड्ढे। तस्स णं विजयमित्तस्स सुभद्दा नामं भारिया होत्था। अहीण।[1] तस्स णं विजयमित्तस्स पुत्ते सुभद्दाए भारियाए अत्तए उज्झियए नामं दारए होत्था। अहीण जाव[2] सुरूवे।

४—उस वाणिजग्राम नगर में विजयमित्र नामक एक धनी सार्थवाह—व्यापारीवर्ग का मुखिया निवास करता था। उस विजयमित्र की अन्यून पञ्चेन्द्रिय शरीर से सम्पन्न (सर्वाङ्गसुन्दर) सुभद्रा नाम की भार्या थी। उस विजयमित्र का पुत्र और सुभद्रा का आत्मज उज्झितक नामक सर्वाङ्ग-सम्पन्न और रूपवान् बालक था।

५—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे। परिसा निग्गया। राया जहा कूणिओ तहा निग्गओ। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया, राया य गओ।

५—उस काल तथा उस समय में श्रमण भगवान् महावीरस्वामी वाणिजग्राम नामक नगर में (नगर के बाहर ईशान-कोण में स्थित दूतिपलाश उद्यान में) पधारे। प्रजा उनके दर्शनार्थ नगर से निकली। राजा भी कूणिक नरेश की तरह भगवान् के दर्शन को गया। भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया। उपदेश को सुनकर जनता तथा राजा दोनों वापिस चले गये।

उज्झितक की दुर्दशा

६—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूई नामं अणगारे जाव[3] लेस्से छट्ठं-छट्ठेणं जहा पण्णत्तीए पढमाए जाव—(पोरिसीए सज्झायं करेइ, बीयाए

१-२. द्वितीय अध्ययन, सूत्र-३. ३. प्र. अ., सूत्र-२

पोरिसीए झाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए अचवलमतुरिय-मसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता भायण-वत्थाइं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता भायणाइं पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइं उग्गाहेइ, उग्गाहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे छट्ठक्खमण-पारणगंसि वाणियग्गामे नयरे उच्चनीयमज्झिमकुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए।

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं !'

तए णं भयवं गोयमे समणेण भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दुइपलासाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अतुरियमचवलम-संभंते जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरओरियं सोहेमाणे सोहेमाणे) जेणेव वाणियग्गामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खा-यरियाए अडमाणे जेणेव रायमग्गे तेणेव ओगाढे।

तत्थ णं बहवे हत्थी पासइ, सन्नद्धबद्धवम्मियगुडियउप्पीलियकच्छे, उद्दामिय घंटे, नानामणि-रयणविविहगेवेज्जउत्तरकंचुइज्जे, पडिकप्पिए, झय-पडागवरपंचामेल-आरूढ-हत्थारोहे, गहियाउहप्पहरणे।

अन्ने य तत्थ बहवे आसे पासइ, सन्नद्धबद्धवम्मियगुडिए, आविद्धगुडे, ओसारियपक्खरे, उत्तरकंचुइय-ओचूल-मुहचण्डाधर-चामर-थासगपरिमंडियकडिए, आरूढआसारोहे गहियाउहप्पहरणे।

अण्णे य तत्थ बहवे पुरिसे पासइ सन्नद्धबद्धवम्मियकवए, उप्पीलियसरासणपट्टिए पिणद्ध-गेवेज्जे, विमलवरबद्ध-चिंधपट्टे, गहियाउहप्पहरणे।

तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासइ अवओडियबन्धणं उक्कित्तकण्णनासं नेहतुप्पियगत्तं, वज्झ-करकडिजुयनियत्थं[1], कंठेगुणरत्तमल्लदामं, चुण्णगुंडियगत्तं, चुण्णयं वज्झ-पाणपियं तिलं-तिलं चेव छिज्जमाणं कागणिमंसाइं खावियंतं पावं, खक्खरगसएहिं हम्ममाणं, अणेगनरनारीसंपरिवुडं चच्चरे चच्चरे खंडपडहएणं उग्घोसिज्जमाणं। इमं च णं एयारूवं उग्घोसणं पडिसुणेइ—'नो खलु देवाणुप्पिया ! उज्झियगस्स दारगस्स केइ राया वा रायपुत्तो वा अवरज्झइ; अप्पणो से सयाइं कम्माइं अवरज्झंति !

६—उस काल तथा उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति नामक अनगार, जो कि तेजोलेश्या को संक्षिप्त करके अपने अन्दर धारण किये हुए हैं तथा बेले की तपस्या करते हुए भगवती सूत्र में वर्णित जीवनचर्या चलाने वाले हैं, जैसे कि प्रथम-प्रहर में स्वाध्याय करके, दूसरे प्रहर में ध्यान और तीसरे प्रहर में मुखवस्त्रिका पात्र आदि का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके धीमी गति से भगवान् महावीर के पास गए। षष्ठ-भक्त के पारण की आज्ञा प्राप्त की। फिर वाणिज-ग्राम नगर में उच्च, नीच एवं मध्यम कुलों में भिक्षा के लिये ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए जहाँ राजमार्ग—प्रधान मार्ग है वहाँ पर पधारे।

वहाँ (राजमार्ग में) उन्होंने अनेक हाथियों को देखा। वे हाथी युद्ध के लिये उद्यत थे, जिन्हें

---

१. पाठान्तर—वज्झकक्खडियजुयनियत्थं (मोदी).

कवच पहिनाए हुए थे, जो शरीररक्षक उपकरण (झूल) आदि धारण किये हुए थे, जिनके उदर (पेट) दृढ़ बन्धन से बांधे हुए थे। जिनके झूलों के दोनों तरफ बड़े बड़े घण्टे लटक रहे थे। जो नाना प्रकार के मणियों और रत्नों से जड़े हुए विविध प्रकार के ग्रैवेयक (कण्ठाभूषण) पहने हुए थे तथा जो उत्तर कंचुक नामक तनुत्राणविशेष एवं अन्य कवच आदि सामग्री धारण किये हुए थे। जो ध्वजा पताका तथा पंचविध शिरोभूषण[1] से विभूषित थे एवं जिन पर आयुध व प्रहरणादि लिए हुए महावत बैठे हुए थे अथवा उन हाथियों पर आयुध (वह शस्त्र जो फेंका नहीं जा सकता, जैसे तलवार आदि) और प्रहरण (जो शस्त्र फेंके जा सकते हैं, जैसे तीर आदि) लदे हुए थे।

इसी तरह वहाँ अनेक अश्वों को भी देखा, जो युद्ध के लिये उद्यत थे तथा जिन्हें कवच तथा शारीरिक रक्षा के उपकरण पहिनाए हुए थे। जिनके शरीर पर सोने की बनी हुई झूल पड़ी हुई थी तथा जो लटकाए हुए तनुत्राण से युक्त थे। जो बखतर विशेष से युक्त तथा लगाम से अन्वित मुख वाले थे। जो क्रोध से अधरों—होठों को चबा रहे थे। चामर तथा स्थासक (आभूषण-विशेष) से जिनका कटिभाग परिमंडित—विभूषित हो रहा था तथा जिन पर सवारी कर रहे अश्वारोही-घुड़सवार आयुध और प्रहरण ग्रहण किये हुए थे अथवा जिन पर शस्त्रास्त्र लदे हुए थे।

इसी तरह वहाँ बहुत से पुरुषों को भी देखा जो दृढ़ बन्धनों से बंधे हुए लोहमय कुसूलादि से युक्त कवच शरीर पर धारण किये हुए, जिन्होंने शरासन-पट्टिका—धनुष खींचने के समय हाथ की रक्षा के लिये बांधी जाने वाली चमड़े की पट्टी—कसकर बांध रखी थी। जो गले में ग्रैवेयक-कण्ठाभरण धारण किये हुए थे। जिनके शरीर पर उत्तम चिह्नपट्टिका—वस्त्रखण्ड-निर्मित चिह्न—निशानी लगी हुई थी तथा जो आयुधों और प्रहरणों (शस्त्रास्त्र) को ग्रहण किये हुए थे।

उन पुरुषों के मध्य में भगवान् गौतम ने एक और पुरुष को देखा जिसके हाथों को मोड़कर पृष्ठभाग के साथ रस्सी से बांधा हुआ था। जिसके नाक और कान कटे हुए थे। जिसका शरीर स्निग्ध (चिकना) किया गया था। जिसके कर और कटि-प्रदेश में वध्य पुरुषोचित वस्त्र-युग्म (दो वस्त्र) धारण किया हुआ था अथवा बांधे हुए हाथ जिसके कडियुग (हथकडियों) पर रक्खे हुए थे अर्थात् जिसके दोनों हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई थीं, जिसके कण्ठ में कण्ठसूत्र—धागे के समान लाल पुष्पों की माला थी, जो गेरु के चूर्ण से पोता गया था, जो भय से संत्रस्त, तथा प्राणों को धारण किये रखने का आकांक्षी था, जिसको तिल-तिल करके काटा जा रहा था, जिसको शरीर के छोटे-छोटे मांस के टुकड़े खिलाए जा रहे थे अथवा जिसके मांस के छोटे-छोटे टुकड़े काकादि पक्षियों के खाने के योग्य किये जा रहे थे। ऐसा वह पापात्मा सैंकड़ो पत्थरों या चाबुकों से मारा जा रहा था। जो अनेक स्त्री-पुरुष-समुदाय से घिरा हुआ और प्रत्येक चौराहे आदि पर उद्घोषित किया जा रहा था अर्थात् जहाँ चार या इससे अधिक रास्ते मिले हुए हों ऐसे स्थानों पर फूटे ढोल से उसके सम्बन्ध में घोषणा सुनाई जा रही थी जो इस प्रकार है—

हे महानुभावो ! इस उज्झितक बालक का किसी राजा अथवा राजपुत्र ने कोई अपराध नहीं किया अर्थात् इसकी दुर्दशा के लिए अन्य कोई दोषी नहीं है, किन्तु यह इसके अपने ही कर्मों का अपराध है—दोष है, जो इस दुःस्थिति को प्राप्त है !

---

१. हाथी के शिर के पांच आभूषण बतलाये गये हैं, जैसे कि—तीन ध्वजाएं और उनके बीच दो पताकाएं।

७—तए णं से भगवओ गोयमस्स तं पुरिसं पासित्ता इमे अज्झत्थिए चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—'अहो णं इमे पुरिसे जाव नरयपडिरूवियं वेयणं वेएइ' त्ति कट्टु वाणियगामे नयरे उच्च-नीच-मज्झिमकुलाइं जाव अडमाणे अहापज्जत्तं सामुदाणियं गिण्हइ, गिण्हित्ता वाणियगामे नयरे मज्झंमज्झेणं जाव पडिदंसेइ, पडिदंसित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—'एवं खलु अहं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे वाणियगामं जाव तहेव वेएइ । से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसी ? जाव[1] पच्चणुभवमाणे विहरइ ?

७—तत्पश्चात् उस पुरुष को देखकर भगवान् गौतम को यह चिन्तन, विचार, मन:संकल्प उत्पन्न हुआ कि—'अहो ! यह पुरुष कैसी नरकतुल्य वेदना का अनुभव कर रहा है!' ऐसा विचार करके वाणिजग्राम नगर में उच्च, नीच, मध्यम (धनिक, निर्धन तथा मध्यम कोटि के) घरों में भ्रमण करते हुए यथापर्याप्त (आवश्यकतानुसार) भिक्षा लेकर वाणिजग्राम नगर के मध्य में से होते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास आये। उन्हें लाई हुई भिक्षा दिखलाई। तदनन्तर भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके उनसे इस प्रकार कहने लगे—

हे प्रभो ! आपकी आज्ञा से मैं भिक्षा के हेतु वाणिजग्राम नगर में गया। वहाँ मैंने एक ऐसे पुरुष को देखा जो साक्षात् नारकीय वेदना का अनुभव कर रहा है। हे भगवन् ! वह पुरुष पूर्वभव में कौन था ? जो यावत् नरक जैसी विषम वेदना भोग रहा है ?

पूर्वभव-विवरण

८—एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारते वासे हत्थिणाउरे नामं नयरे होत्था, रिद्धत्थि०।[2] तत्थ णं हत्थिणाउरे नयरे सुणंदे णामं राया होत्था। महया हिमवंत०[3] महंत-मलय-मंदर-महिंदसारे। तत्थ णं हत्थिणाउरे नयरे बहुमज्झदेसभाए महं एगे गोमण्डवे होत्था। अणेगखम्भसयसंनिविट्ठे, पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे। तत्थ णं बहवे नगरगोरूवाणं सणाहा य अणाहा य नगरगावीओ य नगरबलीवद्दा य नगरपड्डयाओ य नगरवसभा य पउरतणपाणिया निब्भया निरुव्विग्गा सुहंसुहेणं परिवसंति।

८—हे गौतम ! उस पुरुष के पूर्वभव का वृत्तान्त इस प्रकार है—उस काल तथा उस समय में इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत इस भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नामक एक समृद्ध नगर था। उस नगर का सुनन्द नामक राजा था। वह हिमालय पर्वत के समान महान् था। उस हस्तिनापुर नामक नगर के लगभग मध्यभाग में सैंकड़ों स्तम्भों से निर्मित सुन्दर मनोहर, मन को प्रसन्न करने वाली एक विशाल गोशाला थी। वहाँ पर नगर के अनेक सनाथ—जिनका कोई स्वामी हो और अनाथ—जिनका कोई स्वामी न हो, ऐसी नगर की गायें, बैल, नागरिक, छोटी गायें—बछड़ियाँ, भैंसे, नगर के सांड, जिन्हें प्रचुर मात्रा में घास-पानी मिलता था, भय तथा उपसर्गादि से रहित होकर परम सुखपूर्वक निवास करते थे।

---

१. प्रथम अ., सू. १९

२. औपपातिक—१   ३. औपपातिक—१४

९—तस्थ णं हत्थिणाउरे नयरे भीमे नामं कूडग्गाहे होत्था, अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे। तस्स णं भीमस्स कूडग्गाहस्स उप्पला नामं भारिया होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा।[1] तए णं सा उप्पला कूडग्गाहिणी अन्नया कयाइ आवन्नसत्ता जाया यावि होत्था। तएणं णं तीसे उप्पलाए कूडग्गाहिणीए तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूए—

९—उस हस्तिनापुर नगर में भीम नामक एक कूटग्राह (धोखे से—कपटपूर्वक जीवों को फँसाने वाला) रहता था। वह स्वभाव से ही अधर्मी व कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था। उस भीम कूटग्राह की उत्पला नामक भार्या थी जो अहीन (अन्यून) पंचेन्द्रिय वाली थी। किसी समय वह उत्पला गर्भवती हुई। उस उत्पला नाम की कूटग्राह की पत्नी को पूरे तीन मास के पश्चात् इस प्रकार का दोहद—मनोरथ (जो कि गर्भिणी स्त्रियों को गर्भ के अनुरूप उत्पन्न होता है) उत्पन्न हुआ—

१०—'धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ [संपुण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयत्थाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयपुण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयलक्खणाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयविहवाओ णं ताओ अम्मयाओ, सुलद्धे णं तासिं माणुस्सए जम्मजीवियफले जाओ णं बहूणं नगरगोरूवाणं सणाहाण य जाव वसहाण[2] य ऊहेहि य थणेहि य वसणेहि य छेप्पाहि य ककुहेहि य वहेहि य कण्णेहि य अच्छीहि य नासाहि य जिब्भाहि य ओट्ठेहि य कम्बलेहि य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य परिसुक्केहि य लावणेहि य सुरं च महुं च मेरगं च जाइं च सीहुं च पसन्नं च आसाएमाणीओ विसाएमाणीओ, परिभाएमाणीओ परिभुंजेमाणीओ दोहलं विणेंति। तं जइ णं अहमवि बहूणं नगर जाव[3] विणिज्जामि' त्ति कट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि सुक्का भुक्खा निम्मंसा ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा नित्तेया दीण-विमण-वयणा पंडुल्लइयमुहा ओमंथिय-नयण-वयण-कमला जहोइयं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकाराहारं अपरिभुंजमाणी करयलमलियव्व कमलमाला ओहय जाव (मणसंकप्पा करयलपल्हत्थमुही अट्टज्झाणोवगया भूमिगयदिट्ठीया) झियाइ।

१०—वे माताएँ धन्य है, पुण्यवती हैं, कृतार्थ है, सुलक्षणा हैं, उनका ऐश्वर्य सफल है, उनका मनुष्यजन्म और जीवन भी सार्थक है, जो अनेक अनाथ या सनाथ नागरिक पशुओं यावत् वृषभों के ऊधस् (वह थैली जिसमें दूध भरा रहता है) स्तन, वृषण-अण्डकोष, पूंछ, ककुद् (स्कन्ध का ऊपरी भाग) स्कन्ध, कर्ण, नेत्र, नासिका, जीभ, ओष्ठ (होंठ) कम्बल—सास्ना (गाय के गले का चमड़ा) जो कि शूल्य (शूला-प्रोत), तलित (तले हुए) भृष्ट (भुने हुए), शुष्क (स्वयं सूखे हुए) और लवण-संस्कृत मांस के साथ सुरा, मधु (पुष्पनिष्पन्न मदिरा-विशेष) मेरक (मद्य विशेष जो तालफल से निर्मित होती है) सीधु (एक विशेष प्रकार की मदिरा जो गुड़ व धान के मेल से निष्पन्न होती है) प्रसन्ना (वह मदिरा जो द्राक्षा आदि से बनती है) इन सब मद्यों का सामान्य व विशेष रूप से आस्वादन, विस्वादन, परिभाजन-वितरण (दूसरों को बाँटती हुई) तथा परिभोग करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं। काश ! मैं भी अपने दोहद को इसी प्रकार पूर्ण करूँ।

इस विचार के अनन्तर उस दोहद के पूर्ण न होने से वह उत्पला नामक कूटग्राह की पत्नी सूखने लगी, (भोजन न करने से बल रहित होकर) भूखे व्यक्ति के समान दीखने लगी, मांस रहित-

---

१. द्वि. अ., सूत्र—३

२. द्वि. अ., सूत्र—८

३. द्वि. अ., सूत्र—८

अस्थि-शेष हो गयी, रोगिणी व रोगी के समान शिथिल शरीर वाली, निस्तेज—कान्तिरहित, दीन तथा चिन्तातुर मुख वाली हो गयी। उसका बदन फीका तथा पीला पड़ गया, नेत्र तथा मुख-कमल मुर्झा गया, यथोचित पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माल्य—फूलों की गूंथी हुई माला—ग्राभूषण और हार आदि का उपभोग न करने वाली, करतल से मर्दित कमल की माला की तरह म्लान हुई कर्तव्य व अकर्तव्य के विवेक से रहित चिन्ताग्रस्त रहने लगी।

११—इमं च णं भीमे कूडग्गाहे जेणेव उप्पला कूडग्गाहिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ओहय० जाव पासइ, एवं वयासी—'किं णं तुमे देवाणुप्पिए! ओहय जाव झियासि?'

तए णं सा उप्पला भारिया भीमं कूडग्गाहं एवं वयासी—'एवं खलु, देवाणुप्पिया! मम तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दोहला पाउब्भूया—'धन्ना णं ताओ जाओ णं बहूणं गोरूवाणं ऊहेहि य जाव लावणेहि य सुरं च ६ आसाएमाणीओ ४ दोहलं विणेंति।' तए णं अहं देवाणुप्पिया! तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि जाव झियामि।'

११—इतने में भीम नामक कूटग्राह, जहाँ पर उत्पला नाम की कूटग्राहिणी थी, वहाँ आया और उसने आर्तध्यान ध्याती हुई चिन्ताग्रस्त उत्पला को देखा। देखकर कहने लगा—'देवानुप्रिये! तुम क्यों इस तरह शोकाकुल, हथेली पर मुख रखकर आर्तध्यान में मग्न हो रही हो? 'तदनन्तर वह उत्पला भार्या भीम नामक कूटग्राह को इस प्रकार कहने लगी—स्वामिन्! लगभग तीन मास पूर्ण होने पर मुझे यह दोहद उत्पन्न हुआ कि वे माताएँ धन्य हैं, कि जो चतुष्पाद पशुओं के ऊधस् स्तन आदि के लवण-संस्कृत मांस का अनेक प्रकार की मदिराओं के साथ आस्वादन करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं। उस दोहद के पूर्ण न होने से निस्तेज व हतोत्साह होकर मैं आर्तध्यान में मग्न हूँ। (यहां पूर्वोक्त विवरण समझ लेना चाहिये।)

१२—तए णं से भीमे कूडग्गाहे उप्पलं भारियं एवं वयासी—'मा णं तुमं देवाणुप्पिया! ओहयमणसंकप्पा जाव झियाहि; अहं णं तहा करिस्सामि जहा णं तव दोहलस्स संपत्ती भविस्सइ।' ताहिं इट्ठाहिं जाव (कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं) वग्गूहिं समासासेइ।

तए णं से भीमे कूडग्गाहे अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सन्नद्ध जाव (बद्धवम्मियकवए उप्पीलियसरासणपट्टीए पिणद्धगेवेज्जे विमलवरबद्धचिंधपट्टे गहियाउह) पहरणे सयाओ गिहाओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता हत्थिणाउरं नयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव गोमण्डवे तेणेव उवागए, बहूणं नगरगोरूवाणं जाव वसभाण य अप्पेगइयाणं ऊहे छिंदइ जाव अप्पेगइयाणं कंबले छिंदइ, अप्पेगइयाणं अन्नमन्नाइं अंगोवंगाइं वियंगेइ, वियंगेत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता उप्पलाए कूडग्गाहिणीए उवणेइ। तए णं सा उप्पला भारिया तेहिं बहूहिं गोमंसेहि य सोल्लेहि य सुरं च-५ आसाएमाणी-४ तं दोहलं विणेइ। तए णं सा उप्पला कूडग्गाहिणी संपुण्णदोहला संमाणियदोहला विणीयदोहला वोच्छिन्नदोहला संपन्नदोहला तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहइ।

१२—तदनन्तर उस भीम कूटग्राह ने अपनी उत्पला भार्या से कहा—देवानुप्रिये! तुम चिन्ताग्रस्त व आर्तध्यान युक्त न होओ, मैं वह सब कुछ करूँगा जिससे तुम्हारे इस दोहद की परिपूर्ति हो जायगी। इस प्रकार के इष्ट, प्रिय, कान्त, मनोहर, मनोज्ञ वचनों से उसने उसे समाश्वासन दिया।

तत्पश्चात् भीम कुटग्राह आधी रात्रि के समय अकेला ही दृढ कवच पहनकर, धनुष-बाण

से सज्जित होकर, ग्रैवेयक धारण कर एवं आयुध प्रहरणों को लेकर अपने घर से निकला और हस्तिनापुर नगर के मध्य से होता हुआ जहाँ पर गोमण्डप था वहाँ पर आया, और आकर वह नागरिक पशुओं यावत् वृषभों में से कई एक के ऊधस्, कई एक के सास्ना-कम्बल आदि व कई एक के अन्यान्य अङ्गोपाङ्गों को काटता है और काटकर अपने घर आता है। आकर अपनी भार्या उत्पला को दे देता है। तदनन्तर वह उत्पला उन अनेक प्रकार के शूल आदि पर पकाये गये गोमांसों के साथ अनेक प्रकार की मदिरा आदि का आस्वादन, विस्वादन करती हुई अपने दोहद को परिपूर्ण करती है। इस तरह वह परिपूर्ण दोहद वाली, सन्मानित दोहद वाली, विनीत दोहद वाली, व्युच्छिन्न दोहद वाली व सम्पन्न दोहद वाली होकर उस गर्भ को सुखपूर्वक धारण करती है।

१३—तए णं सा उप्पला कूडग्गाहिणी अन्नया कयाइ नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया। तए णं तेणं दारएणं जायमेत्तेणं चेव महया महया चिच्ची सद्देणं विघुट्ठे विस्सरे आरसिए।

तए णं तस्स दारगस्स आरसिय-सद्दं सोच्चा निसम्म हत्थिणाउरे नयरे बहवे नगरगोरूवा जाव वसभा य भीया तत्था तसिया उव्विग्गा सव्वओ समंता विप्पलाइत्था। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो अयमेयारूवं नामधेज्जं करेन्ति—'जम्हा णं अम्हं इमेणं दारएणं जायमेत्तेणं चेव महया महया चिच्ची सद्देणं विघुट्ठे विस्सरे आरसिए, तए णं एयस्स दारगस्स आरसियसद्दं सोच्चा निसम्म हत्थिआउरे नयरे बहवे नगरगोरूवा जाव भीया तत्था तसिया उव्विग्गा, सव्वओ समंता विप्पलाइत्था, तम्हा णं होउ अम्हं दारए 'गोत्तासए' नामेणं।

तए णं से गोत्तासए दारए उम्मुक्कबालभावे जाए यावि होत्था।

१३—तदनन्तर उस उत्पला नामक कूटग्राहिणी ने किसी समय नव-मास परिपूर्ण हो जाने पर पुत्र को जन्म दिया। जन्म के साथ ही उस बालक ने अत्यन्त कर्णकटु तथा चीत्कारपूर्ण भयंकर आवाज की। उस बालक के कठोर, चीत्कारपूर्ण शब्दों को सुनकर तथा अवधारण कर हस्तिनापुर नगर के बहुत से नागरिक पशु यावत् वृषभ आदि भयभीत व उद्वेग को प्राप्त होकर चारों दिशाओं में भागने लगे। इससे उसके माता-पिता ने इस तरह उसका नाम-संस्करण किया कि जन्म के साथ ही इस बालक ने 'चिच्ची' चीत्कार के द्वारा कर्णकटु स्वर युक्त आक्रन्दन किया, इस प्रकार के उस कर्णकटु, चीत्कारपूर्ण आक्रन्दन को सुनकर तथा अवधारण कर हस्तिनापुर के गौ आदि नागरिक पशु भयभीत व उद्विग्न होकर चारों तरफ भागने लगे, अतः इस बालक का नाम गोत्रास (गाय आदि पशुओं को त्रास देने वाला) रक्खा जाता है।

तदनन्तर यथासमय उस गोत्रास नामक बालक ने बाल्यावस्था को त्याग कर युवावस्था में प्रवेश किया।

१४—तए णं से भीमे कूडग्गाहे अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते। तए णं से गोत्तासए दारए बहुएणं मित्त-नाइ-नियग-सयण सम्बन्धि-परियणेणं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कन्दमाणे विलवमाणे भीमस्स कूडग्गाहस्स नीहरणं करेइ, करेत्ता बहूहिं लोइयमयकिच्चाइं करेइ। तए णं से सुनंदे राया गोत्तासं दारयं अन्नया कयाइ सयमेव कूडग्गाहत्ताए ठावेइ। तए णं से गोत्तासे दारए कूडग्गाहे जाए यावि होत्था—अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे।

१४—तत्पश्चात् (गोत्रास के युवक हो जाने पर) भीम कूटग्राह किसी समय कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुआ। तब गोत्रास बालक ने अपने मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजनों से परिवृत होकर रुदन, विलपन तथा आक्रन्दन करते हुए अपने पिता भीम कूटग्राह का दाहसंस्कार किया। अनेक लौकिक मृतक-क्रियाएँ कीं। तदनन्तर सुनन्द नामक राजा ने किसी समय स्वयमेव गोत्रास बालक को कूटग्राह के पद पर नियुक्त किया। गोत्रास भी (अपने पिता की ही भांति महान् अधर्मी व दुष्प्रत्यानन्द (बड़ी कठिनता से प्रसन्न होने वाला) था।

१५—तए णं से गोत्तासे दारए कूडग्गाहित्ताए कल्लाकल्लि अद्धरत्तियकालसमयंसि एगे अबीए सन्नद्धबद्धकवए जाव गहिया-उहप्पहरणे सयाओ गिहाओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव गोमण्डवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बहूणं नगरगोरूवाणं सणाहाण य जाव[1] वियंगेइ, जेणेव सए गिहे तेणेव उवागए। तए णं से गोत्तासे कूडग्गाहे तेहिं बहूहिं गोमंसेहि य सोल्लेहि य जाव (तलिएहि य भज्जिएहि य परिसुक्केहि य लावणेहि य सुरं च ६ आसाएमाणे विसाएमाणे जाव विहरइ। तए णं से गोत्तासए कूडग्गाहे एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता पंचवाससयाइं परमाउयं पालइत्ता अट्टदुहट्टोवगए कालमासे कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए उक्कोसं तिसागरोवमठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने।

१५—उसके बाद वह गोत्रास कूटग्राह प्रतिदिन आधी रात्रि के समय सैनिक की तरह तैयार होकर कवच पहिनकर और शास्त्रास्त्रों को धारण कर अपने घर से निकलता। निकलकर गोमण्डप में जाता। वहाँ पर अनेक गौ आदि नागरिक पशुओं के अङ्गोपाङ्गों को काटकर अपने घर आ जाता। आकर उन गौ आदि पशुओं के शूलपक्व तले, भुने, सूखे और नमकीन मांसों के साथ मदिरा आदि का आस्वादन, विस्वादन करता हुआ जीवनयापन करता।

तदनन्तर वह गोत्रास कूटग्राह इस प्रकार के कर्मोंवाला, इस प्रकार के कार्यों में प्रधानता रखने वाला, इस प्रकार की पाप-विद्या को जानने वाला तथा ऐसे क्रूर आचरणों वाला नाना प्रकार के पापकर्मों का उपार्जन कर पांच सौ वर्ष का पूरा आयुष्य भोगकर चिन्ता और दुःख से पीड़ित होकर मरणावसर में काल करके उत्कृष्ट तीन सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले दूसरे नरक में नारक रूप से उत्पन्न हुआ।

१६—तए णं विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा नामं भारिया जायनिंदुया यावि होत्था। जाया जाया दारगा विणिहायमावज्जंति। तए णं से गोत्तासे कूडग्गाहे दोच्चाए पुढवीए अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव वाणियगामे नयरे विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने। तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही अन्नया कयाइ नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया।

१६—विजयमित्र की सुभद्रा नाम की भार्या जातनिन्दुका (जन्म लेते ही मरने वाले बच्चों को जन्म देने वाली) थी। अतएव जन्म लेते ही उसके बालक विनाश को प्राप्त हो जाते (मर जाते) थे। तत्पश्चात् वह गोत्रास कूटग्राह का जीव भी दूसरे नरक से निकलकर सीधा इसी वाणिजग्राम नगर के विजयमित्र सार्थवाह की सुभद्रा नाम की भार्या के उदर में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ—गर्भ में

---

१. द्वि. अ. सूत्र ८

आया। तदनन्तर किसी अन्य समय में नव मास परिपूर्ण होने पर सुभद्रा सार्थवाही ने पुत्र को जन्म दिया।

१७—तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही तं दारगं जायमेत्तयं चेव एगंते उक्कुरुडियाए उज्झावेइ, उज्झावित्ता दोच्चंपि गिण्हावेइ गिण्हावित्ता अणुपुव्वेणं सारक्खेमाणी संगोवेमाणी संवड्ढेइ।

तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो ठिइवडियं च चन्दसूरपासणियं च जागरियं च महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं करेन्ति। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे निव्वत्ते, संपत्ते बारसमे दिवसे इममेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेन्ति—'जम्हा णं अम्हं इमे दारए जायमेत्तए चेव एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिए, तम्हा णं होउ अम्हं दारए उज्झिए नामेणं। तए णं से उज्झिए दारए पंचधाईपरिग्गहिए, तं जहा—खीरधाईए मज्जणधाईए मण्डणधाईए कीलावणधाईए अंकधाईए, जहा दढपइन्ने, जाव निव्वाधाए गिरिकन्दरमल्लीणे विव चम्पकपायवे सुहंसुहेणं परिवड्ढइ।

१७—तत्पश्चात् सुभद्रा सार्थवाही उस बालक को जन्मते ही एकान्त में कूड़े-कर्कट के ढेर पर डलवा देती है, और पुनः उठवा लेती है। तत्पश्चात् क्रमशः संरक्षण व संगोपन करती हुई उसका परिवर्द्धन करने लगती है।

उसके बाद उस बालक के माता-पिता स्थितिपतित-कुलमर्यादा के अनुसार पुत्रजन्मोचित बधाई बांटने आदि की क्रिया करते हैं। चन्द्र-सूर्य-दर्शन-उत्सव व जागरण महोत्सव भी महान् ऋद्धि एवं सत्कार के साथ करते हैं। तत्पश्चात् उस बालक के माता-पिता ग्यारहवें दिन के व्यतीत हो जाने पर तथा बारहवां दिन आ जाने पर इस प्रकार का गौण-गुण से सम्बन्धित व गुणनिष्पन्न-गुणानुरूप नामकरण करते हैं—क्योंकि हमारा यह बालक एकान्त में उकरड़े—कचरा फेंकने की जगह पर फेंक दिया गया था, अतः हमारा यह बालक 'उज्झितक' नाम से प्रसिद्ध हो। तदनन्तर वह उज्झितक कुमार पांच धायमाताओं की देखरेख में रहने लगा। उन धायमाताओं के नाम ये हैं—क्षीरधात्री—दूध पिलाने वाली, स्नानधात्री—स्नान कराने वाली, मण्डनधात्री—वस्त्राभूषण से अलंकृत करने वाली, क्रीडापनधात्री—क्रीडा कराने वाली और अङ्कधात्री—गोद में उठाकर खिलाने वाली। इन धाय-माताओं के द्वारा दृढ़प्रतिज्ञ की तरह निर्वात—वायु से रहित एवं निर्व्याघात—आघात से रहित, पर्वतीय कन्दरा में अवस्थित चम्पक वृक्ष की तरह सुखपूर्वक वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

१८—तए णं से विजयमित्ते सत्थवाहे अन्नया कयाइ गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिछेज्जं च चउव्विहं भंडगं गहाय लवणसमुद्दं पोयवहणेण उवागए। तए णं से तत्थ लवणसमुद्दे पोयविपत्तीए निब्बुड्डभंडसारे अत्ताणे असरणे कालधम्मुणा संजुत्ते। तए णं तं विजयमित्तं सत्थवाहं जे जहा बहवे ईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सत्थवाहा लवणसमुद्दे पोयविवत्तीए छूढं निब्बुड्डभंडसारं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेन्ति, ते तहा हत्थनिक्खेवं च बाहिरभाण्डसारं च गहाय एगंते अवक्कमंति।[1]

१. प्रस्तुत सूत्र में हस्तनिक्षेप व बाह्यभाण्डसार इन शब्दों का प्रयोग किया गया है, आचार्य अभयदेव सूरि ने इन पदों की निम्न व्याख्या की है—'हस्तेनिक्षेपो-न्यासः समर्पणं यस्य द्रव्यस्य तद् हस्तनिक्षेपम्, हस्तनिक्षेप-व्यतिरिक्तं च भाण्डसारम्'। धरोहर को हस्तनिक्षेप कहते हैं अर्थात् किसी की साक्षी के बिना अपने हाथ से दिया गया सारभाण्ड हस्तनिक्षेप है और किसी की साक्षी से लोगों की जानकारी में दिया गया सारभाण्ड बाह्य-भाण्डसार के नाम से प्रचलित है।

१८—इसके बाद विजयमित्र सार्थवाह ने जहाज द्वारा गणिम (गिनती से बेची जाने वाली वस्तु, जैसे नारियल), धरिम (जो तराजू से तोलकर बची जाय, जैसे घृत, तेल, शर्करा आदि), मेय (मापकर बेचे जाने योग्य पदार्थ जैसे कपड़ा, फीता आदि) और पारिच्छेद्य (जिन वस्तुओं का क्रय-विक्रय परीक्षाधीन हो, जैसे हीरा, पन्ना आदि) रूप चार प्रकार की बेचने योग्य वस्तुएँ लेकर लवण-समुद्र में प्रस्थान किया। परन्तु लवण-समुद्र में जहाज के विनष्ट हो जाने से विजयमित्र की उपर्युक्त चारों प्रकार की महामूल्य वस्तुएँ जलमग्न हो गयीं और वह स्वयं त्राण रहित (जिसकी कोई रक्षा करने वाला न हो) और अशरण (जिसको कोई आश्रय देने वाला न हो) होकर कालधर्म को प्राप्त हो गया। तदनन्तर ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य—धनी, श्रेष्ठी—सेठ तथा सार्थवाहों ने जब लवण समुद्र में जहाज के नष्ट और महामूल्य वाले क्रयाणक के जलमग्न हो जाने पर त्राण और शरण से रहित विजयमित्र की मृत्यु का वृत्तान्त सुना तो वे हस्तनिक्षेप-धरोहर व बाह्य (उसके अतिरिक्त) भाण्डसार को लेकर एकान्त स्थान में (वाणिजग्राम से बाहर ऐसे स्थान पर कि जिसका दूसरों को पता न चल सके) चले गये।

१९—तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही विजयमित्तं सत्थवाहं लवणसमुद्दे पोयविवत्तीए निव्वुड-भाण्डसारं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेइ, सुणित्ता महया पइसोएणं अप्फुण्णा समाणी परसुनियत्ता विव-चम्पगलया धस त्ति धरणीयलंसि सव्वंगेण संनिवडिया। तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही मुहुत्तन्तरेण आसत्था समाणी बहूहिं मित्त जाव (-नाइ-नियग-सजण-संबंधि-परियणेणं) सद्धिं परिवुडा रोयमाणी कन्दमाणी विलवमाणी विजयमित्त-सत्थवाहस्स लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ। तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही अन्नया कयाइ लवणसमुद्दोत्तरणं च लच्छिविणासं च पोयविणासं च पइमरणं च अणु-चिन्तेमाणी अणुचिन्तेमाणी कालधम्मुणा संजुत्ता।

१९—तदनन्तर सुभद्रा सार्थवाही ने जिस समय लवणसमुद्र में जहाज के नष्ट हो जाने के कारण भाण्डसार के जलमग्न हो जाने के साथ विजयमित्र सार्थवाह की मृत्यु के वृत्तान्त को सुना, तब वह पतिवियोगजन्य महान् शोक से ग्रस्त हो गई। कुल्हाड़े से कटी हुई चम्पक वृक्ष की शाखा की तरह धड़ाम से पृथ्वीतल पर गिर पड़ी। तत्पश्चात् वह सुभद्रा-सार्थवाही एक मुहूर्त्त के अनन्तर अर्थात् कुछ समय के पश्चात् आश्वस्त हो अनेक मित्रों, ज्ञातिजनों, स्वजनों, सम्बन्धियों तथा परिजनों से घिरी हुइ रुदन क्रन्दन विलाप करती हुई विजयमित्र के लौकिक मृतक-क्रियाकर्म करती है। तदनन्तर वह सुभद्रा सार्थवाही किसी अन्य समय लवणसमुद्र में पति का गमन, लक्ष्मी का विनाश, पोत-जहाज का जलमग्न होना तथा पति की मृत्यु की चिन्ता में निमग्न रहती हुई काल-धर्म—मृत्यु को प्राप्त हो गयी।

२०—तए णं ते नगरगुत्तिया सुभद्दं सत्थवाहिं कालगयं जाणित्ता उज्झियगं दारगं सयाओ गिहाओ निच्छुभेन्ति, निच्छुभित्ता तं गिहं अन्नस्स दलयन्ति।

तए णं से उज्झियए दारए सयाओ गिहाओ निच्छूढे समाणे वाणियगामे नगरे सिंघाडग जाव (तिग-चउक्क-चच्चर-महापह-) पहेसु जूयखलएसु, वेसियाघरेसु पाणागारेसु य सुहंसुहेणं परिवड्ढइ। तए णं से उज्झियए दारए अणोहट्टिए अनिवारए सच्छन्दमई सइरप्पयारे मज्जप्पसंगी चोरजूयवेस-दारप्पसंगी जाए यावि होत्था। तए णं से उज्झियए अन्नया कयाइं कामज्झयाए गणियाए संपलग्गे

जाए यावि होत्था। कामज्झयाए गणियाए सद्धि विउलाइं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

२०—तदनन्तर नगररक्षक पुरुषों ने सुभद्रा सार्थवाही की मृत्यु के समाचार जानकर उज्झितक कुमार को अपने घर से निकाल दिया और उसके घर को किसी दूसरे को (जो उज्झितक के पिता से रुपये मांगता था, अधिकारी लोगों ने उज्झितक को निकाल कर रुपयों के बदले उसका घर उस उत्तमर्ण को) सौंप दिया।

अपने घर से निकाला जाने पर वह उज्झितक कुमार वाणिजग्राम नगर के त्रिपथ, चतुष्पथ, चत्वर, राजमार्ग एवं सामान्य मार्गों पर, द्यूतगृहों, वेश्यागृहों व मद्यपानगृहों में सुखपूर्वक भटकने लगा। तदनन्तर बेरोकटोक स्वच्छन्दमति एवं निरंकुश बना हुआ वह चौर्यकर्म, द्यूतकर्म, वेश्यागमन और परस्त्रीगमन में आसक्त हो गया। तत्पश्चात् किसी समय कामध्वजा वेश्या के साथ विपुल, उदार-प्रधान मनुष्य सम्बन्धी विषयभोगों का उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

२१—तए णं तस्स विजयमित्तस्स रन्नो अन्नया कयाइ सिरीए देवीए जोणिसूले पाउब्भूए यावि होत्था। नो संचाएइ विजयमित्ते राया सिरीए देवीए सद्धि उरालाइं माणुस्सगाइं भोग-भोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए।

तए णं विजयमित्ते राया अन्नया कयाइं उज्झियदारयं कामज्झाए गणियाए गिहाओ निच्छुभावेइ, निच्छुभावित्ता कामज्झयं गणियं अब्भितरियं ठावेइ, ठावइत्ता कामज्झयाए गणिआए सद्धि उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

२१—तदनन्तर उस विजयमित्र राजा की श्री नामक देवी को योनिशूल (योनि में होने वाला वेदना-प्रधान रोग) उत्पन्न हो गया। इसलिये विजयमित्र राजा अपनी रानी के साथ उदार-प्रधान मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को भोगने में समर्थ न रहा। अतः अन्य किसी समय उस राजा ने उज्झितककुमार को कामध्वजा गणिका के स्थान से निकलवा दिया और कामध्वजा वेश्या के साथ मनुष्य सम्बन्धी उदार-प्रधान विषयभोगों का उपभोग करने लगा।

२२—तए णं से उज्झियए दारय कामज्झयाए गणियाए गिहाओ निच्छुभेमाणे कामज्झयाए गणिआए मुच्छिए, गिद्धे, गढिए, अज्झोववन्ने अन्नत्थ कत्थइ सुइं च रइं च धिइं च अविन्दमाणे तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तयप्पियकरणे तब्भावणाभाविए कामज्झयाए गणियाए बहूणि अन्तराणि य छिड्डाणि य पडिजागरमाणे-पडिजागरमाणे विहरइ। तए णं से उज्झियए दारए अन्नया कयाइ कामज्झयं गणियं अंतरं लभेइ, लभित्ता कामज्झयाए गणियाए गिहं रहसियं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता, कामज्झयाए गणियाए सद्धि उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

२२—तदनन्तर कामध्वजा गणिका के घर से निकाले जाने पर कामध्वजा गणिका में मूर्च्छित (उसके ही ध्यान में मूढ़—पागल बना हुआ) गृद्ध (उस वेश्या की ही आकांक्षा—इच्छा रखने वाला) ग्रथित (उसके ही स्नेहजाल में जकड़ा हुआ) और अध्युपपन्न (उस वेश्या की ही चिन्ता में आसक्त

रहने वाला) वह उज्झितक कुमार अन्यत्र कहीं भी स्मृति—स्मरण, रति—प्रीति व धृति—मानसिक शान्ति को प्राप्त न करता हुआ, उसी में चित्त व मन को लगाए हुए, तद्‌विषयक परिणामवाला, तद्विषयक अध्यवसाय-योगक्रिया, उसी सम्बन्धी प्रयत्न-विशेष वाला, उसकी ही प्राप्ति के लिए उद्यत, उसी में मन वचन और इन्द्रियों को समर्पित करने वाला, उसी की भावना से भावित होता हुआ कामध्वजा वेश्या के अनेक अन्तर (ऐसा अवसर कि जिस समय राजा का आगमन न हो) छिद्र (राज-परिवार का कोई व्यक्ति भी न हो) व विवर (कोई सामान्य पुरुष भी जिस समय न हो) की गवेषणा करता हुआ जीवनयापन कर रहा था।

तदनन्तर वह उज्झितक कुमार किसी अन्य समय में कामध्वजा गणिका के पास जाने का अवसर प्राप्तकर गुप्तरूप से उसके घर में प्रवेश करके कामध्वजा वेश्या के साथ मनुष्य सम्बन्धी उदार विषयभोगों का उपभोग करता हुआ जीवनयापन करने लगा।

२३—इमं च णं बलमित्ते राया ण्हाए जाव (कयबलिकम्मे कयकोउअमंगल) पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए मणुस्सवागुरापरिक्खित्ते जेणेव कामज्झयाए गणियाए गेहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तत्थ णं उज्झियए दारए कामज्झयाए गणियाइ सद्धिं उरालाइं भोग-भोगाइं जाव विहरमाणं पासइ, पसित्ता आसुरुत्ते रुट्ठे, कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे तिवलियभिउडिं निडाले साहट्टु उज्झियगं दारगं पुरिसेहिं गिण्हावेइ, गेण्हावित्ता अट्ठि-मुट्ठि-जाणु-कोप्पर-पहार-संभग्ग-महियगत्तं करेइ, करेत्ता अवओडयबन्धणं करेइ, करेत्ता एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ।

एवं खलु, गोयमा! उज्झियए दारए पुरापोराणाणं कम्माणं जाव पच्चणुभवमाणे विहरइ।

२३—इधर किसी समय बलमित्र नरेश, स्नान, बलिकर्म, कौतुक, मंगल (दुष्ट स्वप्नों के फल को विनष्ट करने के लिये) प्रायश्चित्त के रूप में मस्तक पर तिलक एवं मांगलिक कार्य करके सर्व अलंकारों से अलंकृत हो, मनुष्यों के समूह से घिरा हुआ कामध्वजा वेश्या के घर गया। वहाँ उसने कामध्वजा वेश्या के साथ मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करते हुए उज्झितक कुमार को देखा। देखते ही वह क्रोध से लाल-पीला हो गया। मस्तक पर त्रिवलिक भृकुटि—तीन रेखाओं वाली भौंह (लोचन-विकारविशेष) चढ़ाकर अपने अनुचरों के द्वारा उज्झितक कुमार को पकड़वाया। पकड़वाकर यष्टि (लकड़ी), मुष्टि (मुक्का), जानु (घुटना), कूर्पर (कोहनी) के प्रहारों से उसके शरीर को चूर-चूर और मथित करके अवकोटक बन्धन (जिस बन्धन में ग्रीवा को पृष्ठ भाग में ले जाकर हाथों के साथ बांधा जाय) से बांधा और बाँधकर 'इसी प्रकार से यह बध्य है' (जैसा तुमने देखा है) ऐसी आज्ञा दी।

हे गौतम! इस प्रकार वह उज्झितक कुमार पूर्वकृत पापमय कर्मों का फल भोग रहा है।

उज्झितक का भविष्य

२४—'उज्झियए णं भंते! दारए इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ?'

गोयमा! उज्झियए दारगे पणवीसं वासाइं परमाउयं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सूलीभिन्ने कए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववज्जिहिइ।

से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले वाणरकुलंसि वाणरत्ताए उववज्जिहिइ। से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तिरियभोगेसु मुच्छिए, गिद्धे, गढिए, अज्झोववन्ने, जाए जाए वाणरपेल्लए वहेइ। तं एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे कालमासे कालं किच्चा इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे इन्दपुरे नयरे गणियाकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिइ।

तए णं तं दारयं अम्मापियरो जायमेत्तकं वद्धेहिन्ति, नपुंसगकम्मं सिक्खावेहिंति। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो निव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं नामधेज्जं करेहिंति, तं जहा—'होउ णं अम्हं इमे दारए पियसेणे नामं नपुंसए।' तए णं से पियसेणे नपुंसए उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुप्पत्ते विन्नयपरिणयमेत्ते रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठे उक्किट्ठसरीरे भविस्सइ।

तए णं से पियसेणे नपुंसए इन्दपुरे नयरे बहवे राईसर-जाव (तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-) पभिइओ बहूहि य विज्जापयोगेहि य मंतचुण्णेहि य हियउड्डावणाहि य निण्हवणेहि य पण्हवणेहि य वसीकरणेहि य आभियोगिएहि य अभियोगित्ता उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सइ।

२४—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—हे प्रभो ! यह उज्झितक कुमार यहाँ से कालमास में काल करके कहां जायेगा ? और कहां उत्पन्न होगा ?

भगवान्—गौतम ! उज्झितक कुमार २५ वर्ष की पूर्ण आयु को भोगकर आज ही त्रिभागावशेष दिन में (दिन के चौथे प्रहर में) शूली द्वारा भेद को प्राप्त होकर कालमास में काल करके—मर कर रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारक रूप में उत्पन्न होगा। वहां से निकलकर सीधा इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भारतवर्ष के वैताढ्य पर्वत के पादमूल—तलहटी (पहाड़ के नीचे की भूमि में) वानर कुल में वानर के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ पर बालभाव को त्यागकर युवावस्था को प्राप्त होता हुआ वह पशु सम्बन्धी भोगों में मूर्च्छित, गृद्ध—ग्रथित भोगों के स्नेहपाश में जकड़ा हुआ और भोगों ही में मन को लगाये रखने वाला होगा। वह उत्पन्न हुए वानरशिशुओं का अवहनन (घात) किया करेगा। ऐसे कुकर्म में तल्लीन हुआ वह काल-मास में काल करके इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत इन्द्रपुर नामक नगर में गणिका के घर में पुत्र रूप में उत्पन्न होगा। माता-पिता उत्पन्न होते ही उस बालक को वर्द्धितक (नपुंसक) बना देंगे और नपुंसक के कार्य सिखलाएँगे। बारह दिन के व्यतीत हो जाने पर उसके माता-पिता उसका 'प्रियसेन' यह नामकरण करेंगे। बाल्यभाव को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त तथा विज्ञ—विशेष ज्ञान वाला, एवं बुद्धि आदि की परिपक्व अवस्था को उपलब्ध करने वाला वह प्रियसेन नपुंसक रूप, यौवन व लावण्य के द्वारा उत्कृष्ट-उत्तम और उत्कृष्ट शरीर वाला होगा।

तदनन्तर वह प्रियसेन नपुंसक इन्द्रपुर नगर के राजा, ईश्वर यावत् अन्य मनुष्यों को अनेक प्रकार के प्रयोगों से, मन्त्रों से मन्त्रित चूर्ण, भस्म आदि से, हृदय को शून्य कर देने वाले, अदृश्य कर देने वाले, वश में करने वाले, प्रसन्न कर देने वाले और पराधीन कर देने वाले प्रयोगों से वशीभूत करके मनुष्य सम्बन्धी उदार भोगों को भोगता हुआ समययापन करेगा।

२५—तए णं से पियसेणे नपुंसए एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता एक्कवीसं वाससयं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए

पुढवीए नेरइयत्ताए उववज्जिहिइ। तत्तो सरीसवेसु संसारो तहेव जहा पढमे[1] जाव पुढवि०। से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे चम्पाए नयरीए महिसत्ताए पच्चायाहिइ। से णं तत्थ अन्नया कयाइ गोट्ठिल्लएहिं जीवियाओ ववरोविए समाणे तत्थेव चम्पाए नयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिइ। से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहिइ, अणगारे भविस्सइ, सोहम्मे कप्पे, जहा पढमे, जाव अंतं करेहिइ, त्ति निक्खेवो।

२५—इस तरह वह प्रियसेन नपुंसक इन पापपूर्ण कामों में ही (अपना कर्त्तव्य, प्रधान लक्ष्य, विज्ञान एवं सर्वोत्तम आचरण) बनाएगा। इन दुष्प्रवृत्तियों के द्वारा वह बहुत पापकर्मों का उपार्जन करके १२१ वर्ष की परम आयु को भोगकर मृत्यु के समय में मृत्यु को प्राप्त होकर इस रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारक के रूप में उपत्न्न होगा। वहाँ से निकलकर सरीसृप—छाती के बल से चलने वाले सर्प आदि प्राणियों की योनियों में जन्म लेगा। वहां से उसका संसार-भ्रमण प्रथम अध्ययन में वर्णित मृगापुत्र की तरह होगा यावत् पृथिवीकाय आदि में जन्म लेगा। वहाँ से निकलकर इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष की चम्पा नामक नगरी में भैंसा (महिष) के रूप में जन्म लेगा। वहां गोष्ठिकों-मित्रमण्डली के द्वारा मारे जाने पर उसी नगरी के श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप में उत्पन्न होगा। वहां पर बाल्यावस्था को पार करके यौवन अवस्था को प्राप्त होता हुआ वह तथारूप-विशिष्ट संयमी स्थविरों के पास शंका कांक्षा आदि दोषों से रहित बोधिलाभ को प्राप्तकर अनगार धर्म को ग्रहण करेगा। वहाँ से कालमास में कालकर सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा। यावत् मृगापुत्र के समान कर्मों का अन्त करेगा। यहां इस अध्ययन का निक्षेप समझ लेना चाहिए।

---

१. देखिए प्र.अ., सूत्र-३२

तृतीय अध्ययन
अभग्नसेन

उत्क्षेप

१—तच्चस्स उक्खेवो।

१—तृतीय अध्ययन की प्रस्तावना पूर्ववत् ही जान लेनी चाहिये।

२—तेणं कालेणं तेणं समएणं पुरिमताले नामं नयरे होत्था, रिद्ध०।[1] तस्स णं पुरिमतालस्स नयरस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं अमोहदंसणे (अमोहदंसी) उज्जाणे। तत्थ णं अमोहदंसिस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था। तत्थ णं पुरिमताले महब्बले नामं राया होत्था।

२—उस काल उस समय में पुरिमताल नामक एक नगर था। वह भवनादि की अधिकता से तथा धन-धान्य आदि से परिपूर्ण था। उस पुरिमताल नगर के ईशान-कोण में अमोघदर्शी नामक एक उद्यान था। उस उद्यान मे अमोघदर्शी नामक यक्ष का एक यक्षायतन था। पुरिमताल नगर में महाबल नामक राजा राज्य करता था।

चोरपल्ली

३—तत्थ णं पुरिमतालस्स नयरस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए देसप्पंते अडवी संठिया। इत्थ णं सालाडवी नामं चोरपल्ली होत्था। विसम-गिरिकन्दरकोलम्बसंनिविट्ठा वंसीकलंकपागारपरिक्खित्ता छिन्नसेलविसमप्पवायफरिहोवगूढा अब्भिंतरपाणीया सुदुल्लभजलपेरंता अणेगखण्डी विदियजणदिन्न-निग्गमप्पवेसा सुबहुयस्स वि कुवियस्स जणस्स दुप्पहंसा यावि होत्था।

३—उस पुरिमताल नगर के ईशान कोण में सीमान्त पर स्थित अटवी में शालाटवी नाम की चोरपल्ली (चोरों के रहने का प्रच्छन्न स्थान) थी जो पर्वतीय भयंकर गुफाओं के प्रान्तभाग—किनारे पर स्थित थी। बांस की जाली की बनी हुई बाड़रूप प्राकार (कोट) से घिरी हुई थी। छिन्न—अपने अवयवों से कटे हुए—पर्वत के ऊँचे-नीचे प्रपात-गर्तरूप खाई वाली थी। उसमें पानी की पर्याप्त सुविधा थी। उसके बाहर दूर-दूर तक पानी अप्राप्य था। उसमें भागने वाले मनुष्यों के मार्गरूप अनेक गुप्तद्वार थे। जानकार व्यक्ति ही उसमें निर्गम-प्रवेश (आवागमन) कर सकता था। बहुत से मोष-व्यावर्तक—चोरों से चुराई वस्तुओं को वापिस लाने के लिये उद्यत मनुष्यों द्वारा भी उसका पराजय नहीं किया जा सकता था।

चोरसेनापति विजय

४—तत्थ णं सालाडवीए चोरपल्लीए विजय नामं चोरसेणावई परिवसइ। अहम्मिए जाव (अहम्मिट्ठे अहम्मक्खाई अहम्माणुए अहम्मपलोई अहम्मपलज्जणे अहम्मसीलसमुदायारे अहम्मेण

१. औप. सूत्र-३

चेव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ-हण-छिंद-भिंद-वियत्तए) लोहियपाणी बहुनयरनिग्गयजसे, सूरे, दढप्पहारे, साहसिए, सद्दवेही परिवसइ असिलट्ठिपढममल्ले। से णं तत्थ सालाडवीए चोरपल्लीए पंचण्हं चोरसयाणं आहेवच्चं जाव (पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसर-सेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे विहरइ।

४—उस शालाटवी चोरपल्ली में विजय नाम का चोर सेनापति रहता था। वह महा अधर्मी था यावत् (अधर्मनिष्ठ, अधर्म की बात करने वाला, अधर्म का अनुयायी, अधर्मदर्शी, अधर्म में अनुराग वाला, अधर्माचारशील, अधर्म से जीवन-यापन करने वाला, मारो, काटो, छेदो, भेदो, ऐसा ही बोलने वाला था) उसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे। उसका नाम अनेक नगरों में फैला हुआ था। वह शूरवीर, दृढप्रहरी, साहसी, शब्दवेधी—(बिना देखे मात्र शब्द से लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त कर बींधने वाला) तथा तलवार और लाठी का अग्रगण्य-प्रधान योद्धा था। वह सेनापति उस चोरपल्ली में पांच सौ चोरों का स्वामित्व, अग्रेसरत्व, नेतृत्व, बड़प्पन करता हुआ रहता था।

५—तत्थ णं से विजय चोरसेणावई बहूणं चोराण य पारदारियाण य गंठिभेयाण य संधिच्छेयाण य खंडपट्टाण य अन्नेसिं च बहूणं छिन्न-भिन्न बाहिराहियाणं कुडंगे यावि होत्था।

तए णं से विजय चोरसेणावई पुरिमतालस्स नयरस्स उत्तरपुरत्थिमिल्लं जणवयं बहूहिं गामघाएहि य नगरघाएहि य गोग्गहणेहि य बन्दिग्गहणेहि य पन्थकोट्टेहि य खत्त-खणणेहि य ओवीलेमाणे, विद्धंसेमाणे, तज्जेमाणे, तालेमाणे नित्थाणे निद्धणे निक्कणे करेमाणे विहरइ महाबलस्स रण्णो अभिक्खणं अभिक्खणं कप्पायं गेण्हइ।

५—तदनन्तर वह विजय नामक चोरसेनापति अनेक चोर, पारदारिक—परस्त्रीलम्पट, ग्रन्थिभेदक—गांठ काटने वाले, सन्धिच्छेदक—सांध लगाने वाले, जुआरी) धूर्त वगैरह लोग (कि जिनके पास पहिनने के लिये वस्त्र-खण्ड भी न हो) तथा अन्य बहुत से छिन्न—हाथ आदि जिनके कटे हुए हैं, भिन्न—नासिका आदि से रहित तथा शिष्टमण्डली से बहिष्कृत व्यक्तियों के लिये कुटङ्क-बांस के वन के समान गोपक या संरक्षक था।

वह विजय चोरसेनापति पुरिमताल नगर के ईशान कोणगत जनपद—देश—को अनेक ग्रामों को नष्ट करने से, अनेक नगरों का नाश करने से, गाय आदि पशुओं के अपहरण से, कैदियों को चुराने से, पथिकों को लूटने से, खात—सेंध लगाकर चोरी करने से, पीड़ित करता हुआ, विध्वस्त करता हुआ, तर्जित—तर्जनायुक्त करता हुआ, चाबुक आदि से ताडित करता हुआ, स्नानरहित धनरहित तथा धान्यादि से रहित करता हुआ तथा महाबल राजा के राजदेयकर—महसूल को भी बारम्बार स्वयं ग्रहण करता हुआ समय व्यतीत करता था।

अभग्नसेन

६—तस्स णं विजयस्स चोरसेणावइस्स खन्दसिरी नामं भारिया होत्था, अहीण०।[1] **तस्स**

---

१. द्वि. अ., सूत्र-३

णं विजयचोरसेणावइस्स पुत्ते खंदसिरीए भारियाए अत्तए अभग्गसेणे नामं दारए होत्था, अहीण—पडिपुण्णपंचिंदियसरीरे विन्नायपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते।

६—उस विजय नामक चोरसेनापति की स्कन्दश्री नाम की परिपूर्ण पांच इन्द्रियों से युक्त सर्वांगसुन्दरी पत्नी थी। उस विजय चोरसेनापति का पुत्र एवं स्कन्दश्री का आत्मज अभग्नसेन नाम का एक बालक था, जो अन्यून—सम्पूर्ण पांच इन्द्रियों वाला—संगठित शरीर वाला तथा विशेष ज्ञान रखने वाला और बुद्धि की परिपक्वता से युक्त यौवनावस्था को प्राप्त किये हुए था।

७—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुरिमतालनयरे समोसढे। परिसा निग्गया। राया निग्गओ। धम्मो कहिओ। परिसा राया य पडिगओ।

७—उस काल तथा उस समय में पुरिमताल नगर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। परिषद-जनसमूह धर्मदेशना श्रवण करने गये। राजा भी गया। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुनकर राजा तथा जनता वापिस अपने स्थान को लौट आये।

८—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी गोयमे जाव[1] रायमग्गं समोगाढे। तत्थ णं बहवे हत्थी पासइ, बहवे आसे, पुरिसे सन्नद्धबद्धकवए। तेसिं णं पुरिसाणं मज्भगयं एगं पुरिसं पासइ अवओडयबंधणं जाव[2] उग्घोसिज्जमाणं। तए णं तं पुरिसं रायपुरिसा पढमंसि चच्चरंसि निसीयावेन्ति, निसीयावेत्ता अट्ठ चुल्लपिउए अग्गओ घाएन्ति, घाएत्ता कसप्पहारेहिं तालेमाणा तालेमाणा कलुणं कागणिमंसाइं खावेंति, रुहिरपाणियं च पाएन्ति। तयाणन्तरं च दोच्चंसि चच्चरंसि अट्ठ चुल्लमाउयाओ अग्गओ घाएन्ति, घाएत्ता कसपहारेहिं तालेमाणा तालेमाणा कलुणं कागणिमंसाइं खावेंति, रुहिरपाणियं च पाएन्ति। एवं तच्चे चच्चरे अट्ठमहापिउए, चउत्थे अट्ठ महा-माउयाओ, पंचमे पुत्ते, छट्ठे सुण्हाओ, सत्तमे जामाउया, अट्ठमे धूयाओ, नवमे नत्तुया, दसमे नत्तुईओ, एक्कारसमे नत्तुयावई, बारसमे नत्तुइणीओ, तेरसमे पिउस्सियपइया, चोद्दसमे पिउस्सियाओ, पन्नरसमे माउस्सियापइया, सोलसमे माउस्सियाओ, सत्तरसमे मामियाओ, अट्ठारसमे अवसेसं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं अग्गओ घाएंति घाएत्ता कसप्पहारेहिं तालेमाणा तालेमाणा कलुणं कागणिमंसाइं खावेंति, रुहिरपाणियं च पाएन्ति!

८—उस काल एवं उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी राजमार्ग में पधारे। वहाँ उन्होंने बहुत से हाथियों, घोड़ों तथा सैनिकों की तरह शस्त्रों से सुसज्जित और कवच पहिने हुए अनेक पुरुषों को देखा। उन सब पुरुषों के बीच अवकोटक बन्धन[3] से युक्त उद्घोषित एक पुरुष को भी देखा, जैसा दूसरे अध्ययन में कहा गया है।

तदनन्तर राजपुरुष उस पुरुष को चत्वर (चार मार्गों से अधिक मार्ग जहाँ एकत्रित हों) पर बैठाकर उसके आगे आठ लघुपिताओं (चाचाओं) को मारते हैं। तथा कशादि प्रहारों से ताड़ित करते हुए दयनीय स्थिति को प्राप्त हुए उस पुरुष को उसके ही शरीर में से काटे गये मांस के छोटे-छोटे

१. द्वि. अ., सूत्र-६
२. द्वि. अ., सूत्र-६ ३. द्वि. अ., सूत्र-७

टुकड़ों को खिलाते हैं और रुधिर का पान कराते हैं। तदनन्तर द्वितीय चत्वर पर उसकी आठ लघु-माताओं को (चाचियों को) उसके समक्ष ताड़ित करते हैं और मांस खिलाते तथा रुधिरपान कराते हैं। इसी तरह तीसरे चत्वर पर आठ महापिताओं (पिता के ज्येष्ठ भ्राताओं—ताउओं) को, चौथे चत्वर पर आठ महामाताओं (पिता के ज्येष्ठ भ्राताओं की धर्मपत्नियों—ताइयों) को, पांचवे पर पुत्रों को, छट्ठे पर पुत्रवधुओं को, सातवें पर जामाताओं को, आठवें पर लड़कियों को, नवमें पर नप्ताओं (पौत्रों व दोहित्रों) को, दसवें पर लड़के और लड़कियों की लड़कियों (पौत्रियों व दौहित्रियों) को, ग्याहरवें पर नप्तृकापतियों (पौत्रियों व दौहित्रियों के पतियों) को, तेरहवें पर पिता की बहिनों के पतियों (फूफाओं) को, चौदहवें पर पिता की बहिनों (बुआओं) को, पन्द्रहवें पर माता की बहिनों के पतियों (मौसाओं) को, सोलहवें पर माता की बहिनों को (मौसियों को,) सत्रहवें पर मामा की स्त्रियों (मामियों) को, अठारहवें पर शेष मित्र, ज्ञाति, स्वजन सम्बन्धी और परिजनों को उस पुरुष के आगे मारते हैं तथा चाबुक के प्रहारों से ताड़ित करते हुए वे राजपुरुष करुणाजनक उस पुरुष को उसके शरीर से निकाले हुए मांस के टुकड़े खिलाते और रुधिर का पान कराते हैं।

अभग्नसेन का पूर्वभव

९—तए णं से भगवं गोयमे तं पुरिसं पासइ पासित्ता इमे एयारूवे जाव समुप्पन्ने जाव तहेव निग्गए एवं वयासी—'एवं खलु अहं णं भंते ! तं चेव जाव से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसी[1] जाव विहरइ।'

९—तदनन्तर भगवान् गौतम के हृदय में उस पुरुष को देखकर यह सङ्कल्प उत्पन्न हुआ यावत् पूर्ववत् वे नगर से बाहर निकले तथा भगवान् के पास आकर निवेदन करने लगे—भगवन् ! मैं आपकी आज्ञानुसार नगर में गया, वहां मैंने एक पुरुष को देखा यावत् भगवन् ! वह पुरुष पूर्वभव में कौन था ? जो इस तरह अपने कर्मों का फल पा रहा है ?

अभग्नसेन का निन्नयभव

१०—एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे, भारहे वासे पुरिमताल नामं नयरे होत्था, रिद्धत्थमियसमिद्धे[1]। तत्थ णं पुरिमताले नयरे उदिए नामं राया होत्था, महया०[2]। तत्थ णं पुरिमताले निन्नए नामं अंडयवाणिए होत्था। अड्ढे जाव[3] अपरिभूए, अहम्मिए[4] जाव दुप्पडियाणन्दे। तस्स णं निन्नयस्स बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं कुद्दालियाओ य पत्थियपिडए य गिण्हंति, गिण्हित्ता पुरिमतालस्स नगरस्स परिपेरन्तेसु बहवे काइअंडए य घूइअंडए य पारेवइअंडए य टिट्टिभिअंडए य बगि-मयूरी-कुक्कुडिअंडए य अन्नेसिं च बहूणं जलयर-थलयर-खहयरमाईणं अंडाइं गेण्हंति, गेण्हेत्ता पत्थियपिडगाइं भरेंति, भरेत्ता जेणेव निन्नयए अंडवाणियए तेणामेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता निन्नयस्स अंडवाणियस्स उवणेंति।

१०—इस प्रकार निश्चय ही हे गौतम ! उस काल तथा उस समय इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप

१. औप. सूत्र-१
२. औप० सूत्र-१४
३. औप. सूत्र १४१
४. तृतीय अध्ययन-४

के अन्तर्गत भारतवर्ष में पुरिमताल नामक समृद्धिपूर्ण नगर था। उस पुरिमताल नगर में उदित नाम का राजा राज्य करता था, जो हिमालय पर्वत की तरह महान् था। उस पुरिमताल नगर में निर्णय नाम का एक अण्डों का व्यापारी भी रहता था। वह धनी तथा पराभव को न प्राप्त होने वाला, अधर्मी यावत् (अधर्मानुयायी, अधर्मनिष्ठ, अधर्म की कथा करने वाला, अधर्मदर्शी, अधर्माचारी) एवं परम असन्तोषी था।

निर्णय नामक अण्डवणिक के अनेक दत्तभृतिभक्तवेतन (रुपये पैसे और भोजन के रूप से वेतन ग्रहण करने वाले) अनेक पुरुष प्रतिदिन कुद्दाल व बांस की पिटारियों को लेकर पुरिमताल नगर के चारों ओर अनेक, कौवी (कौए की मादा) के अण्डों को, घूकी (उल्लू की मादा) के अण्डों को कबूतरी के अण्डों को, बगुली के अण्डों को, मोरनी के अण्डों को, मुर्गी के अण्डों को, तथा अनेक जलचर, स्थलचर, व खेचर आदि जीवों के अण्डों को लेकर पिटारियों में भरते थे और भरकर निर्णय नामक अण्डों के व्यापारी के पास आते थे, आकर उस अण्डव्यापारी को अण्डों से भरी हुई वे पिटारियाँ देते थे।

११—तए णं तस्स निन्नयस्स अंडवाणियस्स बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा बहवे काइ अण्डए जाव[1] कुक्कुडिअण्डए य अन्नेसिं च बहूणं जलयर-थलयर-खहयरमाईणं अण्डयए तवएसु य कवल्लीसु य कंदुएसु य भज्जणएसु य इंगालेसु य तलेंति, भज्जेंति, सोल्लेन्ति, तलित्ता भज्जित्ता सोलेत्ता रायमग्गे अंतरावणंसि अंडयपणिएणं वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। अप्पणा यावि णं से निन्नयए अण्डवाणियए तेहिं बहूहिं काइअंडएहि य जाव कुक्कुडिअंडएहि य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च महुं च मेरगं च जाइं च सीधुं च आसाएमाणे-४ विहरइ।

११—तदनन्तर वह निर्णय नामक अण्डवणिक् के अनेक वेतनभोगी पुरुष बहुत से कौवी यावत् कुकड़ी के अण्डों तथा अन्य जलचर, स्थलचर एवं खेचर आदि पूर्वोक्त जीवों के अण्डों को तवों पर कड़ाहों पर हाथों में एवं अंगारों में तलते थे, भूनते थे, पकाते थे। तलकर, भूनकर एवं पकाकर राजमार्ग की मध्यवर्ती दुकानों पर अण्डों के व्यापार से आजीविका करते हुए समय व्यतीत करते थे। वह निर्णय नामक अण्डवणिक् स्वयं भी अनेक कौवी यावत् कुकड़ी के अण्डों के, जो कि पकाये हुए, तले हुए और भुने हुए थे, साथ ही सुरा, मधु, मेरक, जाति तथा सीधु, इन पंचविध मदिराओं का आस्वादन करता हुआ जीवन-यापन कर रहा था।

अभग्नसेन का वर्तमान-भव

१२—तए णं से निन्नए अंडवाणियए एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता एगं वाससहस्सं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा तच्चाए पुढवीए उक्कोसेणं सत्तसागरोवमठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने। से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव सालाडवीए चोरपल्लीए विजयस्स चोरसेणावइस्स खंदसिरीए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने।

१२—तदनन्तर वह निर्णय नामक अण्डवणिक् इस प्रकार के पापकर्मों का करने वाला अत्यधिक पापकर्मों को उपार्जित करके एक हजार वर्ष की परम आयुष्य को भोगकर मृत्यु के समय में

१. तृ. अ., सूत्र १०

मृत्यु को प्राप्त करके तीसरी पृथ्वी—नरक में उत्कृष्ट सात सागरोपम की स्थितिवाले नारकों में नारक रूप से उत्पन्न हुआ। वह निर्णयनामक अण्डवणिक् नरक से निकलकर विजयनामक चोरसेनापति की स्कन्दश्री भार्या के उदर में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।

१३—तए णं तीसे खन्दसिरीए भारियाए अन्नया कयाइ तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूए। 'धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाओ णं बहूहिं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणमहिलाहिं अन्नाहि य चोरमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा ण्हाया कयबलिकम्मा जाव (कयकोउयमंगल-) पायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च मज्जं च आसाएमाणी विसाएमाणी परिभाएमाणी परिभुंजेमाणी विहरंति। जिमियभुत्तुत्तरागयाओ पुरिसनेवत्थिया सन्नद्धबद्धवम्मियकवइया जाव[1] गहियाउहप्पहरणा भरिएहिं फलएहिं, निक्किट्ठाहिं असीहिं, अंसागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणूहिं, समुक्खित्तेहिं सरेहिं, समुल्लासियाहिं दामाहिं लंबियाहि य ओसारियाहिं उरुघण्टाहिं, छिप्पतूरेणं वज्जमाणेणं महया उक्किट्ठ जाव (सीहनाय-बोल-कलकलरवेणं) समुद्दरवभूयं पिव करेमाणीओ सालाडवीए चोरपल्लीए सव्वओ समंता आलोएमाणीओ आलोएमाणीओ आहिंडमाणीओ दोहलं विणेन्ति। तं जइ अहं पि जाव दोहलं विणिज्जामि' त्ति कट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि जाव सुक्का भुक्खा जाव अट्टज्झाणोवगया भूमिगयदिट्ठीया झियाइ।

१३—किसी अन्य समय लगभग तीन मास परिपूर्ण होने पर स्कन्दश्री को यह दोहद (संकल्प) उत्पन्न हुआ—वे माताएँ धन्य हैं, जो मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धियों और परिजनों की महिलाओं तथा अन्य महिलाओं से परिवृत होकर स्नान यावत् अनिष्टोत्पादक स्वप्नादि को निष्फल बनाने के लिए प्रायश्चित्त रूप में माङ्गलिक कृत्यों को करके सर्वप्रकार के अलंकारों से अलंकृत हो, बहुत प्रकार के अशन, पान, खादिम स्वादिम पदार्थों तथा सुरा, मधु, मेरक, जाति और प्रसन्नादि मदिराओं का आस्वादन, विस्वादन, परिभाजन और परिभोग करती हुई विचरती हैं, तथा भोजन के पश्चात् जो उचित स्थान पर उपस्थित हुई है, जिन्होने पुरुष का वेष पहना हुआ है और जो दृढ़ बन्धनों से बंधे हुए, लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच-लोहमय बख्तर को शरीर पर धारण किए हुए हैं, यावत् आयुध और प्रहरणों से युक्त हैं, तथा वाम हस्त में धारण किये हुए फलक-ढालों से, कोश—म्यान से बाहर निकली हुई तलवारों से, कन्धे पर रखे हुए तरकशों से ऊँचे किये हुए पाशों-जालों अथवा शस्त्रविशेषों से, सजीव-प्रत्यंचा युक्त धनुषों से, सम्यक्तया फेंके जाने वाले बाणों से, लटकती व अवसारित चालित जंघा-घण्टियों के द्वारा तथा क्षिप्रतूर्य (शीघ्र बजाया जाने वाला बाजा) बजाने से महान् उत्कृष्ट-आनन्दमय महाध्वनि से समुद्र की आवाज के समान आकाशमण्डल को शब्दायमान करती हुई शालाटवी नामक चोरपल्ली के चारों ओर अवलोकन तथा उसके चारों तरफ भ्रमण करती हुई अपना दोहद पूर्ण करती हैं।

क्या अच्छा हो यदि मैं भी इसी भांति अपने दोहद को पूर्ण करूँ ? ऐसा विचार करने के पश्चात् वह दोहद के पूर्ण न होने से उदास हुई, दुबली पतली और जमीन पर नजर गड़ाए आर्त ध्यान करने लगी।

---

१ द्वि. अ., सूत्र-६

१४—तए णं से विजए चोरसेणावई खंदसिरिं भारियं ओहयमणसंकप्पं जाव पासइ, पासित्ता एवं वयासी—'किं णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहयमणसंकप्पा जाव झियासि ?'

तए णं सा खंदसिरी विजयचोरसेणावइं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम तिण्हं मासाणं जाव झियामि ।'

तए णं से विजए चोरसेणावई खंदसिरीए भारियाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म खंदसिरिभारियं एवं वयासी—'अहासुहं देवाणुप्पिए !' त्ति एयमट्ठं पडिसुणेइ ।

१४—तदनन्तर विजय चोरसेनापति ने आर्तध्यान करती हुई स्कन्दश्री को देखकर इस प्रकार पूछा—देवानुप्रिये ! तुम उदास हुई क्यों आर्तध्यान कर रही हो ?

स्कन्दश्री ने विजय चोरसेनापति के उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा—देवानुप्रिय ! मुझे गर्भ धारण किये हुए तीन मास हो चुके हैं। मुझे पूर्वोक्त दोहद हुआ, उसकी पूर्ति न होने से कर्तव्य-अकर्तव्य-शून्य होकर शोकाकुल एवं आर्तध्यान कर रही हूँ।

तब विजय चोरसेनापति ने अपनी स्कन्दश्री भार्या का यह कथन सुन और समझ कर स्कन्दश्री भार्या को इस प्रकार कहा—हे सुभगे ! तुम इस दोहद की अपनी इच्छा के अनुकूल पूर्ति कर सकती हो, इसकी चिन्ता न करो।

१५—तए णं सा खंदसिरिभारिया विजएणं चोरसेणावइणा अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठा तुट्ठा बहूहिं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियण-महिलाहिं जाव अन्नाहि य बहूहिं चोरमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा ण्हाया जाव विभूसिया विउलं असणं-४ सुरं च-५ आसाएमाणी-४ विहरइ । जिमियभुत्तुत्त-रागया पुरिसनेवत्था सन्नद्धबद्ध० जाव आहिंडमाणी दोहलं विणेइ । तए णं सा खंदसिरिभारिया संपुण्णदोहला, संमाणियदोहला विणीयदोहला वोच्छिन्नदोहला संपन्नदोहला० तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहइ ।

१५—तदनन्तर वह स्कन्दश्री पति के वचनों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। हर्षातिरेक से बहुत सहचारियों व चोरमहिलाओं को साथ में लेकर स्नानादि से निवृत्त हो, अलंकारों से अलंकृत होकर विपुल अशन, पान, व सुरा मदिरा आदि का आस्वादन, विस्वादन करने लगी। इस तरह सबके साथ भोजन करने के पश्चात् उचित स्थान पर एकत्रित होकर पुरुषवेष को धारण कर तथा दृढ बन्धनों से बंधे हुए लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को शरीर पर धारण करके यावत् भ्रमण करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती है। तत्पश्चात् वह स्कन्दश्री दोहद के सम्पूर्ण होने, सम्मानित होने, विनीत होने, तथा सम्पन्न होने पर अपने उस गर्भ को परमसुखपूर्वक धारण करती हुई रहने लगी।

१६—तए णं सा चोरसेणावइणी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया । तए णं से विजए चोरसेणावई तस्स दारगस्स महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं दसरत्तं ठिइवडियं करेइ । तए णं से विजए चोरसेणावई तस्स दारगस्स एक्कारसमे दिवसे विउलं असणं-४ उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता मित्तनाइ० आमंतेइ, आमंतित्ता जाव तस्सेव मित्तनाइ० पुरओ एवं वयासी—'जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भगयंसि समाणंसि इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूए, तम्हा णं होउ अम्हं दारए अभग्गसेणे नामेणं ।'

तए णं से अभग्गसेणे कुमारे पंचधाईपरिग्गहिए जाव[1] परिवड्ढइ। तए णं से अभग्गसेणे कुमारे उम्मुक्कबालभावे यावि होत्था। अट्ठदारियाओ, जाव अट्ठओ दाओ। उप्पिं पासाए भुंजमाणे विहरइ।

१६—तदन्तर उस चोर सेनापति की पत्नी स्कन्दश्री ने नौमास के परिपूर्ण होने पर पुत्र को जन्म दिया। विजय चोरसेनापति ने भी दश दिन पर्यन्त महान् वैभव के साथ स्थिति-पतित-कुलक्रमागत उत्सव मनाया। उसके बाद बालक के जन्म के ग्यारहवें दिन विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार कराया। मित्र, ज्ञाति, स्वजनों आदि को आमन्त्रित किया, जिमाया और उनके सामने इस प्रकार कहा, 'जिस समय यह बालक गर्भ में आया था, उस समय इसकी माता को एक दोहद उत्पन्न हुआ था (उस दोहद को भग्न नहीं होने दिया) अतः माता को जो दोहद उत्पन्न हुआ वह अभग्न रहा तथा निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। इसलिये इस बालक का 'अभग्नसेन' यह नामकरण किया जाता है।' तदनन्तर वह अभग्नसेन बालक क्षीरधात्री आदि पांच धायमाताओं के द्वारा संभाला जाता हुआ वृद्धि को प्राप्त होने लगा। अनुक्रम से कुमार अभग्नसेन ने बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था में प्रवेश किया। आठ कन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ। विवाह में उसके माता-पिता ने आठ-आठ प्रकार की वस्तुएँ प्रीतिदान—दहेज में दी और वह ऊँचे प्रासादों में रहकर मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करने लगा।

१७—तए णं से विजए चोरसेणावई अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते।

तए णं से अभग्गसेणे कुमारे पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे, कंदमाणे, विलवमाणे विजयस्स चोरसेणावइस्स महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं नीहरणं करेइ, करेत्ता, बहूइं लोइयाइं मच्चकिच्चाइं करेइ, करेत्ता केणइ कालेणं अप्पसोए जाए यावि होत्था।

१७—तत्पश्चात् किसी समय वह विजय चोरसेनापति कालधर्म (मरण) को प्राप्त हो गया।

उसकी मृत्यु पर कुमार अभग्नसेन ने पांच सौ चोरों के साथ रोते हुए, आक्रन्दन करते हुए और विलाप करते हुए अत्यन्त ठाठ के साथ एवं सत्कार सम्मान के साथ विजय चोरसेनापति का नीहरण—दाहसंस्कार किया। बहुत से लौकिक मृतककृत्य अर्थात् दाहसंस्कार से लेकर पिता के निमित्त किए जाने वाले दान भोजनादि कार्य किए। थोड़े समय के पश्चात् अभग्नसेन शोक रहित हो गया।

१८—तए णं ते चोरपंचसयाइं अन्नया कयाइ अभग्गसेणं कुमारं सालाडवीए चोरपल्लीए महया महया इड्ढीसक्कारेणं चोरसेणावइत्ताए अभिसिंचंति। तए णं से अभग्गसेणे कुमारे चोरसेणावई जाए अहम्मिए जाव[2] कप्पायं गिण्हइ।

१८—तदनन्तर उन पांच सौ चोरों ने बड़े महोत्सव के साथ अभग्नसेन को शालाटवी नामक चोरपल्ली में चोर सेनापति के पद पर प्रस्थापित किया। सेनापति के पद पर नियुक्त हुआ वह

१. द्वि. अ., सूत्र १६
२. तृ. अ., सूत्र-४-५

अभग्नसेन, अधार्मिक, अधर्मनिष्ठ, अधर्मदर्शी एवं अधर्म का आचरण करता हुआ यावत् राजदेय कर-महसूल को भी ग्रहण करने लगा।

१९—तए णं ते जाणवया पुरिसा अभग्गसेणेणं चोरसेणावइणा बहुगामघायावणाहिं ताविया समाणा अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी—

'एवं खलु, देवाणुप्पिया! अभग्गसेणे चोरसेणावई पुरिमतालस्स नयरस्स उत्तरिल्लं जणवयं बहूहिं गामघाएहिं जाव[1] निद्धणं करेमाणे विहरइ। 'तं सेयं खलु, देवाणुप्पिया! पुरिमताले नयरे महब्बलस्स रण्णो एयमट्ठं विन्नवित्तए।'

तए णं ते जाणवया पुरिसा एयमट्ठं अन्नमन्नेणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता महत्थं महग्घं महरिहं रायारिहं पाहुडं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव पुरिमताले नयरे तेणेव उवागया, जेणेव महाबले राया तेणेव उवागया। महाबलस्स रण्णो तं महत्थं जाव पाहुडं उवणेंति, उवणेत्ता करयलपरिग्गहियं मत्थए अंजलिं कट्टु महाबलं रायं एवं वयासी—

'एवं खलु सामी! सालाडवीए चोरपल्लीए अभग्गसेणे चोरसेणावई अम्हे बहूहिं गामघाएहि य जाव[2] निद्धणे करेमाणे विहरइ। तं इच्छामो णं, सामी! तुज्झं बाहुच्छायापरिग्गहिया निब्भया निरुवसग्गा सुहेणं परिवसित्तए' त्ति कट्टु पायवडिया पंजलिउडा महाबलं रायं एयमट्ठं विन्नवेंति।

१९—तदनन्तर अभग्नसेन नामक चोरसेनापति के द्वारा बहुत ग्रामों के विनाश से सन्तप्त हुए उस देश के लोगों ने एक दूसरे को बुलाकर इस प्रकार कहा—

हे देवानुप्रियो! चोरसेनापति अभग्नसेन पुरिमताल नगर के उत्तरदिशा के बहुत से ग्रामों का विनाश करके वहाँ के लोगों को धन-धान्यादि से रहित कर रहा है। इसलिये हे देवानुप्रियो! पुरिमताल नगर के महाबल राजा को इस बात से संसूचित करना अपने लिये श्रेयस्कर है।

तदनन्तर देश के एकत्रित सभी जनों ने परस्पर इस बात को स्वीकार कर लिया और जहाँ पर पुरिमताल नगर था एवं जहाँ पर महाबल राजा था, वहाँ महार्थ, महार्घ (बहुमूल्य) महार्ह व राजा के योग्य भेंट लेकर आये और दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि करके महाराज को वह मूल्यवान् भेंट अर्पण की। अर्पण करके महाबल राजा से इस प्रकार बोले—

'हे स्वामिन्! इस प्रकार निश्चय ही शालाटवी नामक चोरपल्ली का चोरसेनापति अभग्नसेन ग्रामघात तथा नगरघात आदि करके यावत् हमें निर्धन बनाता हुआ विचरण कर रहा है। हे नाथ! हम चाहते हैं कि आपकी भुजाओं की छाया से संरक्षित होते हुए निर्भय और उपसर्ग रहित होकर हम सुखपूर्वक निवास करें।' इस प्रकार कहकर, पैरों में पड़कर तथा दोनों हाथ जोड़कर उन प्रान्तीय पुरुषों ने महाबल नरेश से इस प्रकार विज्ञप्ति की।

२०—तए णं महब्बले राया तेसिं जाणवयाणं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरत्ते जाव (रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु दंडं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! सालाडविं चोरपल्लिं विलुंपाहि, विलुंपित्ता अभग्गसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहं गिण्हाहि, गिण्हित्ता ममं उवणेहि।'

१-२. १/३ सूत्र-५

तए णं से दंडे 'तह' त्ति एयमट्ठं पडिसुणेइ। तए णं से दंडे बहूहिं पुरिसेहिं सन्नद्धबद्धवम्मिय-कवएहिं जाव गहियाउह-पहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे मगइएहिं फलएहिं जाव छिप्पतूरेणं वज्जमाणेणं महया जाव उक्किट्ठं जाव करेमाणे पुरिमतालं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

२०—महाबल नरेश उन जनपदवासियों के पास से उक्त वृत्तान्त को सुनकर रुष्ट, कुपित और क्रोध से तमतमा उठे। उसके अनुरूप क्रोध से दांत पीसते हुए भौंहें चढ़ाकर अर्थात् क्रोध की साक्षात् प्रतिमा बनकर कोतवाल को बुलाते हैं और बुलाकर कहते हैं—देवानुप्रिय ! तुम जाओ और शालाटवी नामक चोरपल्ली को लूट लो—नष्ट-भ्रष्ट कर दो और उसके चोरसेनापति अभग्नसेन को जीवित पकड़कर मेरे सामने उपस्थित करो !

महाबल राजा की इस आज्ञा को दण्डनायक विनयपूर्वक स्वीकार करता हुआ, दृढ़ बंधनों से बंधे हुए लोहमय कुसूलक आदि से युक्त कवच को धारण कर आयुधों और प्रहरणों से लैस अनेक पुरुषों को साथ में लेकर, हाथों में फलक-ढाल बांधे हुए यावत् क्षिप्रतूर्य के बजाने से महान् उत्कृष्ट महाध्वनि एवं सिंहनाद आदि के द्वारा समुद्र की सी गर्जना करते हुए, आकाश को विदीर्ण करते हुए पुरिमताल नगर के मध्य से निकल कर शालाटवी चोरपल्ली की ओर जाने का निश्चय करता है।

२१—तए णं तस्स अभग्गसेणस्स चोरसेणावइस्स चारपुरिसा इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा जेणेव सालाडवी चोरपल्ली, जेणेव अभग्गसेणे चोरसेणावई, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल जाव परिग्गहियं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले नयरे महाबलेण रण्णा महाभडचडगरेणं दण्डे आणत्ते—'गच्छह णं तुब्भे, देवाणुप्पिया ! सालाडविं चोरपल्लिं विलुंपाहि, अभग्गसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहं गेण्हाहि, गेण्हित्ता ममं उवणेहि।' तए णं से दंडे महया भडचडगरेणं जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

२१—तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति के गुप्तचरों को इस वृत्तान्त का पता लगा। वे सालाटवी चोरपल्ली में, जहां अभग्नसेन चोरसेनापति था, आये और दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि करके अभग्नसेन से इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय ! पुरिमताल-नगर में महाबल राजा ने महान् सुभटों के समुदायों के साथ दण्डनायक-कोतवाल को बुलाकर आज्ञा दी है कि—'तुम लोग शीघ्र जाओ, जाकर सालाटवी चोरपल्ली को नष्ट-भ्रष्ट कर दो—लूट लो और उसके सेनापति अभग्नसेन को जीवित पकड़ लो और पकड़कर मेरे सामने उपस्थित करो।' राजा की आज्ञा को शिरोधार्य करके कोतवाल योद्धाओं के समूह के साथ सालाटवी चोरपल्ली में आने के लिये रवाना हो चुका है।

२२—तए णं से अभग्गसेणे चोरसेणावई तेसिं चारपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म पंचचोरसयाइं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले नयरे महाबले जाव तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं तं दंडं सालाडविं चोरपल्लिं असंपत्ते अंतरा चेव पडिसेहित्तए।'

तए णं ताइं पंचचोरसयाइं अभग्गसेणस्स चोरसेणावइस्स 'तह' त्ति जाव पडिसुणेंति।

२२—तदनन्तर उस अभग्नसेन सेनापति ने अपने गुप्तचरों की बातों को सुनकर तथा विचारकर अपने पांच सौ चोरों को बुलाकर इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो ! पुरिमताल नगर के महाबल राजा ने आज्ञा दी है कि यावत् दण्डनायक ने चोरपल्ली पर आक्रमण करने का तथा मुझे जीवित पकड़ने को यहाँ आने का निश्चय कर लिया है, अतः उस दण्डनायक को सालाटवी चोरपल्ली पहुँचने से पहिले ही मार्ग में रोक देना हमारे लिये योग्य है ।

अभग्नसेन सेनापति के इस परामर्श को 'तथेति' (बहुत ठीक, ऐसा ही होना चाहिए) ऐसा कहकर पांच सौ चोरों ने स्वीकार किया ।

२३—तए णं से अभग्गसेणे चोरसेणावई विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं ण्हाए जाव पायच्छित्ते भोयणमंडवंसि तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विहरइ । जिमियभुत्तुत्तरागए वि य णं समाणे आयंते चोक्खे परमसूइभए पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं अल्लं चम्मं दुरुहइ, दुरुहित्ता सन्नद्धबद्ध जाव पहरणेहिं मग्गइएहिं जाव रवेणं पुव्वावरण्हकालसमयंसि सालाडवीओ चोरपल्लीओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता विसम-दुग्गगहणं ठिए गहियभत्तपाणे तं दंडं पडिवालेमाणे चिट्ठइ ।

२३—तदनन्तर अभग्नसेन चोर सेनापति ने अशन, पान, खादिम और स्वादिम—अनेक प्रकार की स्वादिष्ट भोजनसामग्री तैयार कराई तथा पांच सौ चोरों के साथ स्नानादि क्रिया कर दुःस्वप्नादि के फलों को निष्फल करने के लिये मस्तक पर तिलक तथा अन्य माङ्गलिक कृत्य करके भोजनशाला में उस विपुल अशनादि वस्तुओं तथा पांच प्रकार की मदिराओं का यथारुचि आस्वादन, विस्वादन आदि किया ।

भोजन के पश्चात् योग्य स्थान पर आचमन किया, मुख के लेपादि को दूर कर परम शुद्ध होकर पांच सौ चोरों के साथ आर्द्र चर्म पर आरोहण किया । तदनन्तर दृढ़बन्धनों से बंधे हुए, लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को धारण करके यावत् आयुधों और प्रहरणों से सुसज्जित होकर हाथों में ढालें बांधकर यावत् महान् उत्कृष्ट, सिंहनाद आदि शब्दों के द्वारा समुद्र के समान गर्जन करते हुए एवं आकाशमण्डल को शब्दायमान करते हुए अभग्नसेन ने सालाटवी चोरपल्ली से मध्याह्न के समय प्रस्थान किया । खाद्य पदार्थों को साथ लेकर विषम और दुर्ग-गहन वन में ठहरकर वह दण्डनायक की प्रतीक्षा करने लगा ।

विवेचन—आर्द्र चर्म पर आरोहण करने का क्या प्रयोजन है ? ऐसा प्रश्न उठने पर इसके समाधान के सम्बन्ध में तीन मान्यताएँ हैं—

आचार्य श्री अभयदेव सूरि के मन्तव्यानुसार—'आर्द्र चर्मारोहति मांगल्यार्थमिति' आर्द्र चर्म का आरोहण करना चोरों का अपना मांगलिक अनुष्ठान था । कारण 'विघ्नध्वंसकामो मंगलमाचरेत्' इस उक्ति के अनुसार अभग्नसेन और उसके साथियों ने दण्डनायक के बल को मार्ग में रोकने में आ सकने वाले संभावित विघ्नों के विनाश की कामना से प्रस्थान से पूर्व यह मंगल-अनुष्ठान किया ।

दूसरी मान्यता परम्परा का अनुसरण करने वाली है । तदनुसार आर्द्र चर्म पर आरोहित होने का परमार्थ यह है कि अनुकूल-प्रतिकूल कैसी भी परिस्थिति में पांव पीछे नहीं हटेगा । 'कार्यं वा साधयेयं, देहं वा पातयेयम्' अर्थात् हर प्रयत्न से कार्य को सिद्ध करके ही विराम लूंगा, अन्यथा

देह का उत्सर्ग कर दूंगा। इस प्रतिज्ञा से आबद्ध होने का दृढ़तम संकल्प आर्द्र चर्म पर आरोहित होने से प्रतीत होता है।

तीसरी मान्यता यह है कि जिस तरह आर्द्र चर्म फैलता है, वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार इस पर आरोहण करने वाला भी धन-जनादि परम समृद्धि के वृद्धि रूप प्रसार को उपलब्ध करता है। इसी महत्त्वाकांक्षा रूप भावना को सन्मुख रखते हुए अभग्नसेन और उसके पाँच सौ साथियों ने आर्द्र चर्म पर आरोहण किया।

२४—तए णं से दंडे जेणेव अभग्गसेणे चोरसेणावई तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अभग्गसेणेणं चोरसेणावइणा सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था। तए णं अभग्गसेणे चोरसेणावई तं दण्डं खिप्पामेव हयमहिय जाव (पवरवीर-घाइय-विवडियचिंध-धय-पडागं दिसोदिसिं) पडिसेहेइ।

२४—उसके बाद वह कोतवाल जहाँ अभग्नसेन चोरसेनापति था, वहाँ पर आता है, और आकर अभग्नसेन चोरसेनापति के साथ युद्ध में संप्रवृत्त हो जाता है। तदनन्तर, अभग्नसेन चोर सेनापति ने उस दण्डनायक को शीघ्र ही हतमथित कर दिया अर्थात् उस कोतवाल की सेना का हनन किया, वीरों का घात किया, ध्वजा पताका को नष्ट कर दिया, दण्डनायक का भी मानमर्दन कर उसे और उसके साथियों को इधर उधर भगा दिया।

२५—तए णं से दण्डे अभग्गसेणेणं चोरसेणावइणा हय० जाव पडिसेहिए समाणे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जमिति कट्टु जेणेव पुरिमताले नयरे, जेणेव महाबले राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल-जाव एवं वयासी—'एवं खलु, सामी! अभग्गसेणे चोरसेणावई विसमदुग्गगहणं ठिए गहियभत्तपाणिए। नो खलु से सक्का केणइ सुबहुएणावि आसबलेण वा हत्थिबलेण वा रहबलेण वा चाउरंगेण वि उरं उरेण गिण्हित्तए।'

ताहे सामेण य भेएण य उवप्पयाणेण यविस्संभमाणेउं पयत्ते यावि होत्था। जे वि से अब्भिंतरगा सीसगभमा, मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं च विउलेण, धन-कणग-रयण-संतसार-सावएज्जेणं भिन्दइ, अभग्गसेणस्स य चोरसेणावइस्स अभिक्खणं अभिक्खणं महत्थाइं महग्घाइं महरिहाइं पाहुडाइं पेसेइ, अभग्गसेणं चोरसेणावइं वीसंभमाणेइ।

२५—तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति के द्वारा हत-मथित यावत् प्रतिषेधित होने से तेजोहीन, बलहीन, वीर्यहीन तथा पुरुषार्थ और पराक्रम से हीन हुआ वह दण्डनायक शत्रुसेना को परास्त करना अशक्य जानकर पुनः पुरिमतालनगर में महाबल नरेश के पास आकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर दसों नखों की अञ्जलि कर इस प्रकार कहने लगा—

प्रभो! चोरसेनापति अभग्नसेन ऊँचे, नीचे और दुर्ग-गहन वन में पर्याप्त खाद्य तथा पेय सामग्री के साथ अवस्थित है। अतः बहुत अश्वबल, गजबल, योद्धाबल और रथबल, कहाँ तक कहूँ—चतुरङ्गिणी सेना के साक्षात् बल से भी वह जीते जी पकड़ा नहीं जा सकता है!

दण्डनायक के ऐसा कहने पर महाबल राजा सामनीति, भेदनीति व उपप्रदान नीति—दान नीति से उसे विश्वास में लाने के लिये प्रवृत्त हुआ। तदर्थ वह उसके (चोरसेनापति के) शिष्यभ्रम—शिष्य

तुल्य, अंतरंग—समीप में रहने वाले पुरुषों को अथवा जिन अंगरक्षकों को वह शिर अथवा शिर के कवच तुल्य मानता था उनको तथा मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन सम्बन्धी और परिजनों को धन, स्वर्ण रत्न और उत्तम सारभूत द्रव्यों के द्वारा तथा रुपयों पैसों का लोभ देकर उससे (चोरसेनापति से) जुदा करने का प्रयत्न करता है और अभग्नसेन चोरसेनापति को भी बार-बार महाप्रयोजन वाली, सविशेष मूल्य वाली, बड़े पुरुष को देने योग्य यहाँ तक कि राजा के योग्य भेंट भेजने लगा। इस तरह भेंट भेजकर अभग्नसेन चोरसेनापति को विश्वास में ले आता है।

विवेचन—'सीसगभमा' के दो संस्कृत प्रतिरूप होते हैं। एक 'शिष्यकभ्रमाः' और दूसरा 'शीर्षकभ्रमाः'। इन दोनों प्रतिरूपों को लक्ष्य में रखकर इसके तीन अर्थ सम्भावित हैं—

१—शिष्य अर्थ को सूचित करने वाला—दूसरा शब्द शिष्यक है, जिसमें शिष्यत्व की भ्रान्ति हो उसे शिष्यकभ्रम कहा जाता है अर्थात् जो विनीत होने के कारण शिष्य तुल्य है।

२—शिर रक्षक होने के कारण जिन्हें शिर अथवा शिर के कवच के समान माना जाता है अर्थात् जो शिर के कवच की भांति शिर की रक्षा करते हैं।

३—शरीर रक्षक होने के नाते जिनको शरीर तुल्य समझा जाता है, वे भी शीर्षकभ्रम कहे जाते हैं।

२६—तए णं से महाबले राया अन्नया कयाइ पुरिमताले नयरे एगं महं महइमहालयं कूडागारसालं करेइ—अणेग-खंभसयसन्निविट्ठं पासाईयं दरिसणिज्जं। तए णं से महाबले राया अन्नया कयाइ पुरिमताले नयरे उस्सुक्कं जाव उक्करं अभडप्पवेसं अदंडिमकुदंडिमं अधरिमं अधारणिज्जं अणुद्धयमुइंगं अमिलायमल्लदामं गणियावरनाडइज्जकलियं अणेगतालायराणुचरियं पमुइयपक्कीलाभिरामं जहारिहं) दसरत्तं पमोयं घोसावेइ, घोसावेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे, देवाणुप्पिया! सालाडवीए चोरपल्लीए। तत्थ णं तुब्भे अभग्गसेणं चोरसेणावइं करयल जाव एवं वयह—

२६—तदनन्तर किसी अन्य समय महाबल राजा ने पुरिमताल नगर में महती—प्रशस्त, सुन्दर व अत्यन्त विशाल, मन में हर्ष उत्पन्न करने वाली, दर्शनीय, जिसे देखने पर भी आंखें न थकें ऐसी सैकड़ों स्तम्भों वाली कूटाकारशाला बनवायी। उसके बाद महाबल नरेश ने किसी समय उस षड्यन्त्र के लिए बनवाई कूटाकारशाला के निमित्त उच्छुल्क—(जिसमें राजदेयभाग—महसूल माफ कर दिया हो) यावत् दश दिन के प्रमोद उत्सव की उद्घोषणा कराई। कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा कि—हे भद्रपुरुषो! तुम शालाटवी चोरपल्ली में जाओ और वहाँ अभग्नसेन चोरसेनापति से दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर दस नखों वाली अञ्जलि करके, इस प्रकार निवेदन करो—

विवेचन—कूट पर्वत के शिखर का नाम है। कूट के समान जिसका आकार हो उसे कूटाकारशाला कहते हैं, अर्थात् जिस भवन का आकार पर्वत की चोटी के समान हो।

१—उच्छुल्क—जिस उत्सव में राजकीय कर—महसूल न लिया जाता हो।

२—उत्कर—जिसमें दुकान के लिये ली गयी जमीन का भाड़ा अथवा क्रय-विक्रय के लिये लाये गये गाय आदि पशुओं का कर न लिया जाय।

३—**अभटप्रवेश**—जिस उत्सव में किसी राजपुरुष के द्वारा किसी घर की तलाशी नहीं ली जा सकती।

४—**अदण्डिम-कुदण्डिम**—न्यायानुसार दी जाने वाली सजा दण्ड कही जाती है, और न्यूनाधिक सजा को कुदण्ड कहते हैं, उस दण्ड कुदण्ड से उत्पन्न द्रव्य का जिस उत्सव में अभाव हो।

५—**अधरिम**—जिस उत्सव में किसी को कोई अपने ऋण के कारण पीडित नहीं कर सकता।

६—**अधारणीय**—जिस उत्सव में दुकान आदि लगाने के लिये राजा की ओर से वापिस नहीं लौटाई जाने वाली आर्थिक सहायता दी जाय।

७—अनुद्धृत मृदंग—जिसमें मृदंग बजाने वालों ने बजाने के लिये मृदंग ग्रहण किये हों, तबलों को बजाने के लिये ठीक ढंग से ऊँचा कर लिया हो।

८—अम्लान माल्यदाम—जिसमें खिले हुए पुष्प एवं पुष्पमालाओं की सुव्यवस्था हो।

९—गणिका नाटकीय कलित—जो उत्सव प्रधान वेश्या और अच्छे नाटक करने वाले नटों से युक्त हो।

१०—अनेक तालाचरानुचरित—जिस उत्सव में ताल बनाकर नाचने वाले अपना कौशल दिखाते हों।

११—प्रमुदित प्रकीडिताभिराम—जो उत्सव तमाशा दिखाने वालों तथा खेल दिखाने वालों से मनोहर हो।

१२—यथार्ह—जो उत्सव सर्वप्रकार से योग्य—आदर्श व व्यवस्थित हो, तात्पर्य यह कि वह उत्सव अपनी उपमा आप ही हो।

२७—एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले नयरे महाबलस्स रन्नो उस्सुक्के जाव दसरत्ते पमोए उग्घोसिए। तं किं णं, देवाणुप्पिया ! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं पुप्फवत्थमल्लालंकारे य इह हव्वमाणिज्जउ उदाहु सयमेव गच्छित्था ?

२७—(कौटुम्बिक पुरुषों ने चोरसेनापति से कहा—) हे देवानुप्रिय ! पुरिमताल नगर में महाबल नरेश ने उच्छुल्क यावत् दशदिन पर्यन्त प्रमोद-उत्सव की घोषणा कराई है, तो क्या आपके लिए विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तथा पुष्प वस्त्र माला अलङ्कार यहीं पर लाकर उपस्थित किए जायँ अथवा आप स्वयं वहाँ इस प्रसंग पर उपस्थित होंगे ?

२८—तए णं ते कोडुम्बियपुरिसा महाबलस्स रण्णो करयल० जाव 'एवं सामि त्ति' आणाए वयणं पडिसुणेन्ति पडिसुणेत्ता, पुरिमतालाओ नयराओ पडिणिक्खमंति पडिनिक्खमित्ता नाइविकिट्ठेहिं अद्धाणेहिं सुहेहिं वसहिपायरासेहिं जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छित्ता अभग्गसेणं चोरसेणावइं करयल जाव एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले नयरे महाबलस्स रण्णो उस्सुक्के जाव उदाहु सयमेव गच्छित्था ?'

तए णं से अभग्गसेणे चोरसेणावई ते कोडुंबियपुरिसे एवं वयासी—'अहं णं देवाणुप्पिया ! पुरिमतालनयरं सयमेव गच्छामि।' ते कोडुंबियपुरिसे सक्कारेइ सम्माणेइ पडिविसज्जेइ !

२८—तदनन्तर वे कौटुम्बिक पुरुष महाबल नरेश की इस आज्ञा को दोनों हाथ जोड़कर यावत् अञ्जलि करके 'जी हां स्वामी' कहकर विनयपूर्वक सुनते हैं और सुनकर पुरिमताल नगर से निकलते हैं। छोटी-छोटी यात्राएँ करते हुए, तथा सुखजनक विश्राम-स्थानों पर प्रातःकालीन भोजन आदि करते हुए जहाँ शालाटवी नामक चोर-पल्ली थी वहाँ पहुंचे। वहाँ पर अभग्नसेन चोरसेनापति से दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर दस नखों वाली अंजुलि करके इस प्रकार निवेदन करने लगे—

देवानुप्रिय! पुरिमताल नगर में महाबल नरेश ने उच्छुल्य यावत् दस दिनों का प्रमोद उत्सव उद्घोषित किया है, तो क्या आपके लिये अशन, पान, खादिम, स्वादिम, पुष्पमाला अलंकार यहाँ पर ही उपस्थित किये जाएँ अथवा आप स्वयं वहाँ पधारते हैं? तब अभग्नसेन सेनापति ने उन कौटुम्बिक पुरुषों को उत्तर में इस प्रकार कहा—'हे भद्र पुरुषो! मैं स्वयं ही प्रमोद-उत्सव में पुरिमताल नगर में आऊँगा।' तत्पश्चात् अभग्नसेन ने उनका उचित सत्कार-सम्मान करके उन्हें विदा किया।

२९—तए णं से अभग्गसेणे चोरसेणावई बहूहिं मित्त जाव परिवुडे ण्हाए जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए सालाडवीओ चोरपल्लीओ पडिनिक्खमइ। पडिनिक्खमित्ता जेणेव पुरिमताले नयरे, जेणेव महाबले राया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, करयल० महाबलं रायं जएणं विजएणं बद्धावेइ, बद्धावेत्ता महत्थं जाव पाहुडं उवणेइ। तए णं से महाबले राया, अभग्गसेणस्स चोरसेणावइस्स तं महत्थं जाव पडिच्छइ, अभग्गसेणं चोरसेणावइं सक्कारेइ, सम्माणेइ, पडिविसज्जेइ, कूडागारसालं च से आवसहं दलयइ। तए णं से अभग्गसेणे चोरसेणावई महाबलेणं रण्णा विसज्जिए समाणे जेणेव कूडागारसाला तेणेव उवागच्छइ।

२९—तदनन्तर मित्र, ज्ञाति व स्वजन-परिजनो से घिरा हुआ वह अभग्नसेन चोरसेनापति स्नानादि से निवृत्त हो यावत् अशुभ स्वप्न का फल विनष्ट करने के लिये प्रायश्चित्त के रूप में मस्तक पर तिलक आदि माङ्गलिक अनुष्ठान करके समस्त आभूषणो से अलंकृत हो शालाटवी चोरपल्ली से निकलकर जहाँ पुरिमताल नगर था और जहाँ महाबल नरेश थे, वहाँ पर आता है। आकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर दश नखों वाली अञ्जलि करके महाबल राजा को 'जय-विजय' शब्द से बधाई देता है। बधाई देकर महार्थ यावत् राजा के योग्य प्राभृत-भेंट अर्पण करता है। तदनन्तर महाबल राजा उस अभग्नसेन चोरसेनापति द्वारा अर्पित किए गए उपहार को स्वीकार करके उसे सत्कार-सम्मानपूर्वक अपने पास से विदा करता हुआ कूटाकारशाला में उसे रहने के लिये स्थान देता है। तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति महाबल राजा के द्वारा सत्कारपूर्वक विसर्जित होकर कूटाकारशाला में आता है और वहाँ पर ठहरता है।

३०—तए णं से महाबले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेह, उवक्खडावेत्ता तं विउलं असणं-४, सुरं च-५. सुबहुं पुप्फवत्थ-गंध-मल्लालंकारं च अभग्गसेणस्स चोरसेणावइस्स कूडगारसालं उवणेह।

तए णं से कोडुंबियपुरिसा करयल जाव उवणेंति।

तए णं से अभग्गसेणे चोरसेणावई बहूहिं मित्तनाइ० सद्धिं संपरिवुडे ण्हाए जाव सव्वालंकार-विभूसिए तं विउलं असणं-४ सुरं च ५, आसाएमाणे पमत्ते विहरइ।

३०—इसके बाद महाबल राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—तुम लोग विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम पुष्प, वस्त्र, गंधमाला अलंकार एवं सुरा आदि मदिराओं को तैयार कराओ और उन्हें कूटाकार-शाला में चोरसेनापति अभग्नसेन की सेवा में पहुंचा दो।

कौटुम्बिक पुरुषों ने हाथ जोड़कर यावत् अञ्जलि करके राजा की आज्ञा स्वीकार की और तदनुसार विपुल अशनादिक सामग्री वहाँ पहुँचा दी।

तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति स्नानादि से निवृत्त हो, समस्त आभूषणों को पहिनकर अपने बहुत से मित्रों व ज्ञाति जनों आदि के साथ उस विपुल अशनादिक तथा पंचविध मदिराओं का सम्यक् आस्वादन विस्वादन करता हुआ प्रमत्त—बेखबर होकर विहरण करने लगा।

३१—तए णं से महाबले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे, देवाणुप्पिया! पुरिमतालस्स नयरस्स दुवाराइं पिहेह, अभग्गसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहं गिण्हह, गिण्हित्ता ममं उवणेह।'

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा करयल जाव पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता पुरिमतालस्स नयरस्स दुवाराइं पिहेंति, अभग्गसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहं गिण्हंति, महाबलस्स रण्णो उवणेंति। तए णं से महाबले राया अभग्गसेणं चोरसेणावइं एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ।

एवं खलु गोयमा! अभग्गसेणे चोरसेणावई पुरापोराणाणं जाव विहरइ।

३१—(अभग्नसेन चोरसेनापति को सत्कारपूर्वक कूटाकारशाला में ठहराने और भोजन कराने तथा मदिरा पिलाने के पश्चात्) महाबल राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो! तुम लोग जाओ और जाकर पुरिमताल नगर के दरवाजों को बन्द कर दो और अभग्नसेन चोरसेनापति को जीवित स्थिति में ही पकड़ लो और पकड़कर मेरे सामने उपस्थित करो!'

तदनन्तर कौटुम्बिक पुरुषों ने राजा की यह आज्ञा हाथ जोड़कर यावत् दश नखों वाली अञ्जलि करके शिरोधार्य की और पुरिमतालनगर के द्वारों को बन्द करके चोरसेनापति अभग्नसेन को जीवित पकड़ कर महाबल नरेश के समक्ष उपस्थित किया। तत्पश्चात् महाबल नरेश ने अभग्नसेन चोरसेनापति को इस विधि से (जैसा तुम देखकर आए हो) वध करने की आज्ञा प्रदान कर दी।

श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं—हे गौतम! इस प्रकार निश्चित रूप से वह चोरसेनापति अभग्नसेन पूर्वोपार्जित पापकर्मों के नरक तुल्य विपाकोदय के रूप में घोर वेदना का अनुभव कर रहा है।

अभग्नसेन का भविष्य

३२—अभग्गसेणे णं भन्ते! चोरसेणावई कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिइ? कहिं उववज्जिहिइ?

'गोयमा! अभग्गसेणे चोरसेणावई सत्ततीसं वासाइं परमाउं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे

दिवसे सूलभिन्ने कए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसं साग-रोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिइ।'

से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता, एवं संसारो जहा पढमे जाव वाउ-तेउ-आउ-पुढवीसु अणेगसय-सहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाइस्सइ!

तओ उव्वट्टित्ता वाणारसीए नयरीए सूयरत्ताए पच्चायाहिइ। से णं तत्थ सूयरिएहिं जीवियाओ ववरोविए समाणे तत्थेव वाणारसीए नयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिइ। से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे—'एवं जहा पढमे, जाव अंतं काहिइ।'

३२—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—अहो भगवन्! वह अभग्नसेन चोरसेनापति कालावसर में काल करके कहाँ जाएगा? तथा कहाँ उत्पन्न होगा?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम! अभग्नसेन चोरसेनापति ३७ वर्ष की परम आयुष्य को भोगकर आज ही त्रिभागावशेष (जिसका तीसरा भाग बाकी हो, ऐसे) दिन में सूली पर चढ़ाये जाने से काल करके (मृत्यु को प्राप्त होकर) रत्नप्रभानामक प्रथम नरक में नारकी रूप से, जिसकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है, उत्पन्न होगा। फिर प्रथम नरक से निकलकर प्रथम अध्ययन में प्रतिपा-दित मृगापुत्र के संसारभ्रमण की तरह इसका भी परिभ्रमण होगा, यावत् पृथ्वीकाय, अप्काय, वायु काय तेजस्काय आदि में लाखों वार उत्पन्न होगा।

वहाँ से निकलकर बनारस नगरी में शूकर के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ शूकर के शिकारियों द्वारा उसका घात किया जाएगा। तत्पश्चात् उसी बनारस नगरी के श्रेष्ठिकुल में पुत्र रूप से उत्पन्न होगा। वहाँ बालभाव को पार करके युवावस्था को प्राप्त होता हुआ, प्रव्रजित होकर, संयमपालन करके यावत् निर्वाण पद प्राप्त करेगा—जन्म-मरण का अन्त करेगा।

निक्षेप—उपसंहार पूर्ववत् समझ लेना चाहिये।

।। तृतीय अध्ययन समाप्त ।।

चतुर्थ अध्ययन

शकट

जम्बूस्वामी की जिज्ञासा

१—उक्खेवो—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं तच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, चउत्थस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणेण भगवया महावीरेण के अट्ठे पण्णत्ते ? तओ णं सुहम्मे अणगारे जंबू-अणगारं एवं वयासी—

१—जम्बूस्वामी ने प्रश्न किया—भन्ते ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने, जो यावत् निर्वाण-प्राप्त हैं, यदि तीसरे अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा तो भगवान् ने चौथे अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ? तब सुधर्मा स्वामी ने जम्बू अनगार से इस प्रकार कहा—

सुधर्मा स्वामी का समाधान

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेण तेणं समएणं साहंजणी णामं नयरी होत्था। रिद्धत्थिमिय-समिद्धा। तीसे णं साहंजणीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए देवरमणे णामं उज्जाणे होत्था। तत्थ णं अमोहस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था, पोराणे। तत्थ णं साहंजणीए नयरीए महचंदे णामं राया होत्था, महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरसारे। तस्स णं महचंदस्स रण्णो सुसेणे णामं अमच्चे होत्था। साम-भेय-दंड-उपप्पयाणनीतिसुपउत्तनयविहण्णू निग्गह-कुसले।

तत्थ णं साहंजणीए नयरीए सुदरिसणा णामं गणिया होत्था। वण्णओ।[1]

२—हे जम्बू ! उस काल उस समय में साहंजनी नाम की एक ऋद्ध-भवनादि की सम्पत्ति से सम्पन्न, स्तिमित—स्वचक्र-परचक्र के भय से रहित तथा समृद्ध—धन-धान्यादि से परिपूर्ण नगरी थी। उसके बाहर ईशानकोण में देवरमण नाम का एक उद्यान था। उस उद्यान में अमोघनामक यक्ष का एक पुरातन यक्षायतन था। उस नगरी में महचन्द्र नाम का राजा राज्य करता था। वह हिमालय के समान दूसरे राजाओं से महान् था। उस महचन्द्र नरेश का सुषेण नाम का मन्त्री था, जो सामनीति, भेदनीति, दण्डनीति और उपप्रदाननीति के प्रयोग को और न्याय नीतियों की विधि को जानने वाला तथा निग्रह में कुशल था।

उस नगर में सुदर्शना नाम की एक सुप्रसिद्ध गणिका-वेश्या रहती थी। उसका वर्णन (द्वितीय अध्याय में वर्णित कामध्वजा वेश्या के समान) जान लेना चाहिये।

३—तत्थ णं साहंजणीए नयरीए सुभद्दे णामं सत्थवाहे परिवसइ। अड्ढे। तस्स णं सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दा णामं भारिया होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा। तस्स णं सुभद्दसत्थवाहस्स पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए सगडे णामं दारए होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे।

---

१. देखिए द्वि. अ. सूत्र-३

३—उस नगरी में सुभद्र नाम का एक सार्थवाह रहता था। उस सुभद्र सार्थवाह की अन्यून—निर्दोष सर्वाङ्गसुन्दर शरीर वाली भद्रा नामक भार्या थी। सुभद्र सार्थवाह का पुत्र व भद्रा भार्या का आत्मज शकट नाम का बालक था। वह भी अन्यून—पंचेन्द्रियों से परिपूर्ण—सुन्दर शरीर से सम्पन्न था।

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे। परिसा राया य निग्गए। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया, राया वि णिग्गओ।

४—उस काल, उस समय साहंजनी नगरी के बाहर देवरमण उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर पधारे। नगर से भगवान् के दर्शनार्थ जनता और राजा निकले। भगवान् ने धर्मदेशना दी। धर्मदेशना श्रवण कर राजा और प्रजा सब पुनः अपने अपने स्थान पर चले गये।

शकट के पूर्वभव का वृत्तान्त

५—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी जाव[1] रायमग्ग-मोगाढे। तत्थ णं हत्थी, आसे बहवे पुरिसे पासइ। तेसिं च पुरिसाणं मज्झगए पासइ एगं सइत्थीयं पुरिसं अवओडयबंधणं उक्खित्तकण्णनासं जाव घोसिज्जमाणं। चिंता तहेव जाव भगवं वागरेइ।

५—उस काल तथा उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी श्री गौतम स्वामी (पूर्ववत् भिक्षा ग्रहण करके) यावत् राजमार्ग में पधारे। वहाँ उन्होंने हाथी, घोड़े और बहुतेरे पुरुषों को देखा। उन पुरुषों के मध्य में अवकोटकबन्धन (जिस बन्धन में दोनों हाथों को मोड़कर पृष्ठ भाग पर रज्जु के साथ बाँधा जाय, उस बन्धन) से युक्त, कटे कान और नाक वाले यावत् उद्घोषणा सहित एक सस्त्रीक (स्त्री सहित) पुरुष को देखा। देखकर गौतम स्वामी पूर्ववत् विचार किया (यह पुरुष नारकीय वेदना भुगत रहा है, आदि) और भगवान् से आकर प्रश्न किया। भगवान् ने उत्तर में इस प्रकार कहा—

६—एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे छगलपुरे नामं नयरे होत्था। तत्थ सीहगिरी नामं राया होत्था, महया हिमवंतमहंतमलयमंदरसारे। तत्थ णं छगलपुरे नयरे छण्णिए नामं छागलिए परिवसइ। अड्ढे, अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे।

६—हे गौतम! उस काल तथा उस समय में इसी जम्बूद्वीपनामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में छगलपुर नाम का एक नगर था। वहां सिंहगिरि नामक राजा राज्य करता था। वह हिमालयादि पर्वतों के समान महान् था। उस नगर में छण्णिक नामक एक छागलिक—बकरों के मांस से आजीविका करने वाला कसाई रहता था, जो धनाढ्य, अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द था।

७—तस्स णं छण्णियस्स छागलियस्स बहवे अयाण य एलयाण य रोज्झाण य वसभाण य ससयाण य सूयराण य पसयाण य सिंघाण य हरिणाण य मयूराण य महिसाण य सयबद्धाण य सहस्सबद्धाण य जूहाणि वाडगंसि संनिरुद्धाइं चिट्ठंति। अन्ने य तत्थ बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा

---

1. द्वि. अ. सूत्र-६

बहवे अए य जाव महिसे य सारक्खेमाणा संगोवेमाणा चिट्ठंति । अन्ने य से बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्त-वेयणा बहवे अए य जाव महिसे य जीवियाओ ववरोवेंति, ववरोवित्ता मंसाइं कप्पणीकप्पियाइं करेंति, करेत्ता छण्णियस्स छागलियस्स उवणेंति ।

अन्ने य से बहवे पुरिसा ताइं बहुयाइं अयमंसाइं जाव महिसमंसाइं तवएसु य कवल्लीसु य कंदुएसु य भज्जणेसु य इंगालेसु य तलेंति य भज्जेंति य सोल्लेंति य, तलित्ता भज्जित्ता सोल्लेत्ता य तओ रायमग्गंसि विर्त्ति कप्पेमाणा विहरंति ।

अप्पणा वि य णं से छण्णिए छागलिए तेहिं बहुविहेहिं अयमंसेहिं जाव महिसमंसेहिं सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च आसाएमाणे विहरइ ।

७—उस छण्णिक छागलिक के अनेक अजों—बकरों, रोझों—नीलगायों, वृषभों, शशकों—खरगोशों, मृगविशेषों अथवा मृगशिशुओं, शूकरों, सिंहों, हरिणों, मयूरों और महिषों के शतबद्ध तथा सहस्रबद्ध अर्थात् सौ-सौ तथा हजार-हजार जिनमें बंधे रहते थे ऐसे यूथ, बाड़े में सम्यक् प्रकार से रोके हुए रहते थे । वहाँ जिनको वेतन के रूप मे भोजन तथा रुपया पैसा दिया जाता था, ऐसे उसके अनेक आदमी अजादि और महिषादि पशुओं का संरक्षण-संगोपन करते हुए उन पशुओं को बाड़े में रोके रहते थे ।

छण्णिक छागलिक के रुपया और भोजन लेकर काम करने वाले अनेक नौकर पुरुष सैकड़ों तथा हजार अजों तथा भैंसों को मारकर उनके मांसों को कैंची तथा छुरी से काट काट कर छण्णिक छागलिक को दिया करते थे ।

उसके अन्य अनेक नौकर उन बहुत से बकरों के मांसों तथा महिषों के मांसों को तवों पर, कड़ाहों में, हांडों में अथवा कडाहियों या लोहे के पात्रविशेषों में, भूनने के पात्रों में, अंगारों पर तलते, भूनते और शूल द्वारा पकाते हुए अपनी आजीविका चलाते थे । वह छण्णिक स्वयं भी उन मांसों के साथ सुरा आदि पांच प्रकार के मद्यों का आस्वादन विस्वादन करता हुआ वह जीवनयापन कर रहा था ।

८—तए णं से छण्णिए छागलिए एयकम्मे, एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता सत्तवाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पुढवीए उक्कोसेणं दससागरोवमठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने ।

८—उस छण्णिक छागलिक ने अजादि पशुओं के मांसों को खाना तथा मदिराओं का पीना अपना कर्तव्य बना लिया था । इन्हीं पापपूर्ण प्रवृत्तियों में वह सदा तत्पर रहता था । वही प्रवृत्ति उसके जीवन का विज्ञान बन गई थी, और ऐसे ही पापपूर्ण कर्मों को उसने अपना सर्वोत्तम आचरण बना रक्खा था । अतएव वह क्लेशोत्पादक और कालुष्यपूर्ण अत्यधिक क्लिष्ट कर्मों का उपार्जन कर सात सौ वर्ष की पूर्ण आयु पालकर कालमास में काल करके चतुर्थ नरक में, उत्कृष्ट दस सागरोपम स्थिति वाले नारकियों में नारक रूप से उत्पन्न हुआ ।

शकट का वर्त्तमान भव

९—तए णं तस्स सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दा भारिया जायनिंदुया यावि होत्था । जाया जाया

दारगा विणिहायमावज्जंति । तए णं से छण्णिए छागलिए चउत्थीए पुढवीए अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव साहंजणीए सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने ।

तए णं सा भद्दा सत्थवाही अन्नया कयाइ नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया । तए णं तं दारगं अम्मापियरो जायमेत्तं चेव सगडस्स हेट्ठाओ ठावेंति । दोच्चं पि गिण्हावेंति, अणुपुव्वेणं सारक्खेंति, संगोवेंति, संवड्ढेंति, जहा उज्झियए, जाव जम्हा णं अम्हं इमे दारए जायमेत्ते चेव सगडस्स हेट्ठा ठाविए, तम्हा णं होउ णं अम्हं एस दारए 'सगडे नामेणं । सेसं जहा उज्झियए । सुभद्दे लवणसमुद्दे कालगए, माया वि कालगया । से वि सयाओ गिहाओ निच्छूढे । तए णं से सगडे दारए सयाओ गिहाओ निच्छूढे समाणे सिंघाडग तहेव जाव सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था ।

९—तदनन्तर उस सुभद्र सार्थवाह की भद्रा नाम की भार्या जातनिन्दुका (जिसके बच्चे जन्म लेते ही मर जाते हों) थी । उसके उत्पन्न होते हुए बालक मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे । इधर छण्णिक नामक छागलिक-कसाई का जीव चतुर्थ नरक से निकलकर सीधा इसी साहंजनी नगरी में सुभद्र सार्थवाह की भद्रा नाम की भार्या के गर्भ में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ ।

लगभग नवमास परिपूर्ण हो जाने पर किसी समय भद्रा नामक भार्या ने बालक को जन्म दिया । उत्पन्न होते ही माता-पिता ने उस बालक को शकट-छकड़े-गाड़े के नीचे स्थापित कर दिया—रख दिया और फिर उठा लिया । उठाकर यथाविधि संरक्षण, संगोपन व संवर्द्धन किया ।

यावत् यथासमय उसके माता-पिता ने कहा—उत्पन्न होते ही हमारा यह बालक छकड़े के नीचे स्थापित किया गया था, अतः इसका 'शकट' ऐसा नामाभिधान किया जाता है—उसका नाम शकट रख दिया । शकट का शेष जीवन उज्झित की ही तरह समझ लेना चाहिये ।

इधर सुभद्र सार्थवाह लवण समुद्र में कालधर्म को प्राप्त हुआ और शकट की माता भद्रा भी मृत्यु को प्राप्त हो गयी । तब शकट कुमार को राजपुरुषों के द्वारा घर से निकाल दिया गया । अपने घर से निकाले जाने पर शकटकुमार साहंजनी नगरी के शृंगाटक (त्रिकोण मार्ग) आदि स्थानों में भटकता रहा तथा जुआरियों के अड्डों तथा शराबघरों में घूमने लगा । किसी समय उसकी सुदर्शना गणिका के साथ गाढ़ प्रीति हो गयी । (जैसी उज्झित की कामध्वजा के साथ हो गयी थी ।)

१०—तए णं से सुसेणे अमच्चे तं सगडं दारगं अन्नया कयाइ सुदरिसणाए गणियाए गिहाओ निच्छुभावेइ, निच्छुभावेत्ता सुदरिसणं गणियं अब्भिंतरियं ठावेइ, ठावेत्ता सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ।

१०—तदनन्तर सिंहगिरि राजा का अमात्य—मन्त्री सुषेण किसी समय उस शकट कुमार को सुदर्शना वेश्या के घर से निकलवा देता है और सुदर्शना गणिका को अपने घर में पत्नी के रूप में रख लेता है । इस तरह घर में पत्नी के रूप में रखी हुई सुदर्शना के साथ मनुष्य सम्बन्धी उदार विशिष्ट कामभोगों को यथारुचि उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करता है ।

११—तए णं से सगडे दारए सुदरिसणाए गणियाए गिहाओ निच्छुभेमाणे सुदरिसणाए गणियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अण्णत्थ कत्थइ सुइं च रइं च धिइं च अलभमाणे तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए सुदरिसणाए गणियाए बहूणि अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणे पडिजागरमाणे विहरइ।

तए णं से सगडे दारए अन्नया कयाइ सुदरिसणाए गणियाए अंतरं लभेइ, लभेत्ता सुदरिसणाए गणियाए गिहं रहसियं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता सुदरिसणाए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

घर से निकाला गया शकट सुदर्शना वेश्या में मूर्च्छित, गृद्ध, अत्यन्त आसक्त होकर अन्यत्र कहीं भी सुख चैन, रति, शान्ति नहीं पा रहा था। उसका चित्त, मन, लेश्या अध्यवसाय उसी में लीन रहता था। वह सुदर्शना के विषय में ही सोचा करता, उसमें करणों को लगाए रहता, उसी की भावना से भावित रहता। वह उसके पास जाने की ताक में रहता और अवसर देखता रहता था। एक बार उसे अवसर मिल गया। वह सुदर्शना के घर में घुस गया और फिर उसके साथ भोग भोगने लगा।

१२—इमं च णं सुसेणे अमच्चे ण्हाए जाव सव्वालंकारविभूसिए मणुस्सवग्गुराए परिक्खित्ते जेणेव सुदरिसणाए गणियाए गेहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सगडं दारयं सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते जाव मिसमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु सगडं दारयं पुरिसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावेत्ता अट्ठि जाव (मुट्ठि-जाणु-कोप्पर-पहारसंभग्ग-महियं करेइ, करित्ता अवओडयबन्धणं करेइ, करेत्ता जेणेव महचंदे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल जाव एवं वयासी—एवं खलु सामी! सगडे दारए मम अंतेउरंसि अवरद्धे।'

तए णं से महचंदे राया सुसेणं अमच्चं एवं वयासी—'तुमं चेव णं, देवाणुप्पिया! सगडस्स दारगस्स दंडं वत्तेहि।'

तए णं से सुसेणे अमच्चे महचंदेणं रन्ना अब्भणुन्नाए समाणे सगडं दारयं सुदरिसणं च गणियं एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ।

तं एवं खलु, गोयमा! सगडे दारए पुरापोराणाणं दुच्चिण्णाणं जाव पच्चणुभवमाणे विहरइ।

१२—इधर एक दिन स्नान करके तथा सर्व अलङ्कारों से विभूषित होकर अनेक मनुष्यों से परिवेष्टित सुसेण मन्त्री सुदर्शना के घर पर आया। आते ही उसने सुदर्शना के साथ यथारुचि कामभोगों का उपभोग करते हुए शकट कुमार को देखा। देखकर वह क्रोध के वश लाल-पीला हो, दांत पीसता हुआ मस्तक पर तीन सल वाली भृकुटि चढ़ा लेता है। शकट कुमार को अपने पुरुषों से पकड़वाकर यष्टियों, मुट्ठियों, घुटनों, कोहनियों से उसके शरीर को मथित कर अवकोटकबन्धन से जकड़वा लेता है। तदनन्तर उसे महाराज महचन्द्र के पास ले जाकर दोनों हाथ जोड़कर तथा मस्तक पर दसों नखवाली अञ्जलि करके इस प्रकार निवेदन करता है—'स्वामिन्! इस शकट कुमार ने मेरे अन्तःपुर में प्रवेश करने का अपराध किया है।'

इसके उत्तर में महाराज महचन्द्र सुषेण मन्त्री से इस प्रकार बोले—'देवानुप्रिय ! तुम ही इसको अपनी इच्छानुसार दण्ड दे सकते हो।'

तत्पश्चात् महाराज महचन्द्र से आज्ञा प्राप्त कर सुषेण अमात्य ने शकट कुमार और सुदर्शना गणिका को पूर्वोक्त विधि से (जिसे हे गौतम ! तुमने देखा है) बध करने की आज्ञा राजपुरुषों को प्रदान की।

शकट का भविष्य

१३—सगडे णं भंते ! दारए कालगए कहिं गच्छिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ ?

गोयमा ! सगडे णं दारए सत्तावन्नं वासाइं परमाउयं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे एगं महं अयोमयं तत्तं समजोइभूयं इत्थिपडिमं अवयासाविए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववज्जिहिइ।

से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता रायगिहे नयरे मातंगकुलंसि जुगलत्ताए पच्चायाहिइ। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो निव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं गोण्णं नामधेज्जं करिस्संति—'तं होउ णं दारए सगडे नामेणं, होउ णं दारिया सुदरिसणा नामेणं।'

१३—शकट की दुर्दशा का कारण भगवान् से सुनकर गौतम स्वामी ने प्रश्न किया--हे प्रभो ! शकट कुमार बालक यहाँ से काल करके कहाँ जाएगा और कहाँ पर उत्पन्न होगा ?

भगवान् बोले—हे गौतम ! शकट दारक को ५७ वर्ष की परम आयु को भोगकर आज ही तीसरा भाग शेष रहे दिन में एक महालोहमय तपी हुई अग्नि के समान देदीप्यमान स्त्रीप्रतिमा से आलिंगित कराया जायगा। तब वह मृत्यु-समय में मरकर रत्नप्रभा नाम की प्रथम नरक भूमि में नारक रूप से उत्पन्न होगा।

वहाँ से निकलकर राजगृह नगर में मातङ्ग—चाण्डाल के कुल में युगल रूप से उत्पन्न होगा। युगल (वे दो बच्चे जो एक ही गर्भ से साथ-साथ उत्पन्न हुए हों) के माता-पिता बारहवें दिन उनमें से बालक का नाम 'शकटकुमार' और कन्या का नाम 'सुदर्शना' रक्खेंगे।

१४—तए णं से सगडे दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णयपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुपत्ते भविस्सइ।

तए णं सा सुदरिसणा वि दारिया उम्मुक्कबालभावा जोव्वणगमणुप्पत्ता रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा यावि भविस्सइ। तए णं से सगडे दारए सुदरिसणाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य मुच्छिए सुदरिसणाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सइ।

तए णं से सगडे दारए अन्नया सयमेव कूडग्गाहित्तं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सइ। तए णं से सगडे दारए कूडग्गाहे भविस्सइ अहम्मिए जाव[1] दुप्पडियाणन्दे। एयकम्मे-४ सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववज्जिहिइ। संसारो तहेव जाव पुढवीए।

---

१. प्र. अ. सूत्र २०

से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता वाणारसीए नयरीए मच्छत्ताए उववज्जिहिइ। से णं तत्थ मच्छबन्धिएहिं वहिए तत्थेव वाणारसीए नयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिइ। बोहिं, पव्वज्जा, सोहम्मे कप्पे, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो।

१४—तदनन्तर शकट कुमार बाल्यभाव को त्याग कर यौवन को प्राप्त करेगा। सुदर्शना कुमारी भी बाल्यावस्था पार करके विशिष्ट ज्ञानबुद्धि की परिपक्वता को प्राप्त करती हुई युवावस्था को प्राप्त होगी। वह रूप, यौवन व लावण्य मे उत्कृष्ट—श्रेष्ठ व सुन्दर शरीर वाली होगी।

तदनन्तर सुदर्शना के रूप, यौवन और लावण्य की सुन्दरता में मूच्छित होकर शकट कुमार अपनी बहिन सुदर्शना के साथ ही मनुष्य सम्बन्धी प्रधान कामभोगों का सेवन करता हुआ जीवन व्यतीत करेगा।

तत्पश्चात् किसी समय वह शकट कुमार स्वयमेव कूटग्राहित्व को प्राप्त कर विचरण करेगा। वह कूटग्राह (कपट से जीवों को फँसाने वाला—मारने वाला) बना हुआ वह शकट महाअधर्मी एवं दुष्प्रत्यानन्द होगा। इन अधर्म-प्रधान कर्मो से बहुत से पापकर्मों को उपार्जित कर मृत्युसमय में मर कर रत्नप्रभा नाम प्रथम नरक में नारकी रूप से उत्पन्न होगा। उसका संसार-भ्रमण भी पूर्ववत् (इक्कड, उज्झित आदि के समान) जान लेना चाहिए यावत् वह पृथ्वीकाय आदि में लाखों-लाखों बार उत्पन्न होगा।

तदनन्तर वहाँ से निकलकर वह सीधा वाराणसी नगरी में मत्स्य के रूप में जन्म लेगा। वहाँ पर मत्स्यघातकों के द्वारा बध को प्राप्त होकर यह फिर उसी वाराणसी नगरी में एक श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप से उत्पन्न होगा। वहां सम्यक्त्व एवं अनगार धर्म को प्राप्त करके सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में देव होगा। वहां से च्युत हो, महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा। वहाँ साधुवृत्ति का सम्यक्तया पालन करके सिद्ध, बुद्ध होगा, समस्त कर्मों और दुःखों का अन्त करेगा।

॥ चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

पञ्चम अध्ययन

बृहस्पतिदत्त

प्रस्तावना

पंचमस्स उक्खेवो—जइ णं भन्ते ।

पांचवें अध्ययन का उत्क्षेप-प्रस्तावना पूर्ववत् जान लेना चाहिये । अर्थात् जम्बूस्वामी ने प्रश्न किया कि श्रमण भगवान् महावीर ने दुःखविपाक के पांचवें अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ? तब सुधर्मा स्वामी ने कहा—

१—एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंबी णामं णयरी होत्था । रिद्धत्थिमिय-समिद्धा । बाहिं चंदोतरणे उज्जाणे । सेयभद्दे जक्खे ।

१—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में कौशाम्बी नाम की एक नगरी थी, जो भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्वचक्र-परचक्र के भय से मुक्त तथा समृद्धि से समृद्ध थी । उस नगरी के बाहर चन्द्रावतरण नामक उद्यान था । उसमें श्वेतभद्र नामक यक्ष का आयतन था ।

२—तत्थ णं कोसंबीए नयरीए सयाणीए नामं राया होत्था । महया० । मियावई देवी । तस्स णं सयाणीयस्स पुत्ते मियादेवीए अत्तए उदायणे नामं कुमारे होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिदिय-सरीरे, जुवराया । तस्स णं उदायणस्स कुमारस्स पउमावई नामं देवी होत्था ।

२—उस कौशम्बी नगरी में शतानीक नाम का राजा राज्य करता था । जो हिमालय पर्वत आदि के समान महान् और प्रतापी था । उसके मृगादेवी नाम की रानी थी । उस शतानीक राजा का पुत्र और रानी मृगादेवी का आत्मज उदयन नाम का एक कुमार था जो सर्वेन्द्रिय सम्पन्न अथ च युवराज पद से अलंकृत था । उस उदयन कुमार की पद्मावती नाम की देवी—पत्नी थी ।

३—तस्स णं सयाणीयस्स सोमदत्ते नामं पुरोहिए होत्था, रिउव्वेय-यज्जुव्वेय-सामवेय-अथव्वणवेयकुसले । तस्स णं सोमदत्तस्स पुरोहियस्स वसुदत्ता नामं भारिया होत्था । तस्स णं सोमदत्तस्स पुत्ते वसुदत्ताए अत्तए बहस्सइदत्ते नामं दारए होत्था । अहीणपडिपुण्णपंचिदियसरीरे ।

३—उस शतानीक राजा का सोमदत्त नामक पुरोहित था, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का पूर्ण ज्ञाता था । उस सोमदत्त पुरोहित के वसुदत्ता नाम की भार्या थी, तथा सोमदत्त का पुत्र एवं वसुदत्ता का आत्मज बृहस्पतिदत्त नाम का सर्वाङ्गसम्पन्न एक सुन्दर बालक था ।

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए। तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं गोयमे तहेव जाव[1] रायमग्गमोगाढे। तहेव पासइ हत्थी, आसे, पुरिसमज्झे पुरिस। चिंता। तहेव पुच्छइ, पुव्वभवं। भगवं वाइरेइ।

४—उस काल तथा उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कौशम्बी नगरी के बाहर चन्द्रावतरण उद्यान में पधारे। उस समय भगवान् गौतम स्वामी पूर्ववत् कौशाम्बी नगरी में भिक्षार्थ गए। और लौटते हुए राजमार्ग में पधारे। वहाँ हाथियों, घोड़ों और बहुसंख्यक पुरुषों को तथा उन पुरुषों के बीच एक बध्य पुरुष को देखा। उनको देखकर मन में विचार करते हैं और स्वस्थान पर आकर भगवान् से उसके पूर्व-भव के सम्बन्ध में पृच्छा करते हैं। भगवान् उसके पूर्वभव का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

पूर्वभव

५—एवं खलु जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे सव्वओभद्दे नामं नयरे होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धे। तत्थ णं सव्वओभद्दे नयरे जियसत्तू राया। तस्स णं जियसत्तुस्स रन्नो महेसरदत्ते नामं पुरोहिए होत्था, रिउव्वेय-यजुव्वेय-सामवेय-अथव्वणवेयकुसले यावि होत्था।

५—हे गौतम! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भरत-क्षेत्र में सर्वतोभद्र नाम का एक भवनादि के आधिक्य से युक्त आन्तरिक व बाह्य उपद्रवों से मुक्त तथा धनधान्यादि से परिपूर्ण नगर था। उस सर्वतोभद्र नामक नगर में जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। उस जितशत्रु राजा का महेश्वरदत्त नाम का एक पुरोहित था जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में कुशल था।

६—तए णं से महेसरदत्ते पुरोहिए जितसत्तुस्स रन्नो रज्जबलविवद्धणट्ठयाए कल्लाकल्लिं एगमेगं माहणदारयं, एगमेगं खत्तियदारयं एगमेगं वइस्सदारयं, एगमेगं सुद्दवारयं गिण्हावेइ, गिण्हावेत्ता तेसिं जीवंतगाणं चेव हिययउंडए गिण्हावेए गिण्हावेत्ता जियसत्तुस्स रन्नो संतिहोमं करेइ।

तए णं से महेसरदत्ते पुरोहिए अट्ठमी-चउद्दसीसु दुवे-दुवे माहणखत्तिय-वइस्स-सुद्दारगे, चउण्हं मासाणं चत्तारि-चत्तारि, छण्हं मासाणं अट्ठ-अट्ठ संवच्छरस्स सोलस-सोलस।

जाहे जाहे वि य णं जियसत्तू राया परबलेण अभिजुंजइ, ताहे ताहे वि य णं से महेसरदत्ते पुरोहिए अट्ठसयं माहणदारगाणं, अट्ठसयं खत्तियदारगाणं अट्ठसयं वइस्सदारगाणं अट्ठसयं सुद्दवारगाणं पुरिसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावेत्ता जियसत्तुस्स रन्नो संतिहोमं करेइ। तए णं से परबले खिप्पामेव विद्धंसिज्जइ वा पडिसेहिज्जइ वा।

६—महेश्वरदत्त पुरोहित जितशत्रु राजा के राज्य की एवं बल की वृद्धि के लिये प्रतिदिन एक-एक ब्राह्मण बालक, एक-एक क्षत्रिय बालक, एक-एक वैश्य बालक और एक-एक शूद्र बालक को पकड़वा लेता था और पकड़वाकर, जीते जी उनके हृदयों के मांसपिण्डों को ग्रहण करवाता-

१. द्वि. अ., सूत्र-६

निकलवा लेता था और बाहर निकलवाकर जितशत्रु राजा के निमित्त उनसे शान्ति-होम किया करता था।

इसके अतिरिक्त वह पुरोहित अष्टमी और चतुर्दशी के दिन दो-दो बालकों के, चार-मास में चार-चार के, छह मास में आठ-आठ बालकों के और संवत्सर-वर्ष में सोलह-सोलह बालकों के हृदयों के मांसपिण्डों से शान्तिहोम किया करता था। जब-जब जितशत्रु राजा का किसी शत्रु के साथ युद्ध होता तब-तब वह महेश्वरदत्त पुरोहित एक सौ आठ (१०८) ब्राह्मण बालकों, एक सौ आठ क्षत्रिय-बालकों, एक सौ आठ वैश्यबालकों और एक सौ आठ शूद्रबालकों को अपने पुरुषों द्वारा पकड़वाकर और जीते जी उनके हृदय के मांसपिण्डों को निकलवाकर जितशत्रु नरेश की विजय के निमित्त शांतिहोम करता था। उसके प्रभाव से जितशत्रु राजा शीघ्र ही शत्रु का विध्वंस कर देता या उसे भगा देता था।

७—तए णं से महेसरदत्ते पुरोहिए एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता तीसं वाससयं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा पंचमीए पुढवीए उक्कोसेण सत्तरससागरोवमट्ठिइए नरगे उववन्ने।

७—इस प्रकार के क्रूर कर्मों का अनुष्ठान करने वाला, क्रूरकर्मों में प्रधान, नाना प्रकार के पापकर्मों को एकत्रित कर अन्तिम समय में वह महेश्वरदत्त पुरोहित तीन हजार वर्ष का परम आयुष्य भोगकर पांचवें नरक में उत्कृष्ट सत्तरह सागरोपम की स्थिति वाले नारक के रूप में उत्पन्न हुआ।

वर्त्तमान भव

८—से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव कोसंबीए नयरीए सोमदत्तस्स पुरोहियस्स वसुदत्ताए भारियाए पुत्तत्ताए उववन्ने। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो निव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं नामधेज्जं करेंति—'जम्हा णं अम्हं इमे दारए सोमदत्तस्स पुरोहियस्स पुत्ते, वसुदत्ताए अत्तए, तम्हा णं होउ अम्हं दारए बहस्सइदत्ते नामेणं।' तए णं से बहस्सइदत्ते दारए पंचधाइपरिग्गहिए जाव परिवड्ढइ। तए णं से बहस्सइदत्ते उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुप्पत्ते विन्नयपरिणयमेते होत्था। से णं उदायणस्स कुमारस्स पियबालवयस्सए यावि होत्था। सहजायए, सहवड्ढियए, सहपंसुकीलियए।

८—तदनन्तर महेश्वरदत्त पुरोहित का वह पापिष्ठ जीव उस पांचवें नरक से निकलकर सीधा इसी कौशाम्बी नगरी में सोमदत्त पुरोहित की वसुदत्ता भार्या के उदर में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् उत्पन्न हुए उस बालक के माता-पिता ने जन्म से बारहवें दिन नामकरण संस्कार करते हुए कहा—यह बालक सोमदत्त का पुत्र और वसुदत्ता का आत्मज होने के कारण इसका बृहस्पतिदत्त यह नाम रक्खा जाए।

तदनन्तर वह बृहस्पतिदत्त बालक पांच धायमाताओं से परिगृहीत यावत् वृद्धि को प्राप्त करता हुआ तथा बालभाव को पार करके युवावस्था को प्राप्त होता हुआ, परिपक्व विज्ञान को उपलब्ध किये हुए वह उदयन कुमार का बाल्यकाल से ही प्रिय मित्र हो गया। कारण यह था कि ये दोनों एक साथ ही उत्पन्न हुए, एक साथ बढ़े और एक साथ ही दोनों ने धूलि-क्रीडा की थी अर्थात् खेले थे।

९—तए णं से सयाणीए राया अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते। तए णं से उदायणं कुमारे बहूहिं राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठी-सेणावइ-सत्थवाहप्पभिईहिं सद्धिं संपरिवुडे रोय-

माणे, कन्दमाणे, विलवमाणे सयाणीयस्स रन्नो महया इड्ढि-सक्कारसमुदएणं नीहरणं करेइ, करेत्ता बहूहिं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ। तए णं ते बहवे राईसर जाव सत्थवाहा उदायणं कुमारं महया-महया रायाभिसेएणं अभिसिचंति।

तए णं से उदायणकुमारे राया जाए महया हिमवंत० !

९—तदनन्तर किसी समय राजा शतानीक कालधर्म को प्राप्त हो गया। तब उदयनकुमार बहुत से राजा, तलवर, माडंबिक, कौटुंबिक, इभ्य, श्रेष्ठी सेनापति और सार्थवाह आदि से साथ रोता हुआ, आक्रन्दन करता हुआ तथा विलाप करता हुआ शतानीक नरेश का राजकीय समृद्धि के अनुसार सम्मानपूर्वक नीहरण तथा मृतक सम्बन्धी सम्पूर्ण लौकिक कृत्यों को करता है।

तदनन्तर उन राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि ने मिलकर बड़े समारोह के साथ उदयन कुमार का राज्याभिषेक किया।

उदयनकुमार हिमालय पर्वत के समान महान् राजा हो गया।

१०—तए णं से बहस्सइदत्ते दारए उदायणस्स रन्नो पुरोहियकम्मं करेमाणे सव्वट्ठाणेसु, सव्व-भूमियासु, अंतेउरे य दिन्नवियारे जाव यावि होत्था। तए णं से बहस्सइदत्ते पुरोहिए उदायणस्स रन्नो अंतेउरंसि वेलासु य अवेलासु य, काले य अकाले य, राओ य वियाले य पविसमाणे अन्नया कयाइ पउमावईए देवीए सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था। पउमावईए देवीए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

१०—तदनन्तर बृहस्पतिदत्त कुमार उदयन नरेश का पुरोहित हो गया और पौरोहित्य कर्म करता हुआ सर्वस्थानों, सर्वभूमिकाओं तथा अन्तःपुर में भी इच्छानुसार बेरोक-टोक गमनागमन करने लगा।

तत्पश्चात् वह बृहस्पतिदत्त पुरोहित उदयन-नरेश के अन्तःपुर में समय-असमय, काल-अकाल तथा रात्रि एवं सन्ध्याकाल में स्वेच्छापूर्वक प्रवेश करते हुए धीरे धीरे पद्मावती देवी के साथ अनुचित सम्बन्ध वाला हो गया। तदनुसार पद्मावती देवी के साथ उदार यथेष्ट मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों को सेवन करता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

११—इमं च णं उदायणे राया ण्हाए जाव विभूसिए जेणेव पउमावई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बहस्सइदत्तं पुरोहियं पउमावइए देवीए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु बहस्सइदत्तं पुरोहियं पुरिसेहिं गिण्हावेइ जाव (गिण्हावेत्ता अट्ठि-मुट्ठि-जाणु-कोप्परपहार-संभग्ग-महियगत्तं करेइ, करेत्ता अवओडय-बंधणं करेइ, करेत्ता) एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ।

एवं खलु गोयमा ! बहस्सइदत्ते पुरोहिए पुरा पुराणाणं जाव विहरइ।

११—इधर किसी समय उदयन नरेश स्नानादि से निवृत्त होकर और समस्त अलङ्कारों से अलंकृत होकर जहाँ पद्मावती देवी थी वहाँ आया। आकर उसने बृहस्पतिदत्त पुरोहित को पद्मावती

देवी के साथ भोगोपभोग भोगते हुए देखा। देखते ही वह क्रोध से तमतमा उठा। मस्तक पर तीन बल वाली भृकुटि चढ़ाकर बृहस्पतिदत्त पुरोहित को पुरुषों द्वारा पकड़वाकर यष्टि (अस्थि), मुट्ठी, घुटने, कोहनी, आदि के प्रहारों से उसके शरीर को भग्न कर दिया गया, मथ डाला और फिर इस प्रकार (जैसा कि तुमने राजमार्ग में देखा है) ऐसा कठोर दण्ड देने की राजपुरुषों को आज्ञा दी।

हे गौतम ! इस तरह बृहस्पतिदत्त पुरोहित पूर्वकृत क्रूर पापकर्मों के फल को प्रत्यक्षरूप से अनुभव कर रहा है।

भविष्य

१२—'बहस्सइदत्ते णं भंते ! दारए इओ कालगए समाणे कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?

गोयमा ! बहस्सइदत्ते णं दारए पुरोहिए चउसट्ठिं वासाइं परमाउयं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सूलिय-भिन्ने कए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसं सागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिति। संसारो जहा पढमे जाव वाउ-तेउ आउ-पुढवीसु।

तओ हत्थिणाउरे नयरे मिगत्ताए पच्चायाइस्सइ। से णं तत्थ वाउरिएहिं वहिए समाणे तत्थेव हत्थिणाउरे नयरे सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिइ, बोहिं, सोहम्मे कप्पे, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो।

१२—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! बृहस्पतिदत्त पुरोहित यहाँ से काल करके कहाँ जायेगा ? और कहाँ पर उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! बृहस्पतिदत्त पुरोहित ६४ वर्ष की आयु को भोगकर दिन का तीसरा भाग शेष रहने पर सूली से भेदन किया जाकर कालावसर में काल करके रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में उत्कृष्ट एक सागर की स्थिति वाले नारकों में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर प्रथम अध्ययन में वर्णित मृगापुत्र की तरह सभी नरकों में, सब तिर्यञ्चों में तथा एकेन्द्रियों में लाखों लाखों बार जन्म-मरण करेगा।

तत्पश्चात् हस्तिनापुर नगर में मृग के रूप में जन्म लेगा। वहाँ पर वागुरिकों—जाल में फँसाने का काम करने वाले व्याधों के द्वारा मारा जाएगा। और इसी हस्तिनापुर में श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप से जन्म धारण करेगा।

वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा और काल करके सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा। वहाँ पर अनगार वृत्ति धारण कर, संयम की आराधना करके सब कर्मों का अन्त करेगा—परमसिद्धि को प्राप्त करेगा।

निक्षेप—उपसंहार पूर्ववत् जान लेना चाहिए।

॥ पञ्चम अध्ययन समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन

नन्दिवर्द्धन

प्रस्तावना

१—उक्खेवो—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं पंचमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, छट्ठस्स णं भंते । समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

तए णं सुहम्मे अणगारे जम्बू-अणगारं एवं वयासी—

१—उत्क्षेप—जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! यदि यावत् मुक्तिप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने पांचवें अध्ययन का यह अर्थ कहा, तो षष्ठ अध्ययन का भगवान् ने क्या अर्थ कहा है ?

२—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं महुरा नामं नयरी होत्था । भंडीरे उज्जाणे । सुदंसणे जक्खे । सिरिदामे राया । बन्धुसिरी भारिया । पुत्ते नंदिवद्धणे कुमारे अहीण (पडिपुण्ण-पंचिंदियशरीरे) जाव जुवराया ।

२—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में मथुरा नाम की नगरी थी । वहाँ भण्डीर नाम का एक उद्यान था । सुदर्शन नामक यक्ष का उसमें आयतन था । वहाँ श्रीदाम नामक राजा राज्य करता था, उसकी बन्धुश्री नाम की रानी थी । उनका सर्वाङ्ग-सम्पन्न युवराज पद से अलंकृत नन्दिवर्द्धन नाम का सर्वांगसुन्दर पुत्र था ।

३—तस्स सिरिदामस्स सुबन्धू नामं अमच्चे होत्था । साम-भेय-दण्ड उवप्पयाणनीतिकुसले, सुपउत्तनयविहण्णू । तस्स णं सुबंधुस्स अमच्चस्स बहुमित्तापुत्ते नामं दारए होत्था, अहीण० । तस्स णं सिरिदामस्स रन्नो चित्ते नामं अलंकारिए होत्था । सिरिदामस्स रण्णो चित्ते बहुविहं अलंकारियकम्मं करेमाणे सव्वट्ठाणेसु य सव्वभूमियासु य, अंतेउरे य, दिन्नवियारे यावि होत्था ।

३—श्रीदाम नरेश का सुबन्धु नामक मन्त्री था, जो साम, दण्ड, भेद-उपप्रदान में कुशल था—नीति-निपुण था । उस मन्त्री के बहुमित्रापुत्र नामक सर्वाङ्गसम्पन्न व रूपवान् बालक था । श्रीदाम नरेश का, चित्र नामक अलंकारिक (केशादि को अलंकृत करने वाला नाई) था । वह राजा का अनेकविध, क्षौरकर्म करता हुआ राजा की आज्ञा से सर्वस्थानों, सर्व-भूमिकाओं तथा अन्तःपुर में भी, बेरोक-टोक, आवागमन करता रहता था ।

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे । परिसा निग्गया, राया निग्गओ जाव परिसा पडिगया ।

४—उस काल उस समय में मथुरा नगरी में भगवान् महावीर स्वामी पधारे। परिषद् व राजा भगवान् की धर्मदेशना श्रवण करने नगर से निकले, यावत् धर्मदेशना सुनकर वापिस चले गये।

गौतम स्वामी का प्रश्न

५—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स जेट्ठे जाव[1] रायमग्गमोगाढे तहेव हत्थी, आसे, पुरिसे, पासइ। तेसिं च पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासइ जाव नरनारिसंपरिवुडं। तए णं तं पुरिसं रायपुरिसा चच्चरंसि तत्तंसि अयोमयंसि समजोइभूयसीहासणंसि निवेसावेंति। तयाणंतरं च णं पुरिसाणं मज्झगयं पुरिसं बहुविहअयकलसेहिं तत्तेहिं समजोइभूएहिं, अप्पेगइया तंबभरिएहिं, अप्पेगइया तउयभरिएहिं, अप्पेगइया सीसग-भरिएहिं, अप्पेगइया कलकलभरिएहिं, अप्पेगइया खारतेल्लभरिएहिं, महया-महया रायाभिसेएणं अभिसिंचंति। तयाणंतरं च णं तसं अयोमयं समजोइ-भूयं अयोमयसंडासएणं गहाय हारं पिणद्धंति। तयाणंतरं च णं अद्धहारं पिणद्धंति जाव (तिसरियं पिणद्धंति, पालंबं पिणद्धंति, कडिसुत्तयं पिणद्धंति, पट्टं पिणद्धंति, मउडं) पिणद्धंति।

चिन्ता तहेव जाव वागरेइ।

५—उस समय भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी भिक्षा के लिये नगरी में पधारे। भिक्षा ग्रहण करके लौटते हुए यावत् राजमार्ग पर पधारे। वहाँ उन्होंने (पूर्ववत्) हाथियों, घोडों और पुरुषों को देखा, तथा उन पुरुषों के मध्य में यावत् बहुत से नर-नारियों के वृन्द से घिरे हुए एक पुरुष को देखा। राजपुरुष उस पुरुष को चत्वर—जहाँ बहुत से रास्ते मिलते हों—ऐसे स्थान में अग्नि के समान-सन्तप्त लोहमय सिंहासन पर बैठाते है। बैठाकर कोई-कोई राजपुरुष उसको अग्नि के समान उष्ण लोहे से परिपूर्ण, कोई ताम्रपूर्ण, कोई त्रपु-रांगा से पूर्ण, कोई सीसा से पूर्ण, कोई कलकल से पूर्ण, अथवा कलकल शब्द करते हुए अत्युष्ण पानी से परिपूर्ण, क्षारयुक्त तैल से पूर्ण, अग्नि के समान तपे कलशों के द्वारा महान् राज्याभिषेक से उसका अभिषेक करते हैं।

तदनन्तर उसे, लोहमय संडासी से पकड़कर अग्नि के समान तपे हुए अयोमय—अठारह लड़ियों वाले हार, अर्द्धहार-नौ लडी वाले हार, तीन लड़ी वाले हार को, कोई प्रालम्ब—लम्बी लटकती माला, कोई करधनी, कोई मस्तक के पट्टवस्त्र अथवा भूषणविशेष और कोई मुकुट पहिनाते है।

यह भयावह दृश्य देखकर श्री गौतमस्वामी को पूर्ववत् विचार उत्पन्न हुआ—यह पुरुष नारकीय वेदना भोग रहा है, आदि। यावत् गौतमस्वामी उस पुरुष के पूर्वभव सम्बन्धी वृत्तान्त को भगवान् से पूछते हैं भगवान् उत्तर में इस प्रकार कहते हैं—

भगवान् का उत्तर : नन्दिषेण का पूर्वभव

६—एवं खलु गोयमा। तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सीहपुरे नामं

---

१. द्वि. अ.. सूत्र ६

नयरे होत्था। रिद्धत्थिमियसमिद्धे। तत्थ णं सीहपुरे नयरे सीहरहे नामं राया होत्था। तस्स णं सीहरहस्स रन्नो दुज्जोहणे नामं चारगपालए होत्था, अहम्मिए जाव[1] दुप्पडियानंदे।

६—हे गौतम! उस काल उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में सिंहपुर नामक एक ऋद्ध, स्तिमित व समृद्ध नगर था। वहाँ सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। उस राजा के दुर्योधन नाम का चारकपाल—कारागाररक्षक—जेलर था, जो अधर्मी यावत् कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था।

जेलर का घोर अत्याचार

७—तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालगस्स इमेयारूवे चारगभंडे होत्था—बहवे अयकुंडीओ-अप्पेगइयाओ तंबभरियाओ, अप्पेगइयाओ तउयभरियाओ, अप्पेगइयाओ सीसभरियाओ, अप्पेगइयाओ कलकलभरियाओ, अप्पेगइयाओ खारतेल्लभरियाओ-अगणिकायंसि अद्दहियाओ चिट्ठंति।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारपालगस्स बहवे उट्टियाओ-अप्पेगइयाओ आसमुत्तभरियाओ, अप्पेगइयाओ हत्थिमुत्तभरियाओ, अप्पेगइयाओ गोमुत्तभरियाओ, अप्पेगइयाओ महिसमुत्तभरियाओ, अप्पेगइयाओ उट्टमुत्तभरियाओ, अप्पेगइयाओ अयमुत्तभरियाओ, अप्पेगइयाओ एलमुत्तभरियाओ बहुपडिपुण्णाओ चिट्ठंति।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे हत्थंडुयाण य पायंडुयाण य हडीण य नियलाण य संकलाण य पुंजा य निगरा य संनिक्खित्ता चिट्ठंति।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे वेणुलयाण य वेत्तलयाण य चिंचालयाण य छियाण य कसाण य वायरासीण य पुंजा निगरा चिट्ठंति।

तस्स णं दुज्जोहणस्स-चारगपालस्स बहवे सिलाण य लउडाण य मोग्गराण य कणंगराण य पुंजा य निगरा य संनिक्खित्ता चिट्ठंति।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे तंतीण य वरत्ताण य वागरज्जूण य वालयसुत्तरज्जूण य पुंजा य निगरा य संनिक्खित्ता चिट्ठंति।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे असिपत्ताण य करपत्ताण य खुरपत्ताण य कलम्बचीरपत्ताण य पुंजा य निगरा य संनिक्खित्ता चिट्ठंति।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे लोहखीलाण य कडगसक्कराण य चम्मपट्टाण य अल्लपट्टाण य पुंजा य निगरा य संनिक्खित्ता चिट्ठंति।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे सूईण य डंभणाण य कोट्टिल्लाण य पुंजा य निगरा य संनिक्खित्ता चिट्ठंति।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे पच्छाण (सत्थाण) य पिप्पलाण य कुहाडाण य नहच्छेयणाण य दब्भतिणाण य पुंजा य निगरा य संनिक्खित्ता चिट्ठंति।

---

१. तृ. अ., सूत्र-४

७—दुर्योधन नामक उस चारकपाल के निम्न चारकभाण्ड—कारागार सम्बन्धी साधन—उपकरण थे। अनेक प्रकार की लोहमय कुण्डियाँ थी, जिनमें से कई-एक ताम्र से पूर्ण थी, कई-एक त्रपु—रांगा से परिपूर्ण थी, कई एक सीसे से भरी थी तो कितनीक चूर्णमिश्रित जल (जिस जल का स्पर्श होते ही जलन उत्पन्न हो जाय) से भरी हुई थी और कितनीक क्षारयुक्त तैल से भरी थी जो कि अग्नि पर रक्खी रहती थी।

दुर्योधन नामक उस चारकपाल के पास उष्ट्रिकाएँ—उष्ट्रों के पृष्ठ भाग के समान बड़े-बड़े बर्तन (मटके) थे—उनमें से कई एक अश्वमूत्र से भरे हुए थे, कितनेक हाथी के मूत्र से भरे हुए थे, कितने उष्ट्रमूत्र से, कितनेक गोमूत्र से, कितनेक महिषमूत्र से, कितनेक बकरे के मूत्र से तो कितनेक भेड़ों के मूत्र से भरे हुए थे।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक हस्तान्दुक (हाथ में बाँधने का काष्ठ-निर्मित बन्धन-विशेष) पादान्दुक (पैर में बांधने का बन्धनविशेष) हडि—काठ की बेड़ी, निगड—लोहे की बेड़ी और शृंखला—लोहे की जञ्जीर के पुंज (शिखरयुक्त राशि) तथा निकर (शिखर रहित ढेर) लगाए हुए रक्खे थे।

तथा उस दुर्योधन चारकपाल के पास बेणुलताओं—बांस के चाबुकों, बेंत के चाबुकों, चिंचा-इमली के चाबुकों, कोमल चर्म के चाबुकों, सामान्य चर्मयुक्त चाबुकों, वल्कलरश्मियों—वृक्षों की त्वचा से निर्मित्त चाबुकों के पुंज व निकर रक्खे रहते थे।

उसे दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक शिलाओं, लकड़ियों, मुद्गरों और कनंगरों—जल में चलने वाले जहाज आदि को स्थिर करने वाले यन्त्रविशेष—के पुञ्ज व निकर रखे रहते थे।

उस दुर्योधन चरकपाल के पास चमड़े की रस्सियों, सामान्य रस्सियों, बल्कल रज्जुओं, छाल से निर्मित्त रस्सियों, केशरज्जुओं (ऊनी रस्सियों) और सूत्र रज्जुओं (सूती रस्सियों) के पुंज व निकर रक्खे रहते थे।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास असिपत्र (कृपाण) करपत्र (आरा) क्षुरपत्र (उस्तरा) और कदम्बचीरपत्र (शस्त्र-विशेष) के भी पुञ्ज व निकर रक्खे रहते थे।

उस दुर्योधन चारकपास के पास लोहे की कीलों, बांस की सलाइयों, चमड़े के पट्टों व अल्लपट्ट—बिच्छू की पूंछ के आकार जैसे शस्त्र-विशेष के पुञ्ज व निकर रक्खे हुए थे।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक सुइयों, दम्भनों—अग्नि में तपाकर जिनसे शरीर में दाग दिया जाता है, ऐसी सलाइयों तथा लघु मुद्गरों के पुञ्ज व निकर रक्खे हुए थे।

उस दुर्योधन के पास अनेक प्रकार के शस्त्र, पिप्पल (छोटे छुरे) कुठार—कुल्हाड़ों, नखच्छेदक—नेहरनों एवं डाभ के अग्रभाग से तीक्ष्ण हथियारों के पुञ्ज व निकर रक्खे हुए थे।

८—तए णं से दुज्जोहणे चारगपालए सीहरहस्स रण्णो बहवे चोरे य पारदारिए य गंठिभेए य रायावयारी य अणहारए य बालघायए य विस्संभघायए य जूयगरे य खंडपट्टे य पुरिसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावित्ता उत्ताणए पाडेइ, पाडेत्ता लोहदण्डेणं मुहं विहाडेइ, विहाडित्ता अप्पेगइए तत्ततंबं पज्जेइ, अप्पेगइए तउयं पज्जेइ, अप्पेगइए सीसगं पज्जेइ, अप्पेगइए कलकलं पज्जेइ, अप्पेगइए

खारतेल्लं पज्जेइ, अप्पेगइयाणं तेणं चेव अभिसेयगं करेइ।

अप्पेगइए उत्ताणए पाडेइ, पाडित्ता, आसमुत्तं पज्जेइ, अप्पेगइए हत्थिमुत्तं पज्जेइ, जाव एलमुत्तं पज्जेइ।

अप्पेगइए हेट्ठामुहे पाडेइ, छडछडस्स[1] वम्मावेइ, वम्मावित्ता अप्पेगइए तेणं चेव ओवीलं दलयइ।

अप्पेगइए हत्थंदुयाइं बन्धावेइ, अप्पेगइए पायंदुए बन्धावेइ, अप्पेगइए हडिबन्धणं करेइ, अप्पेगइए नियडबन्धणं करेइ, अप्पेगइए संकोडियमोडियं करेइ, अप्पेगइए संकलबंधणं करेइ।

अप्पेगइए हत्थछिन्नए करेइ जाव सत्थोवाडियं करेइ, अप्पेगइए वेणुलयाहि य जाव वायरासीहि य हणावेइ।

अप्पेगइए उत्ताणए कारवेइ, कारेत्ता उरे सिलं दलावेइ, तओ लउडं छुहावेइ, छुहावित्ता पुरिसेहिं उक्कंपावेइ। अप्पेगइए तंतीहि य जाव सुत्तरज्जुहि य हत्थेसु पाएसु य बंधावेइ, अगडंसि ओचूलयालगं पज्जेइ, अप्पेगइए असिपत्तेहि य जाव कलंबचीरपत्तेहि य पच्छावेइ, पच्छावेत्ता खारतेल्लेणं अब्भिंगावेइ।

अप्पेगइए निडालेसु य अवदूसु य कोप्परेसु य जाणुसु य खलुएसु य लोहकीलए य कडसक्कराओ य दवावेइ, अलिए भंजावेइ।

अप्पेगइए सूईओ डंभणाणि य हत्थंगुलियासु य पायंगुलियासु य कोट्टिल्लएहि य आउडावेइ, आउडावेत्ता भूमिं कंडूयावेइ।

अप्पेगइए सत्थेहि य जाव (अप्पेगइए पिप्पलेहि ए, अप्पेगइए कुहाडेहि य, अप्पेगइए) नहच्छेयणेहि य अंगं पच्छावेइ, दब्भेहि य कुसेहि य ओल्लवद्धेहि य वेढावेइ, वेढावेत्ता आयवंसि दलयइ, दलइत्ता सुक्के समाणे चडचडस्स उप्पावेइ!

८—तदनन्तर वह दुर्योधन चारकपाल सिंहरथ राजा के अनेक चोर, परस्त्रीलम्पट, ग्रन्थिभेदक—गांठकतरों, राजा के अपकारी—दुश्मनों, ऋणधारक—ऋण लेकर वपिस नहीं करने वालों, बालघातकों, विश्वासघातियों, जुआरियों और धूर्त पुरुषों को राजपुरुषों के द्वारा पकड़वाकर ऊर्ध्वमुख—सीधा—चित्त गिराता है और गिराकर लोहे के दण्डे से मुख को खोलता है और खोलकर कितनेएक को तप्त तांबा पिलाता है, कितनेएक को रांगा, सीसक, चूर्णादिमिश्रित जल अथवा कलकल करता हुआ अत्यन्त उष्ण जल और क्षारयुक्त तैल पिलाता है तथा कितनों का इन्हीं से अभिषेक कराता है।

कितनों को ऊर्ध्वमुख गिराकर उन्हें अश्वमूत्र हस्तिमूत्र यावत् भेड़ों का मूत्र पिलाता है। कितनों को अधोमुख गिराकर छल छल शब्द पूर्वक (छड़-छड़ शब्द पूर्वक) वमन कराता है और कितनों को उसी के द्वारा पीड़ा देता है।

कितनों को हथकड़ियों बेड़ियों से, हडिबन्धनों से व निगडबन्धनों से बद्ध करता है। कितनों के शरीर को सिकोड़ता व मरोड़ता है। कितनों को सांकलों से बांधता है, तथा कितनों का हस्तच्छेदन यावत् शस्त्रों से चीरता-फाड़ता है। कितनों को वेणुलताओं यावत् वृक्षत्वचा के चाबुकों से पिटवाता है।

---

१. इस पद के स्थान में 'चलचलस्स' तथा 'बलस्स' पाठ भी आता है।

कितनों को ऊर्ध्वमुख गिराकर उनकी छाती पर शिला व लक्कड़ रखवा कर उत्कम्पन (ऊपर नीचे) कराता है कि जिससे हड्डियाँ टूट जाएँ।

कितनों के चर्मरज्जुओं व सूत्ररज्जुओं से हाथों और पैरों को बँधवाता है, बंधवाकर कुए में उल्टा लटकवाता है, लटकाकर गोते खिलाता है। कितनों का असिपत्रों यावत् कलम्बचीरपत्रों से छेदन कराता है और उस पर क्षारमिश्रित तैल से मर्दन कराता है।

कितनों के मस्तकों, कण्ठमणियों, घंटियों, कोहनियों, जानुओं तथा गुल्फों-गिट्टों में लोहे की कीलों को तथा बांस की शलाकाओं को ठुकवाता है तथा वृश्चिककण्टकों—बिच्छु के कांटों को शरीर में प्रविष्ट कराता है।

कितनों के हाथ की अंगुलियों तथा पैर की अगुलियों में मुद्गरों के द्वारा सूइयों तथा दम्भनों—दागने के शस्त्रविशेषों को प्रविष्ट कराता है तथा भूमि को खुदवाता है।

कितनों का शस्त्रों व नेहरनों से अङ्ग छिलवाता है और दर्भों—मूलसहितकुशाओं, कुशाओं—मूलरहित कुशाओं तथा आर्द्र चर्मों द्वारा बंधवाता है। तदनन्तर धूप में गिराकर उनके सूखने पर चड़ चड़ शब्द पूर्वक उनका उत्पाटन कराता है।

आचार का दुष्परिणाम

९—तए णं से दुज्जोहणे चारगपालए एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता एगतीसं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीससागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने।

९—इस तरह वह दुर्योधन चारकपालक इस प्रकार की निर्दयतापूर्ण प्रवृत्तियों को अपना कर्म, विज्ञान व सर्वोत्तम आचरण बनाए हुए अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन करके ३१ सौ वर्ष की परम आयु भोगकर कालमास में काल करके छठे नरक में उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों में नारक रूप में उत्पन्न हुआ।

१०—से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव महुराए नगरीए सिरिदामस्स रन्नो बन्धुसिरीए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने। तए णं बन्धुसिरी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं जाव दारगं पयाया। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो निव्वत्ते बारसाहे इमं एयारूवं नामधेज्जं करेंति—'होउ णं अम्हं दारगे नंदिसेणे नामेणं'।

तए णं से नंदिसेणे कुमारे पंचधाईपरिवुडे जाव परिवड्ढइ। तए णं से नंदिसेणे कुमारे उम्मुक्कबालभावे जाव विहरइ, जोव्वणगमणुप्पत्ते जुवराया जाए यावि होत्था।

तए णं से नंदिसेणे कुमारे रज्जे य जाव अंतेउरे य मुच्छिए इच्छइ सिरिदामं रायं जीवियाओ ववरोवेत्तए, सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे, पालेमाणे विहरित्तए। तए णं से नंदिसेणे कुमारे सिरिदामस्स रन्नो बहूणि अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणे विहरइ।

१०—तदनन्तर वह दुर्योधन चारकपाल का जीव छट्ठे नरक से निकलकर इसी मथुरा नगरी में श्रीदाम राजा की बन्धुश्री देवी की कुक्षि में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। तदनन्तर लगभग नव मास परिपूर्ण होने पर बन्धुश्री ने बालक को जन्म दिया। तत्पश्चात् बारहवें दिन माता-पिता ने नवजात बालक का नन्दिषेण नाम रक्खा।

तदनन्तर पाँच धायमाताओं से सार-संभाल किया जाता हुआ नन्दिषेण कुमार वृद्धि को प्राप्त होने लगा। जब वह बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था को प्राप्त हुआ तब युवराज पद से अलंकृत भी हो गया।

तत्पश्चात् राज्य और अन्तःपुर में अत्यन्त आसक्त नंदिषेण कुमार श्रीदाम राजा को मारकर स्वयं ही राज्यलक्ष्मी को भोगने एवं प्रजा का पालन करने की इच्छा करने लगा। एतदर्थ कुमार नन्दिषेण श्रीदाम राजा के अनेक अन्तर—अवसर, छिद्र—जिस समय पारिवारिक व्यक्ति नहीं हों, अथवा विरह—कोई भी पास न हो, राजा अकेला ही हो—ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

पितृवध का दुःसंकल्प

११—तए णं से नन्दिसेणे कुमारे सिरिदामस्स रन्नो अंतरं अलभमाणे अन्नया कयाइ चित्तं अलंकारियं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'तुम्हे णं देवाणुप्पिया ! सिरिदामस्स रन्नो सव्वट्ठाणेसु य सव्वभूमीसु य अंतेउरे य दिन्नवियारे सिरिदामस्स रन्नो अभिक्खणं अभिक्खणं अलंकारियं कम्मं करेमाणे विहरसि। तं णं तुमं देवाणुप्पिया ! सिरिदामस्स रन्नो अलंकारियं कम्मं करेमाणे गीवाए खुरं निवेसेहि।

तो णं अहं तुम्हं अद्धरज्जयं करिस्सामि। तुमं अम्हेहिं सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्ससि।'

तए णं से चित्ते अलंकारिए नंदिसेणस्स कुमारस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ।

११—तदनन्तर श्रीदाम नरेश के वध का अवसर प्राप्त न होने से कुमार नन्दिषेण ने किसी अन्य समय चित्र नामक अलंकारिक—नाई को बुलाकर इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय ! तुम श्रीदाम नरेश के सर्वस्थानों, सर्वभूमिकाओं तथा अन्तःपुर में स्वेच्छापूर्वक आ-जा सकते हो और श्रीदाम नरेश का बारम्बार क्षौरकर्म करते हो। अतः हे देवानुप्रिय ! यदि तुम श्रीदाम नरेश के क्षौरकर्म करने के अवसर पर उसकी गरदन में उस्तरा घुसेड़ दो—इस प्रकार तुम्हारे हाथों नरेश का वध हो जाय तो मैं तुमको आधा राज्य दे दूँगा। तब तुम भी हमारे साथ उदार-प्रधान कामभोगों का उपभोग करते हुए सानन्द समय व्यतीत कर सकोगे। चित्र नामक नाई ने कुमार नन्दिषेण के उक्त कथन को स्वीकार कर लिया।

षड्यंत्र विफल : घोर कदर्थना

१२—तए णं तस्स चित्तस्स अलंकारियस्स इमेयारूवे जाव (अज्झत्थिए चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे) समुप्पज्जित्था—'जइ णं मम सिरिदामे राया एयमट्ठं आगमेइ, तए णं मम न नज्जइ केणइ असुभेणं कुमारेणं मारिस्सइत्ति। कट्टु भीए जेणेव सिरिदामे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिरिदामं रायं रहस्सियगं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

'एवं खलु सामी ! नंदिसेणे कुमारे रज्जे य जाव मुच्छिए इच्छइ तुब्भे जीवियाओ ववरोवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए।'

तए णं से सिरिदामे राया चित्तस्स अलंकारियस्स एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव साहट्टु नंदिसेणं कुमारं पुरिसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावित्ता एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ।

'तं एवं खलु गोयमा ! नन्दिसेणे पुत्ते जाव विहरइ।'

१२—परन्तु कुछ ही समय के बाद चित्र अलंकारिक के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि यदि किसी प्रकार से श्रीदाम नरेश को इस षड्यन्त्र का पता लग गया तो न मालूम वे मुझे किस कुमौत से मारेंगे। इस विचार के उद्भव होते ही वह भयभीत हो उठा और एकान्त में गुप्त रूप से जहाँ महाराजा श्रीदाम थे, वहाँ पर आया। एकान्त में दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अञ्जलि कर विनयपूर्वक इस प्रकार बोला—

'स्वामिन् ! निश्चय ही नन्दिषेण कुमार राज्य में आसक्त यावत् अध्युपपन्न होकर आपका वध करके स्वयं ही राज्यलक्ष्मी भोगना चाह रहा है।'

तब श्रीदाम नरेश ने चित्र अलंकारिक से इस बात को सुनकर, उस पर विचार किया और अत्यन्त क्रोध में आकर नन्दिषेण को अपने अनुचरों द्वारा पकड़वाकर इस पूर्वोक्त विधान—प्रकार से मार डालने का राजपुरुषों को आदेश दिया।

भगवान् कहते हैं—'हे गौतम ! नन्दिषेण पुत्र इस प्रकार अपने किये अशुभ पापमय कर्मों के फल को भोग रहा है।'

नन्दिषेण का भविष्य

'नन्दिसेणे कुमारे इओ चुए कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?'

'गोयमा ! नन्दिसेणे कुमारे सट्ठिवासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—संसारो तहेव।

तओ हत्थिणाउरे नयरे मच्छत्ताए उववज्जिहिइ। से णं तत्थ मच्छिएहिं वहिए समाणे तत्थेव सेट्ठिकुले पुत्तत्ताए पच्चायाहिइ। बोहिं सोहम्मे कप्पे—महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, बुज्झिहिइ मुच्चिहिइ, परिनिव्वाहिइ, सव्वदुक्खाणं अंतं करेहिइ।

निक्खेवो।

गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा कि—भगवन् ! नन्दिषेण कुमार मृत्यु के समय में यहां से काल करके कहां जायगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! यह नन्दिषेण कुमार साठ वर्ष की परम आयु को भोगकर मृत्यु के समय में मर करके इस रत्नप्रभा नामक पृथ्वी-नरक में उत्पन्न होगा। इसका शेष संसार-भ्रमण मृगापुत्र के अध्ययन की तरह समझ लेना यावत् वह पृथ्वीकाय आदि सभी कायों में लाखों बार उत्पन्न होगा।

पृथ्वीकाय से निकलकर हस्तिनापुर नगर में मत्स्य के रूप में उत्पन्न होगा। वहां मच्छीमारों के द्वारा वध को प्राप्त होकर फिर वहीं हस्तिनापुर नगर में एक श्रेष्ठि-कुल में पुत्ररूप में उत्पन्न होगा। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा। वहां पर चारित्र ग्रहण करेगा और उसका यथाविधि पालन कर उसके प्रभाव से सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, मुक्त होगा और परमनिर्वाण को प्राप्त कर सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त करेगा।

॥ छठा अध्ययन समाप्त ॥

सप्तम अध्ययन

उम्बरदत्त

प्रस्तावना

१—'जइ णं भंते !' उक्खेवो सत्तमस्स।

१—अहो भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने दुःखविपाक के छटठे अध्ययन का यह अर्थ कहा है तो भगवान् ने सातवें अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ? इस प्रकार सप्तम अध्ययन के उत्क्षेप की भावना पूर्ववत् जान लेनी चाहिये।

२—एवं खलु, जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं पाडलिसंडे नयरे। वणखंडे नामं उज्जाणे। उंबरदत्ते जक्खे। तत्थ णं पाडलिसंडे नयरे सिद्धत्थे राया।

तत्थ णं पाडलिसंडे नयरे सागरदत्ते सत्थवाहे होत्था, अड्ढे०। गंगदत्ता भारिया। तस्स सागरदत्तस्स पुत्ते गंगदत्ताए भारियाए अत्तए उम्बरदत्तनामं दारए होत्था—अहीणपडिपुण्णपंचिदिय-सरीरे।

२—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में पाटलिखंड नाम का एक नगर था। वहाँ वनखण्ड नाम का उद्यान था। उस उद्यान में उम्बरदत्त नामक यक्ष का यक्षायतन था। उस नगर में सिद्धार्थ नामक राजा राज्य करता था।

पाटलिखण्ड नगर में सागरदत्त नामक एक धनाढ्य सार्थवाह रहता था। उसकी गङ्गदत्ता नाम की भार्या थी। उस सागरदत्त का पुत्र व गङ्गदत्ता भार्या का आत्मज उम्बरदत्त नाम का अन्यून व परिपूर्ण पञ्चेन्द्रियों से युक्त सुन्दर शरीर वाला एक पुत्र था।

३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ समोसरणं, जाव परिसा पडिगया।

३—उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर वहाँ पधारे, यावत् धर्मोपदेश सुनकर राजा तथा परिषद् वापिस चले गये।

उम्बरदत्त का वर्त्तमान भव

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं गोयमे, तहेव जेणेव पाडलिसंडे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पाडलिसंडं नयरं पुरत्थिमिल्लेणं दुवारेणं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता तत्थ णं पासइ एगं पुरिसं कच्छुल्लं कोढियं दोउयरियं, भगंदरियं अरिसिल्लं कासिल्लं सासिल्लं सोगिलं सुयमुहं सूयहत्थं सडियपायंगुलियं सडियकण्णनासियं रसियाए य पूइएण य थिविथिवियवणमुहकिमिउत्तयंत-

पगलंत-पूयरुहिरं लालापगलंतकण्णनासं अभिक्खणं अभिक्खणं पूयकवले य रुहिरकवले य किमियकवले य वममाणं कट्ठाइं कलुणाइं विसराइं कूयमाणं मच्छियाचडगरपहकरेणं अन्निज्जमाणमग्गं फुट्टहडाहडसीसं दण्डिखंडवसणं खंडमल्ल-खंडघड-हत्थगयं गेहे-गेहे देहं बलियाए वित्तिं कप्पेमाणं पासइ। तए भगवं गोयमे उच्च-नीय-मज्झिम-कुलाइं जाव अडमाणे अहापज्जत्तं समुदाणं गिण्हइ, गिण्हित्ता पाडलिसंडाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता भत्तपाणं आलोएइ, भत्तपाणं पडिदंसेइ, पडिदंसित्ता समणेणं अब्भणुन्नाए समाणे जाव बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेइ, संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

४—उस काल तथा उस समय भगवान् गौतम स्वामी षष्ठतप-बेले के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिये पाटलिषण्ड नगर में जाते हैं। उस पाटलिषण्ड नगर में पूर्वदिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं। वहाँ एक पुरुष को देखते हैं, जिसका वर्णन निम्न प्रकार है—

वह पुरुष कण्डू—खुजली के रोग से युक्त, कोढ के रोगवाला, जलोदर, भगन्दर तथा बवासीर-अर्श के रोग से ग्रस्त था। उसे खांसी, श्वास व सूजन का रोग भी हो रहा था। उनका मुख सूजा हुआ था। हाथ और पैर भी सूजे हुए थे। हाथ और पैर की अङ्गुलियां सड़ी हुई थीं, नाक और कान गले हुए थे। व्रणों (घावों) से निकलते सफेद गन्दे पानी तथा पीव से वह 'थिव थिव' शब्द कर रहा था। (अथवा बिलबिलाते हुए) कृमियों से अत्यन्त ही पीडित तथा—गिरते हुए पीव और रुधिरवाले व्रणमुखों से युक्त था। उसके कान और नाक क्लेदतन्तुओं—फोड़े के बहाव के तारों से गल चुके थे। बारंबार वह पीव के कवलों—ग्रासों का, रुधिर के कवलों का तथा कृमियों के कवलों का वमन कर रहा था। वह कष्टोत्पादक, करुणाजनक एवं दीनतापूर्ण शब्द कर रहा था। उसके पीछे-पीछे मक्षिकाओं के झुण्ड के झुण्ड चले जा रहे थे। उसके सिर के बाल अस्तव्यस्त थे। उसने थिगलीवाले वस्त्रखंड धारण कर रक्खे थे। फूटे हुए घड़े का टुकड़ा उसका भिक्षापात्र था। सिकोरे का खंड उसका जल-पात्र था, जिसे वह हाथ में लिए हुए घर-घर में भिक्षावृत्ति के द्वारा आजीविका कर रहा था।

इधर भगवान् गौतम स्वामी ऊँच, नीच और मध्यम घरों में भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए और यथेष्ट भिक्षा लेकर पाटलिषण्ड नगर से निकलकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ पर आये। आकर भक्तपान की आलोचना की और लाया हुआ आहार-पानी भगवान् को दिखाया। दिखलाकर उनकी आज्ञा मिल जाने पर बिल में प्रवेश करते हुए सर्प की भांति—बिना रस लिए ही—आहार करते हैं और संयम तथा तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

५—तए णं से भगवं गोयमे दोच्चं पि छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं जाव पाडलिसंडं नयरं दाहिणिल्लेणं दुवारेणं अणुप्पविसइ, तं चेव पुरिसं पासइ—कच्छुल्लं तहेव जाव संजमेणं तवसा विहरइ।

५—उनके बाद भगवान् गौतम स्वामी ने दूसरी बार बेले के पारणे के निमित्त प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया यावत् भिक्षार्थ गमन करते हुए पाटलिषण्ड नगर में दक्षिण दिशा के द्वार से प्रवेश किया तो वहां पर भी उन्होंने कंडू आदि रोगों से युक्त उसी पुरुष को देखा और वे भिक्षा लेकर वापिस आये। यावत् तप व संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

६—तए णं से गोयमे तच्चं पि छट्ठक्खमणपारणगंसि तहेव जाव पच्चत्थिमिल्लेणं दुवारेणं अणुपविसमाणे तं चेव पुरिसं पासइ कच्छुल्लं !

६—तदनन्तर भगवान् गौतम तीसरी बार बेले के पारणे के निमित्त उसी नगर में पश्चिम दिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं, तो वहाँ पर भी वे उसी पूर्ववर्णित पुरुष को देखते हैं।

पूर्वभव संबंधी पृच्छा

७—भगवं गोयमे चउत्थं पि छट्ठक्खमणपारणगंसि उत्तरेण०। इमेयारुवे अज्झत्थिए समुप्पन्ने—'अहो णं इमे पुरिसे पुरापोराणाणं जाव एवं वयासी—एवं खलु अहं, भंते ! छट्ठ० जाव रीयंते जेणेव पाडलिसंडे नयरे तेणेव उवागच्छामि, उवागच्छित्ता पाडलिसंडे पुरत्थिमिल्लेणं दुवारेणं अणुपविट्ठे। तत्थ णं एगं पुरिसं पासामि कच्छुल्लं जाव वित्तिं कप्पेमाणं। तए अहं दोच्चछट्ठखमणपारणगंसि दाहिणिल्लेणं दुवारेणं, तहेव। तच्चंपि छट्ठक्खमणपारणगंसि पच्चत्थिमेणं, तहेव। तए णं अहं चउत्थं वि छट्ठक्खमणपारणगंसि उत्तरदुवारेणं अणुप्पविसामि, तं चेव पुरिसं पासामि कच्छुल्लं जाव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ। चिन्ता ममं।' पुव्वभवपुच्छा।—वागरेइ।

७—इसी प्रकार गौतम चौथी बार बेले के पारणे के लिए पाटलिषण्ड में उत्तरदिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं। तब भी उन्होंने उसी पुरुष को देखा। उसे देखकर मन में यह संकल्प हुआ कि—अहो ! यह पुरुष पूर्वकृत अशुभ कर्मों के कटु-विपाक को भोगता हुआ दुःख पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है यावत् वापिस आकर उन्होंने भगवान् से कहा—

'भगवन् ! मैंने बेले के पारणे के निमित्त यावत् पाटलिषण्ड नगर की ओर प्रस्थान किया और नगर के पूर्व दिशा के द्वार से प्रवेश किया तो मैंने एक पुरुष को देखा जो कण्डूरोग से आक्रान्त यावत् भिक्षावृत्ति से आजीविका कर रहा था। फिर दूसरी बार पुनः छठे के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिए उक्त नगर के दक्षिण दिशा के द्वार से प्रवेश किया तो वहाँ पर उसी पुरुष को उसी रूप में देखा। तीसरी बार पारणे के निमित्त पश्चिम दिशा के द्वार से प्रवेश किया तो वहाँ पर भी पुनः उसी पुरुष को उसी अवस्था में देखा और जब चौथी बार में बेले के पारणे के निमित्त पाटलिखण्ड में उत्तर दिग्द्वार से प्रविष्ट हुआ तो वहाँ पर भी कंडूरोग से ग्रस्त भिक्षावृत्ति करते हुए उस पुरुष को देखा। उसे देखकर मेरे मानस में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अहो ! यह पुरुष पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का फल भुगत रहा है; इत्यादि।

प्रभो ! यह पुरुष पूर्वभव में कौन था ? जो इस प्रकार भीषण रोगों से आक्रान्त हुआ कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है ? भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—

पूर्वभव-वर्णन

८—एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहेवासे विजयपुरे नामं नयरं होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धे। तत्थ णं विजयपुरे नयरे कणगरहे नामं राया होत्था। तस्स णं कणगरहस्स रन्नो धन्नंतरी नामं वेज्जे होत्था।

अट्ठंगाउव्वेयपाढए, तंजहा--कुमारभिच्चं सालागे सल्लहत्ते कायतिगिच्छा जंगोले भूयविज्जा रसायणे वाजीकरणे। सिवहत्थे सुहहत्थे लहुहत्थे।

८—हे गौतम ! उस काल और उस समय में इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में विजयपुर नाम का ऋद्ध, स्तिमित व समृद्ध नगर था। उसमें कनकरथ नाम का राजा राज्य करता था। उस कनकरथ का धन्वन्तरि नाम का वैद्य था जो आयुर्वेद के आठों अङ्गों का ज्ञाता था। आयुर्वेद के आठों अङ्गों के नाम इस प्रकार हैं—

१—कौमारभृत्य—आयुर्वेद का एक अङ्ग जिसमें कुमारों के दुग्धजन्य दोषों के उपशमन का मुख्य वर्णन हो।

२—शालाक्य—जिनमें नयन, नाक आदि ऊर्ध्वभागों के रोगों की चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया हो।

३—शाल्यहत्य—आयुर्वेद का वह अङ्ग जिसमें शल्य—कण्टक, गोली आदि निकालने की विधि का वर्णन किया गया हो।

४—कायचिकित्सा—शरीर सम्बन्धी रोगों की प्रतिक्रिया—इलाज का प्रतिपादक आयुर्वेद का एक अङ्ग।

५—जांगुल—आयुर्वेद का वह विभाग जिसमें विषों की चिकित्सा का विधान है।

६—भूतविद्या—आयुर्वेद का वह भाग जिसमें भूत-निग्रह का प्रतिपादन हो।

७—रसायन—आयु को स्थिर करने वाली व व्याधि-विनाशक औषधियो का विधान करने वाला प्रकरण विशेष।

८—वाजीकरण—बल-वीर्यवर्द्धक औषधियों का विधायक आयुर्वेद का अंग।

वह धन्वन्तरि वैद्य शिवहस्त—(जिसका हाथ कल्याण उत्पन्न करने वाला हो), शुभहस्त—(जिसका हाथ शुभ अथवा सुख उपजाने वाला हो) व लघुहस्त—(जिसका हाथ कुशलता से युक्त हो) था।

९—तए णं से धन्नंतरी वेज्जे विजयपुरे नयरे कणगरहस्स रन्नो अंतेउरे य अन्नेसिं च बहूणं राईसर जाव सत्थवाहाणं अन्नेसिं च बहूणं दुब्बलाण य गिलाणाण य वाहियाण य रोगियाण य अणाहाण य सणाहाण य समणाण य माहणाण य भिक्खगाण य करोडियाण य कप्पडियाण य आउराण य अप्पेगइयाणं मच्छमंसाइं उवदेसेइ, अप्पेगइयाणं कच्छपमंसाइं, अप्पेगइयाणं गोहामंसाइं, अप्पेगइयाणं मगरमंसाइं, अप्पेगइयाइं सुंसुमारमंसाइं, अप्पेगइयाणं अयमंसाइं एवं एलय-रोज्झ-सूयर-मिग-ससय-गोमंस-महिसमंसाइं, अप्पेगइयाइं तित्तिरमंसाइं, अप्पेगइयाणं वट्टक-लावक-कवोय-कुक्कुड-मयूर-मंसाइं अन्नेसिं च बहूणं जलयर-थलयर-खहयर-माईणं मंसाइं उवदेसेइ। अप्पणा वि य णं से धन्नंतरी वेज्जे तेहिं बहूहिं मच्छमंसेहि य जाव मयूरमंसेहि य अन्नेहि य बहूहि जलयर-थलयर-खहयर-मंसेहिं य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिए हि य सुरं च महुं च मेरगं च जाइं च सीधुं च आसाएसाणे विसाएमाणे परिभाएमाणे परिभुंजेमाणे विहरइ।

९—वह धन्वन्तरि वैद्य विजयपुर नगर के महाराज कनकरथ के अन्तःपुर में निवास करने वाली रानियों को तथा अन्य बहुत से राजा, ईश्वर (ऐश्वर्यवान् या राजकुमार) यावत् सार्थवाहों को तथा इसी तरह अन्य बहुत से दुर्बल ग्लान—मानसिक चिन्ता से उदास रहने वाले, रोगी, व्याधित या बाधित, रुग्ण व्यक्तियों को एवं सनाथों, अनाथों, श्रमणों-ब्राह्मणों, भिक्षुकों, करोटिकों-कापालिकों, कार्पटिकों—कन्थाधारी भिक्षुकों अथवा भिखमगों और आतुरों की चिकित्सा किया करता था। उनमें से कितने को मत्स्यमांस खाने का उपदेश देता था, कितनों को कछुओं के मांस का, कितनों को ग्राह—जलचरविशेष के मांस का, कितनों को मगरों के मांस का, कितनों को सुंसुमारों के मांस का, कितनों को बकरों के मांस का अर्थात् इनका मांस खाने का उपदेश दिया करता था। इसी प्रकार भेड़ों, गवयों, शूकरों, मृगों, शशकों, गौओं और महिषों का मांस खाने का भी उपदेश करता था।

कितनों को तित्तरों के मांस का तो कितनों को बटेरों, लावकों, कबूतरों, कुक्कुटों व मयूरों के मांस का उपदेश देता। इसी भाँति अन्य बहुत से जलचरों, स्थलचरों तथा खेचरों आदि के मांस का उपदेश करता था। यही नहीं, वह धन्वन्तरि वैद्य स्वयं भी उन अनेकविध मत्स्यमांसों, मयूरमांसो तथा अन्य बहुत से जलचर स्थलचर व खेचर जीवों के मांसों से तथा मत्स्यमांसों व मयूररसों से पकाये हुए, तले हुए, भूने हुए मांसों के साथ पांच प्रकार की मदिराओं का आस्वादन व विस्वादन, परिभाजन एवं बार-बार उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करता था।

१०—तए णं से धन्नंतरी वेज्जे एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावं कम्मं समज्जिणित्ता बत्तीसं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीससागरोपमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने।

१०—तदनन्तर वह धन्वन्तरि वैद्य इन्हीं पापकर्मों वाला इसी प्रकार की विद्या वाला और ऐसा ही आचरण बनाये हुए, अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन करके ३२ सौ वर्ष की परम आयु को भोगकर काल मास मे काल करके छट्ठी नरकपृथ्वी में उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों में नारक रूप से उत्पन्न हुआ।

११—तए णं सा गंगदत्ता भारिया जायनिंदुया यावि होत्था, जाया जाया दारगा विणिहायमावज्जंति। तए णं तीसे गंगदत्ताए सत्थवाहीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणीए अयं अज्झत्थिए जाव समुप्पन्ने—'एवं खलु, अहं सागरदत्तेणं सत्थवाहेणं सद्धिं बहूइं वासाइं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरामि, नो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयामि। तं धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ, संपुण्णाओ, कयत्थाओ, कयपुण्णाओ, कयलक्खणाओ णं ताओ अम्मयाओ, सुलद्धे णं तासिं अम्मयाणं माणुस्सए जम्मजीवियफले, जासिं मन्ने नियगकुच्छिसंभूयाइं थणदुद्धलुद्धयाइं महुरसमुल्लावगाइं मम्मणपजंपियाइं थणमूलकक्खदेसभागं अभिसरमाणयाइं मुद्धयाइं पुणो पुणो य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊण उच्छंगे निवेसियाइं देंति समुल्लावए सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभणिए!

अहं णं अधन्ना अपुण्णा अकयपुण्णा एत्तो एगमवि न पत्ता। तं सेयं खलु मम कल्लं जाव जलंते सागरदत्तं सत्थवाहं आपुच्छित्ता सुबहुं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारं गहाय बहुमित्त-नाइ-नियग-

सयण-संबंधि-परियणमहिलाहिं सद्धिं पाडलिसंडाओ नयराओ पडिनिक्खमित्ता बहिया जेणेव उंबरदत्तस्स जक्खस्स जक्खाययणे तेणेव उवागच्छित्तए। तत्थ णं उंबरदत्तस्स जक्खस्स महरिहं पुप्फच्चणं करित्ता जन्नुपायवडियाए ओयाइत्तए—'जइ णं अहं देवाणुप्पिया ! दारगं वा दारियं वा पयामि, तो णं अहं तुब्भं जायं च दायं च भायं च अक्खनिहिं च अणुवड्ढइस्सामि।' त्ति कट्टु ओवाइयं ओवाइणित्तए।' एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कल्लं जाव जलंते जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी—एवं खलु अहं, देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं सद्धिं जाव[1] न पत्ता। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया जाव[2] ओवाइणित्तए।'

तए णं से सागरदत्ते गंगदत्तं भारियं एवं वयासी—'मम पि णं, देवाणुप्पिए ! एस चेव मणोरहे, कहं तुमं दारगं दारियं वा पयाइज्जसि।' गंगदत्ताए भारियाए एयमट्ठं अणुजाणइ।

११—उस समय सागरदत्त की गङ्गदत्ता भार्या जातनिन्दुका (जिसके बालक जन्म लेने के साथ ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हों) थी। अतएव उसके बालक उत्पन्न होने के साथ ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे। एक बार मध्यरात्रि में कुटुम्ब सम्बन्धी चिन्ता से जागती उस गंगदत्ता सार्थवाही के मन में जो संकल्प उत्पन्न हुआ, वह निम्न प्रकार है—मैं चिरकाल से सागरदत्त सार्थवाह के साथ मनुष्य सम्बन्धी उदार-प्रधान कामभोगों का उपभोग करती आ रही हूँ परन्तु मैंने आज तक जीवित रहने वाले एक भी बालक अथवा बालिका को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त नहीं किया है। वे माताएँ ही धन्य हैं तथा वे माताएँ ही कृतार्थ अथच कृतपुण्य है, उन्हीं का वैभव सार्थक है और उन्होंने ही मनुष्य सम्बन्धी जन्म और जीवन को सफल किया है, जिनके स्तनगत दूध में लुब्ध, मधुर भाषण से युक्त, अव्यक्त तथा स्खलित-तुतलाते वचनवाले, स्तनमूल प्रदेश से कांख तक अभिसरणशील (मचलकर सरक जानेवाले) नितान्त सरल, कमल के समान कोमल सुकुमार हाथों से पकड़कर गोद में स्थापित किये जानेवाले व पुनः पुनः सुमधुर कोमल-मंजुल वचनों को बोलने वाले अपने ही कुक्षि—उदर से उत्पन्न हुए बालक या बालिकाएँ हैं। उन माताओं को मैं धन्य मानती हूं। उनका जन्म भी सफल और जीवन भी सफल है।

मैं अधन्या हूं, पुण्यहीन हूं, मैने पुण्योपार्जन नहीं किया है, क्योंकि मैं इन बालसुलभ चेष्टाओं वाले एक सन्तान को भी उपलब्ध न कर सकी। अब मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं प्रातःकाल, सूर्य के उदय होते ही, सागरदत्त सार्थवाह से पूछकर विविध प्रकार के पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला और अलङ्कार लेकर बहुत से ज्ञातिजनों, मित्रों, निजकों, स्वजनों, सम्बन्धी जनों और परिजनों की महिलाओं के साथ पाटलिषण्ड नगर से निकलकर बाहर उद्यान में, जहाँ उम्बरदत्त यक्ष का यक्षायतन है, वहाँ जाकर उम्बरदत्त यक्ष की महार्ह (बहुमूल्य) पुष्पार्चना करके और उसके चरणों में नतमस्तक हो इस प्रकार प्रार्थनापूर्ण याचना करूं—

'हे देवानुप्रिय ! यदि मैं अब जीवित रहनेवाले बालिका या बालक को जन्म दूं तो मैं तुम्हारे याग—देव पूजा, दान—देय अंश, भाग—लाभ अंश व देव भंडार में वृद्धि करूंगी।' इस प्रकार उपयाचना—ईप्सित वस्तु की प्रार्थना के लिए उसने निश्चय किया। निश्चय करने के अनन्तर प्रातःकाल सूर्योदय होने के साथ ही जहाँ पर सागरदत्त सार्थवाह था, वहाँ पर आई और आकर सागरदत्त सार्थवाह से इस प्रकार कहने लगी—'हे स्वामिन् ! मैंने आप के साथ मनुष्य सम्बन्धी सांसारिक सुखों का

१-२. देखिए प्रस्तुत सूत्र के ही ऊपर का पाठ।

पर्याप्त उपभोग करते हुए आजतक एक भी जीवित रहने वाले बालक या बालिका को प्राप्त नहीं किया। अतः मैं चाहती हूँ कि यदि आप आज्ञा दें तो मैं अपने मित्रों, ज्ञातिजनों, निजकों, स्वजनों, सम्बन्धीजनों और परिजनों की महिलाओं के साथ पाटलिषण्ड नगर से बाहर उद्यान में उम्बरदत्त यक्ष की महार्ह पुष्पार्चना कर पुत्रोपलब्धि के लिये मनौती मनाऊँ।'

इसके उत्तर में सागरदत्त सार्थवाह ने अपनी गंगदत्ता भार्या से कहा—'भद्रे ! मेरी भी यही इच्छा है कि किसी प्रकार से तुम्हारे जीवित रहने वाले पुत्र या पुत्री उत्पन्न हों।' ऐसा कहकर उसने गंगदत्ता के उक्त प्रस्ताव का समर्थन करते हुए स्वीकार किया।

१२—तए णं सा गंगदत्ता भारिया सागरदत्तसत्थवाहेणं एयमट्ठं अब्भणुन्नाया समाणी सुबहु-पुप्फ वत्थ-गंध-मल्लालंकारं गहाय मित्त जाव महिलाहिं सद्धिं सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता पाडलिसंडं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहुं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं ठवेइ, ठवेत्ता पुक्खरिणिं ओगाहेइ, ओगाहित्ता जलमज्जणं करेइ, करित्ता जलकीडं करेमाणी ण्हाया कयकोउय-मंगलपायच्छित्ता उल्ल-पडसाडिया पुक्खरणीओ पच्चुत्तरइ, पच्चुत्तरित्ता तं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारं गिण्हइ, गिण्हित्ता जेणेव उम्बरदत्तस्स जक्खस्स जक्खायवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता उम्बरदत्तस्स जक्खस्स आलोए पणामं करेइ, करित्ता लोमहत्थं परामुसइ, परामुसित्ता उम्बरदत्तं जक्खं लोमहत्थेणं पमज्जइ, पमज्जित्ता दगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खित्ता, पम्हलसुकुमालगंध-कासाइयाए गायलट्ठी ओलूहेइ, ओलूहित्ता सेयाइं वत्थाइं परिहेइ, परिहित्ता महरिहं पुप्फारुहणं, मल्लारुहणं गन्धारुहणं, चुण्णारुहणं करेइ, करित्ता धूवं डहइ, डहित्ता जन्नुपायवडिया एवं वयइ—'जइ णं अहं देवाणुप्पिया ! दारयं दारियं वा पयामि तो णं जाव (अहं तुब्भं जायं च दायं च भायं च अक्खयनिहिं च अणुवड्ढिस्सामि' त्ति कट्टु ओवाइयं) ओवाइणइ, ओवाइणित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

१२—तब सागरदत्त सार्थवाह की आज्ञा प्राप्त कर वह गंगदत्ता भार्या विविध प्रकार के पुष्प, वस्त्र, गंध, माला एवं अलंकार तथा विविध प्रकार की पूजा की सामग्री लेकर, मित्र, ज्ञाति, स्वजन, सम्बन्धी एवं परिजनों की महिलाओं के साथ अपने घर से निकल और पाटलिखण्ड नगर के मध्य से होती हुई एक पुष्करिणी—बावड़ी के समीप जा पहुँची। वहाँ पुष्करिणी के किनारे पुष्पों, वस्त्रों, गन्धों, माल्यों तथा अलङ्कारों को रखकर उसने पुष्करिणी में प्रवेश किया। वहाँ जलमज्जन एवं जलक्रीडा कर कौतुक तथा मंगल प्रायश्चित्त (मांगलिक क्रियाओं) को करके गीली साड़ी पहने हुए वह पुष्करिणी से बाहर आई। बाहर आकर उक्त पुष्पादि पूजासामग्री को लेकर उम्बरदत्त यक्ष के यक्षायतन के पास पहुँची। उसने यक्ष-प्रतिमा पर नजर पड़ते ही यक्ष को नमस्कार किया। फिर लोमहस्तक-मयूरपिच्छ लेकर उसके द्वारा यक्षप्रतिमा का प्रमार्जन किया। फिर जलधारा से उस यक्ष-प्रतिमा का अभिषेक किया। तदनन्तर कषायरंग वाले—गेरु जैसे रंग से रंगे हुए सुगन्धित एवं सुकोमल वस्त्र से उसके अंगों को पोंछा। पोंछकर श्वेत वस्त्र पहनाया, पहिनाकर महार्ह (बड़ों के योग्य) पुष्पारोहण, वस्त्रारोहण, गन्धारोहण, माल्यारोहण और चूर्णारोहण किया। तदनन्तर धूप जलाई। धूप जलाकर यक्ष के सन्मुख घुटने टेककर पांव में पड़कर इस प्रकार निवेदन किया—'जो मैं एक जीवित बालक या बालिका को जन्म दूँ तो याग, दान एवं भण्डार की वृद्धि करूँगी।' इस प्रकार—यावत् याचना करती है अर्थात् मान्यता मनाती है। मान्यता मनाकर जिधर से आयी थी उधर लौट जाती है।

१३—तए णं से धन्नंतरी वेज्जे ताओ नरयाओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे पाडलिसंडे नयरे गंगदत्ताए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने।

तए णं तीसे गंगदत्ताए भारियाए तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूए—'धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाव[1] फले, जाओ णं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति, उवक्खडावेत्ता बहूहिं मित्त० जाव[2] परिवुडाओ तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च महुं च मेरगं च जाइं च सीधुं च पसण्णं च पुप्फ जाव (वत्थ-गंध-मल्लालंकारं गहाय पाडलिसंडं नयरं मज्झंमज्झेणं पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पुक्खरिणिं ओगाहेंति, ओगाहेत्ता ण्हायाओ कयबलिकम्माओ कयकोउयमंगलपायच्छित्ताओ, तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं बहूहिं मित्तनाइनियग० जाव सद्धिं आसाएंति, विसाएंति परिभाएंति परिभुंजंति दोहलं विणेंति' एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कल्लं जाव जलंते जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी—'धन्नाओ णं ताओ जाव विणेंति, तं इच्छामि णं जाव विणित्तए।' तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे गंगदत्ताए भारियाए एयमट्ठं अणुजाणाइ।

१३—तदनन्तर वह धन्वतरि वैद्य का जीव नरक से निकलकर इसी पाटलिखण्ड नगर में गंगदत्ता भार्या की कुक्षि में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ– गर्भ में आया। लगभग तीन मास पूर्ण हो जाने पर गंगदत्ता भार्या को यह दोहद—मनोरथ उत्पन्न हुआ।

'धन्य हैं वे माताएँ यावत् उन्होंने अपना जन्म और जीवन सफल किया है जो विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम और सुरा आदि मदिराओं को तैय्यार करवाती हैं और अनेक मित्र, ज्ञाति आदि की महिलाओं से परिवृत होकर पाटलिषण्ड नगर के मध्य में से निकलकर पुष्करिणी पर जाती हैं। वहाँ पुष्करिणी में प्रवेश कर जल स्नान व अशुभ-स्वप्न आदि के फल को विफल करने के लिये मस्तक पर तिलक व अन्य माङ्गलिक कार्य करके उस विपुल अशनादिक का मित्र, ज्ञातिजन आदि की महिलाओं के साथ आस्वादनादि करती हुई दोहद को पूर्ण करती हैं।'

इस तरह विचार करके प्रातःकाल जाज्वल्यमान सूर्य के उदित हो जाने पर जहाँ सागरदत्त सार्थवाह था, वहाँ पर आती है और आकर सागरदत्त सार्थवाह से इस प्रकार कहती है—'स्वामिन्! वे माताएँ धन्य हैं जो यावत् उक्त प्रकार से अपना दोहद पूर्ण करती हैं। मैं भी अपने दोहद को पूर्ण करना चाहती हूँ।'

सागरदत्त सार्थवाह भी दोहदपूर्ति के लिए गंगदत्ता भार्या को आज्ञा दे देता है।

१४—तए णं सा गंगदत्ता सागरदत्तेणं सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता तं विउलं असणं ४ सुरं च ६ सुबहुं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं परिगिण्हावेइ परिगिण्हावेत्ता बहूहिं जाव ण्हाया कयबलिकम्मा जेणेव उंबरदत्तस्स जक्खाययणे जाव धूवं डहेइ, डहेत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। तए णं ताओ मित्त० जाव महिलाओ गंगदत्तं सत्थवाहिं सव्वालंकारविभूसियं करेंति। तए णं सा गंगदत्ता भारिया ताहिं मित्तनाईहिं

१-२—सप्तम अ., सूत्र ११

अन्नाहिं बहूहिं नगरमहिलाहिं सद्धि तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च महुं च मेरगं च जाइं च सीधुं च पसण्णं च आसाएमाणे दोहलं विणेइ, विणेत्ता, जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। सा गंगदत्ता सत्थवाही संपुण्णदोहला तं गब्भं सुहंसुहेण परिवहइ।

१४—सागरदत्त सार्थवाह से आज्ञा प्राप्त कर गंगदत्ता पर्याप्त मात्रा में अशनादिक चतुर्विध आहार तैयार करवाती है और उपस्कृत आहार एवं छह प्रकार के मदिरादि पदार्थ तथा बहुत सी पुष्पादि पूजासामग्री को लेकर मित्र, ज्ञातिजन आदि की तथा अन्य महिलाओं को साथ लेकर यावत् स्नान तथा अशुभ स्वप्नादि के फल को विनष्ट करने के लिए मस्तक पर तिलक व अन्य माङ्गलिक अनुष्ठान करके उम्बरदत्त यक्ष के आयतन में आ जाती है। वहाँ पहिले की ही तरह पूजा करती व धूप जलाती है। तदन्तर पुष्करिणी—बावड़ी पर आ जाती है, वहाँ पर साथ में आने वाली मित्र, ज्ञाति आदि महिलाएं गंगदत्ता को सर्व अलङ्कारों से विभूषित करती हैं, तत्पश्चात् उन मित्रादि महिलाओं तथा अन्य महिलाओं के साथ उस विपुल अशनादिक तथा षड्विध सुरा आदि का आस्वादन करती हुई गंगदत्ता अपने दोहद—मनोरथ को परिपूर्ण करती है। इस तरह दोहद को पूर्ण कर वह वापिस अपने घर आ जाती है।

तदनन्तर सम्पूर्णदोहदा, सन्मानितदोहदा, विनीतदोहदा, व्युच्छिन्नदोहदा, सम्पन्नदोहदा वह गंगदत्ता उस गर्भ को सुखपूर्वक धारण करती है।

१५—तए णं सा गंगदत्ता भारिया नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं जाव दारगं पयाया। ठिइवडिया जाव नामधेज्जं करेंति—'जम्हा णं इमे दारए उंबरदत्तस्स जक्खस्स ओवाइयलद्धए, तं होउ णं दारए उंबरदत्ते नामेणं।' तए णं से उंबरदत्ते दारए पंचधाईपरिग्गहिए परिवड्ढइ।

१५—तत्पश्चात् नव मास परिपूर्ण हो जाने पर उस गंगदत्ता ने एक बालक को जन्म दिया। माता-पिता ने स्थितिपतिता—पुत्र जन्म सम्बन्धी उत्सव विशेष मनाया। फिर उसका नामकरण संस्कार किया, 'यह बालक क्योंकि उम्बरदत्त यक्ष की मान्यता मानने से जन्मा है, अतः इसका नाम भी 'उम्बरदत्त' ही हो। तदनन्तर उम्बरदत्त बालक पाँच धायमाताओं द्वारा गृहीत होकर वृद्धि को प्राप्त करने लगा।

१६—तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे जहा विजयमित्ते कालधम्मुणा संजुत्ते, गंगदत्ता वि। उंबरदत्ते निच्छूढे जहा उज्झियए। तए णं तस्स उंबरदत्तस्स दारगस्स अन्नया कयाइ सरीरगंसि जमगसमगमेव सोलस रोगायंका पाउब्भूया। तंजहा—सासे, कासे जाव[1] कोढे। तए णं से उंबरदत्ते दारए सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूए समाणे कच्छुल्ले जाव[2] देहं बलियाए विहिं कप्पेमाणे विहरइ। 'एवं खलु गोयमा! उंबरदत्ते दारए पुरापोराणाणं जाव पच्चणुभवमाणे विहरइ।'

१६—तदनन्तर सागरदत्त सार्थवाह भी विजयमित्र की ही तरह (समुद्र में जहाज के जल-निमग्न हो जाने से) कालधर्म को प्राप्त हुआ। गंगदत्ता भी (पतिवियोगजन्य असह्य दुःख से दुखी हुई) कालधर्म को प्राप्त हुई। इधर उम्बरदत्त को भी उज्झित कुमार की तरह राजपुरुषों ने घर से निकाल दिया। उसका घर किसी अन्य को सौंप दिया।

---

१. प्र. अ., सूत्र २. सप्तम अ., सूत्र ४

तत्पश्चात् किसी समय उम्बरदत्त के शरीर में एक ही साथ सोलह प्रकार के रोगातङ्क उत्पन्न हो गये, जैसे कि, श्वास, कास यावत् कोढ आदि। इन सोलह प्रकार के रोगातङ्कों से अभिभूत हुआ उम्बरदत्त खुजली यावत् हाथ आदि के सड़ जाने से दुःखपूर्ण जीवन बिता रहा है।

भगवान् कहते हैं—हे गौतम ! इस प्रकार उम्बरदत्त बालक अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मों का यह भयङ्कर फल भोगता हुआ इस तरह समय व्यतीत कर रहा है।

उंबरदत्त का भविष्य

१७—'से णं उंबरदत्ते दारए कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ ?

गोयमा ! उंबरदत्ते दारए बावत्तरिं वासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववज्जिहिइ। संसारो तहेव जाव पुढवी। तओ हत्थिणाउरे नयरे कुक्कुडत्ताए पच्चायाहिइ। जायमेत्ते चेव गोट्ठिल्लवहिए तत्थेव हत्थिणाउरे नयरे सेट्ठिकुलंसि उववज्जिहिइ। बोहिं, सोहम्मे कप्पे, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवो।

१७—तदनन्तर श्री गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से पूछा—अहो भगवन् ! यह उम्बरदत्त बालक मृत्यु के समय में काल करके कहाँ जायगा ? और कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! उम्बरदत्त बालक ७२ वर्ष का परम आयुष्य भोगकर कालमास में काल करके—मरण के समय मर कर इसी रत्नप्रभानाम प्रथम नरक में नारक रूप से उत्पन्न होगा। वह पूर्ववत् संसार भ्रमण करता हुआ पृथिवी आदि सभी कायों में लाखों बार उत्पन्न होगा। वहाँ से निकल कर हस्तिनापुर में कुर्कुट-कूकड़े के रूप में उत्पन्न होगा। वहां जन्म लेने के साथ ही गोष्ठिकों—दुराचारी मंडली के द्वारा वध को प्राप्त होगा। पुनः हस्तिनापुर में ही एक श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न होगा। वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा। वहाँ से मरकर सौधर्मनामक प्रथम कल्प में जन्म लेगा। वहाँ से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा। वहाँ अनगार धर्म को प्राप्त कर यथाविधि संयम की आराधना कर कर्मों का क्षय करके सिद्धि को प्राप्त होगा—सर्व कर्मों, दुःखों का अन्त करेगा।

निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये, अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर ने सप्तम अध्ययन का यह अर्थ कहा है।

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन

शौरिकदत्त

प्रस्तावना

१—'जइ णं भन्ते' अट्ठमस्स उक्खेवो—

१—अहो भगवन् ! अष्टम अध्ययन का श्रमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है ? इस प्रकार उत्क्षेप पूर्ववत् जान लेना चाहिये ।

२—एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सोरियपुरं नयरं होत्था, सोरियवडिंसगं उज्जाणं । सोरियो जक्खो । सोरियदत्ते राया ।

२—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में शौरिकपुर नाम का एक नगर था । वहाँ 'शौरिकावतंसक' नाम का एक उद्यान था । उसमें शौरिक नाम के यक्ष का यक्षायतन था । शौरिकदत्त नामक राजा वहाँ राज्य करता था ।

शौरिकदत्त का वर्त्तमान भव

३—तस्स णं सोरियपुरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए तत्थ णं एगे मच्छंधपाडए होत्था । तत्थ णं समुद्दवत्ते नामं मच्छंधे परिवसइ । अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे । तस्स णं समुद्दवत्तस्स समुद्दवत्ता नामं भारिया होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा । तस्स णं समुद्दवत्तस्स पुत्ते समुद्दवत्ताए भारियाए अत्तए सोरियवत्ते नामं दारए होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे ।

३—उस शौरिकपुर नगर के बाहर ईशान कोण में एक मच्छीमारों का पाटक—पाड़ा—मोहल्ला था । वहाँ समुद्रदत्त नामक मच्छीमार रहता था । वह महा-अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द था । उसकी समुद्रदत्ता नाम की अन्यून व निर्दोष पांचों इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीरवाली भार्या थी । उस समुद्रदत्त का पुत्र और समुद्रदत्ता भार्या का आत्मज शौरिकदत्त नामक सर्वाङ्गसम्पन्न सुन्दर बालक था ।

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे, जाव परिसा पडिगया ।

४—उस काल व उस समय में (शौरिकावतंसक उद्यान में) भगवान् महावीर पधारे । यावत् परिषद् व राजा धर्मकथा सुनकर वापिस चले गये ।

५—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे सीसे जाव सोरियपुरे नयरे उच्चनीयमज्झिमकुले अडमाणे अहापज्जत्तं समुदाणं गहाय सोरियपुराओ नयराओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता तस्स मच्छंधवाडगस्स अदूरसामंतेणं वीइवयमाणे महइमहालियाए मणुस्सपरिसाए मज्झगयं एगं पुरिसं सुक्कं भुक्खं निम्मंसं अट्ठिचम्मावणद्धं किडिकिडियाभूयं नीलसाडगनियत्थं मच्छ-कंटएणं गलए अणुलग्गेणं कट्ठाइं कलुणाइं विस्सराइं उक्कूवमाणं अभिक्खणं अभिक्खणं पूयकवले य रुहिरकवले य किमिकवले य वममाणं पासइ, पासित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए, कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने—'अहो णं इमे पुरिसे पुरापोराणाणं जाव विहरइ' एवं संपेहेइ, संपेहित्ता जेणेव भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। पुव्वभवपुच्छा जाव वागरणं।

५—उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ शिष्य गौतम स्वामी यावत् षष्ठभक्त के पारणे के अवसर पर शौरिकपुर नगर में उच्च, नीच तथा मध्यम—सामान्य घरों में भ्रमण करते हुए यथेष्ट आहार लेकर शौरिकपुर नगर से बाहर निकलते हैं। निकल कर उस मच्छीमार मुहल्ले के पास से जाते हुए उन्होंने विशाल जनसमुदाय के बीच एक सूखे, बुभुक्षित (भूखे), मांसरहित व अतिकृश होने के कारण जिसका चमड़ा हड्डियों से चिपटा हुआ है, उठते, बैठते वक्त जिसकी हड्डियां किटिकिटिका—कड़कड़—शब्द कर रही हैं, जो नीला वस्त्र पहने हुए है एवं गले में मत्स्य-कण्टक लगा होने के कारण कष्टात्मक, करुणाजनक एवं दीनतापूर्ण आक्रन्दन कर रहा है, ऐसे पुरुष को देखा। वह खून के कुल्लों, पीव के कुल्लों और कीड़ों के कुल्लों का बारंबार वमन कर रहा था। उसे देख कर गौतम स्वामी के मन में यह संकल्प उत्पन्न हुआ,—अहा! यह पुरुष पूर्वकृत यावत् अशुभकर्मों के फलस्वरूप नरकतुल्य वेदना का अनुभव करता हुआ समय बिता रहा है! इस तरह विचार कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास पहुंचे यावत् भगवान् से उसके पूर्वभव की पृच्छा की। भगवान् महावीर उत्तर में इस तरह फरमाते हैं—

पूर्वभव-कथा

६—एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे नंदिपुरे नामं नयरे होत्था। मित्ते राया। तस्स णं मित्तस्स रन्नो सिरीए नामं महाणसिए होत्था, अहम्मिए जाव[1] दुप्पडियाणंदे।

६—हे गौतम! उस काल एवं उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत-वर्ष में नन्दिपुर नाम का प्रसिद्ध नगर था। वहाँ मित्र राजा राज्य करता था। उस मित्र राजा के श्रीद या श्रीयक नाम का एक रसोइया था। वह महाअधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द—कठिनाई से प्रसन्न किया जा सकने वाला था।

७—तस्स णं सिरीयस्स महाणसियस्स बहवे मच्छिया य वागुरिया य साउणिया य दिन्न-भइभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं बहवे सण्हमच्छा य जाव[2] पडागाइपडागे य, अए य जाव[3] महिसे य, तित्तिरे य जाव[4] मऊरे य जीवियाओ ववरोवेंति, ववरोवेत्ता सिरीयस्स महाणसियस्स उवणेंति।

१. तृतीय अ०, सूत्र ४. २. प्रज्ञापना पद १. ३. सप्तम अ., सूत्र ९. ४. सप्तम अ., सूत्र ९.

अन्ने य से बहवे तित्तिरा य जाव मऊरा य पंजरंसि संनिरुद्धा चिट्ठंति । अन्ने य बहवे पुरिसा दिन्न-भइभत्तवेयणा ते बहवे तित्तिरे य जाव मऊरे य जीवंतए चेव निप्पक्खेंति, निप्पक्खेत्ता सिरीयस्स महाणसियस्स उवणेंति ।

७--उसके रुपये, पैसे और भोजनादि रूप से वेतन ग्रहण करनेवाले अनेक मात्स्यिक—मच्छीमार, वागुरिक—जालों से जीवों को पकड़ने वाले व्याध, शाकुनिक—पक्षिघातक नौकर पुरुष थे; जो श्लक्ष्णमत्स्यों—कोमल चर्मवाली मछलियों यावत् पताकातिपताकों--मत्स्यविशेषों, तथा अजों (बकरों) यावत् महिषों एवं तित्तिरों यावत् मयूरो का वध करके श्रीद रसोइये को देते थे। अन्य बहुत से तित्तिर यावत् मयूर आदि पक्षी उसके यहाँ पिंजरों में बन्द किये हुए रहते थे। श्रीद रसोइया के अन्य अनेक रुपया, पैसा, भोजनादि के रूप मे वेतन लेकर काम करने वाले पुरुष अनेक जीते हुए तित्तरों यावत् मयूरों को पक्ष रहित करके (पंख उखाड़ करके) उसे लाकर दिया करते थे।

८—तए णं से सिरीए महाणसिए बहूणं जलयर-थलयर-खहयराणं मंसाइं कप्पणिकप्पियाइं करेइ, तं जहा—सण्हखंडियाणि य वट्टखंडियाणि य दीहखंडियाणि य रहस्सखंडियाणि य हिमपक्काणि य जम्मपक्काणि य वेगपक्काणि घम्मपक्काणि य मारुयपक्काणि य कालाणि य हेरंगाणि य महिट्ठाणि य आमलरसियाणि य मुद्दियारसियाणि य कविट्ठरसियाणि य दालिमरसियाणि य मच्छरसियाणि य तलियाणि य भज्जियाणि य सोल्लियाणि य उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता अन्ने य बहवे मच्छरसए य एणेज्जरसए य तित्तिररसए य जाव मयूररसए य, अन्नं च विउलं हरियसागं उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता मित्तस्स रन्नो भोयणमंडवंसि भोयणवेलाए उवणेति । अप्पणा वि य णं से सिरीए महाणसिए तेसिं च बहूहिं जाव जलयर-थलयर-खहयरमंसेहिं रसएहि य हरियसागेहि य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च महुं च मेरगं च जाइं च सीधुं च आसाएमाणे वीसाएमाणे परिभाए-माणे परिभुंजेमाणे विहरइ । तए णं से सिरीए महाणसिए एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता तेत्तीसं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उववन्ने ।

८—तदनन्तर वह श्रीद नामक रसोइया अनेक जलचर स्थलचर व खेचर जीवों के मांसों को लेकर सूक्ष्म खण्ड, वृत्त (गोल) खण्ड, दीर्घ (लम्बे) खण्ड, तथा ह्रस्व (छोटे, छोटे) खण्ड किया करता था। उन खण्डों में से कई एक को बर्फ से पकाता था, कई एक को अलग रख देता जिससे वे खण्ड स्वत: ही पक जाते थे, कई एक को धूप की गर्मी से व कई एक को हवा के द्वारा पकाता था। कई एक को कृष्ण वर्ण वाले तो कई एक को हिंगुल के जैसे लाल वर्ण वाले किया करता था। वह उन खण्डों को तक्र—छाछ से संस्कारित, आमलक—आंवले से रस से भावित, द्राक्षारस, कपित्थ तथा अनार के रस से भी संस्कारित करता था एवं मत्स्यरसों से भी भावित किया करता था। तदनन्तर उन मांसखण्डों में से कई एक को तेल से तलता, कई एक को आग पर भूनता तथा कई एक को शूला-प्रोत—शूल में पिरोकर पकाता था।

इसी प्रकार मत्स्यमांसों के रसों को, मृगमांसों के रसों को, तित्तिरमांसों के रसों को यावत् मयूरमांसों के रसों को तथा अन्य बहुत से हरे शाकों को तैयार करता था, तैयार करके राजा मित्र के भोजनमंडप में लेजाकर भोजन के समय उन्हें प्रस्तुत करता था। श्रीद रसोइया स्वयं भी अनेक

जलचर, स्थलचर एवं खेचर जीवों के मांसों, रसों व हरे शाकों के साथ, जो कि शूलपक्व होते, तले हुए होते, भूने हुए होते थे, छह प्रकार की सुरा आदि का आस्वादनादि करता हुआ काल यापन कर रहा था।

तदनन्तर इन्हीं कर्मों को करनेवाला, इन्हीं कर्मों में प्रधानता रखने वाला, इन्ही का विज्ञान रखनेवाला, तथा इन्हीं पापों को सर्वोत्तम आचरण मानने वाला वह श्रीद रसोइया अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन कर ३३ सौ वर्ष की परम आयु का भोग कर कालमास में काल करके छट्ठे नरक में उत्पन्न हुआ।

९—तए णं सा समुद्ददत्ता भारिया जायनिंदूयावि होत्था। जाया जाया दारगा विणिहायमावज्जंति। जहा गंगदत्ताए चिन्ता, आपुच्छणा, ओवाइयं दोहला जाव[1] दारगं पयाया, जाव 'जम्हा णं अम्हे इमे दारए सोरियस्स जक्खस्स ओवाइयलद्धे, तम्हा णं होउ अम्हं दारए सोरियदत्ते नामेणं। तए णं से सोरियदत्ते दारए पंचधाई जाव उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते यावि होत्था।

९—उस समय वह समुद्रदत्ता भार्या—मृतवत्सा थी। उसके बालक जन्म लेने के साथ ही मर जाया करते थे। उसने गंगदत्ता की ही तरह विचार किया, पति की आज्ञा लेकर, मान्यता मनाई और गर्भवती हुई। दोहद की पूर्ति कर समुद्रदत्त बालक को जन्म दिया। 'शौरिक यक्ष की मनौती मनाने के कारण हमें यह बालक उपलब्ध हुआ है' ऐसा कहकर माता पिता ने उसका नाम 'शौरिकदत्त' रक्खा। तदनन्तर पांच धायमाताओं से परिगृहीत, बाल्यावस्था को त्यागकर विज्ञान की परिपक्व अवस्था से सम्पन्न हो वह शौरिकदत्त युवावस्था को प्राप्त हुआ।

१०—तए णं से समुद्ददत्ते अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते। तए णं से सोरियदत्ते बहूहिं मित्त-नाइ रोयमाणे समुद्ददत्तस्स नीहरणं करेइ, लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ। अन्नया कयाइ सयमेव मच्छंधमहत्तरगत्तं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। तए णं से सोरियदारए मच्छंधे जाए, अहम्मिए जाव[2] दुप्पडियाणंदे।

१०—तदनन्तर किसी समय समुद्रदत्त कालधर्म को प्राप्त हो गया। रुदन आक्रन्दन व विलाप करते हुए शौरिकदत्त बालक ने अनेक मित्र-ज्ञाति-स्वजन परिजनों के साथ समुद्रदत्त का निस्सरण किया, दाहकर्म व अन्य लौकिक क्रियाएं की। तत्पश्चात् किसी समय वह स्वयं ही मच्छीमारों का मुखिया बन कर रहने लगा। अब वह मच्छीमार हो गया जो महा अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द—अति कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था।

११—तए णं तस्स सोरियदत्तस्स मच्छंधस्स बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं एगट्ठियाहिं जउणं महाणइं ओगाहेंति, ओगाहित्ता बहूहिं दहगालणेहि य दहमलणेहि य दहमद्दणेहि य दहमहणेहि य दहवहणेहि य दहपवहणेहि य अयंपुलेहि य पंचपुलेहि य मच्छंधलेहि य मच्छपुच्छेहि य जंभाहि य तिसिराहि य भिसिराहि य धिसराहि य विसराहि य हिल्लिरीहि य झिल्लिरीहि य

---

१. देखिए सप्तम अध्ययन

२. तृतीय. अ., सूत्र-४

लल्लिरीहि य जालेहि य गलेहि य कूडपासेहि य वक्कबंधेहि य सुत्तबन्धणेहि य वालबन्धणेहि य बहवे सण्हमच्छे जाव[1] पडागाइपडागे य गिण्हंति। गेण्हित्ता एगट्ठियाओ भरेंति, भरित्ता कूलं गाहेंति, गाहित्ता मच्छखलए करेंति, करित्ता आयवंसि दलयंति। अन्ने य से बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा आयवतत्तएहि मच्छेहि सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य रायमग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। अप्पणा वि य णं से सोरियदत्ते बहूहि सण्हमच्छेहि जाव[2] पडागाइपडागेहि य सोल्लेहि य भज्जिएहि य तलिएहि य सुरं च महुं च मेरगं च जाइं च सीधुं च पसण्णं च आसाएमाणे वीसाएमाणे परिभाएमाणे परिभुंजेमाणे विहरइ।

११—तदनन्तर शौरिकदत्त मच्छीमार ने रुपये, पैसे और भोजनादि का वेतन लेकर काम करने वाले अनेक वेतनभोगी पुरुष रक्खे, जो छोटी नौकाओं के द्वारा यमुना महानदी में प्रवेश करते—घूमते, ह्रद-गलन ह्रद-मलन, ह्रदमर्दन, ह्रद-मन्थन, ह्रदवहन, ह्रद-प्रवहन (ह्रद-जलाशय या झील का नाम है, उसमें मछली आदि जीवों को पकड़ने के लिये भ्रमण करना, सरोवर में से जल को निकालना या थूहर आदि के दूध को डालकर जल को दूषित करना, जल का विलोडन करना कि जिससे भयभीत व स्थानभ्रष्ट मत्स्यादि सरलता से पकड़े जा सकें) से, तथा प्रपंचुल, प्रपंपुल, मत्स्यपुच्छ, जृम्भा, त्रिसरा, भिसरा, विसरा, द्विसरा, हिल्लिरि, झिल्लिरि, लल्लिरि, जाल, गल, कूटपाश, वल्कबन्ध, सूत्रबन्ध और बालबन्ध (ये सब मत्स्यादिकों को पकड़ने के विविध साधन-विशेषों के विशिष्ट नाम हैं) साधनों के द्वारा कोमल मत्स्यों यावत् पताकातिपताक मत्स्य विशेषों को पकड़ते, पकड़कर उनसे नौकाएं भरते हैं। भरकर नदी के किनारे पर लाते हैं, लाकर बाहर एक स्थल पर ढेर लगा देते हैं। तत्पश्चात् उनको वहाँ धूप में सूखने के लिये रख देते हैं।

इसी प्रकार उसके अन्य रुपये, पैसे और भोजनादि लेकर काम करने वाले वेतनभोगी पुरुष धूप से सूखे हुए उन मत्स्यों के माँसों को शूलाप्रोत कर पकाते, तलते और भूनते तथा उन्हें राजमार्गों में विक्रयार्थ रखकर आजीविका करते हुए समय व्यतीत कर रहे थे। शौरिकदत्त स्वयं भी उन शूलाप्रोत किये हुए, भुने हुए और तले हुए मत्स्यमांसों के साथ विविध प्रकार की सुरा सीधु आदि मदिराओं का सेवन करता हुआ जीवन यापन कर रहा था।

१२—तए णं तस्स सोरियदत्तस्स मच्छंधस्स अन्नया कयाइ ते मच्छसोल्ले य तलिए य भज्जिए य आहारेमाणस्स मच्छकंटए गलए लग्गे यावि होत्था। तए णं से सोरियदत्ते मच्छंधे महयाए वेयणाए अभिभूए समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! सोरियपुरे नयरे सिंघाडग जाव पहेसु य महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा एवं वयह—'एवं खलु देवाणुप्पिया! सोरियदत्तस्स मच्छकंटए गले लग्गे। तं जो णं इच्छइ वेज्जो वा वेज्जपुत्तो वा जाणुओ वा जाणुयपुत्तो वा तेगिच्छिओ तेगिच्छियपुत्तो वा सोरियमच्छियस्स मच्छकंटयं गलाओ नीहरित्तए, तस्स णं सोरियदत्ते विउलं अत्थसंपयाणं दलयइ।' तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव उग्घोसेंति।

१२—तदनन्तर किसी अन्य समय शूल द्वारा पकाये गये, तले गए व भूने गये मत्स्य मांसों का आहार करते समय उस शौरिकदत्त मच्छीमार के गले में मच्छी का कांटा फँस गया। इसके कारण वह महती असाध्य वेदना का अनुभव करने लगा। अत्यन्त दुखी हुये शौरिक ने अपने कौटुम्बिक

१-२. प्रज्ञापनासूत्र, पद १.

पुरुषों को बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! शौरिकपुर नगर के त्रिकोण मार्गों व यावत् सामान्य मार्गों पर जाकर ऊँचे शब्दों से इस प्रकार घोषणा करो कि—हे देवानुप्रियो ! शौरिकदत्त के गले में मत्स्य का कांटा फंस गया है, यदि कोई वैद्य या वैद्यपुत्र जानकार या जानकार का पुत्र, चिकित्सक या चिकित्सक-पुत्र उस मत्स्य-कंटक को निकाल देगा तो, शौरिकदत्त उसे बहुत सा धन देगा।" कौटुम्बिक पुरुषों-अनुचरों ने उसकी आज्ञानुसार सारे नगर में उद्घोषणा कर दी।

१३—तए णं ते बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणुया य जाणुपुत्ता य तेगिच्छिया य तेगिच्छिय-पुत्ता य इमेयारूवं उग्घोसणं उग्घोसिज्जमाणं निसामेंति, निसामित्ता जेणेव सोरियदत्तस्स गेहे, जेणेव सोरियमच्छंधे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता बहूहिं उप्पत्तियाहि य वेणइयाहि य कम्मियाहि य पारिणामियाहि य बुद्धीहिं परिणामेमाणा परिणामेमाणा वमणेहि य छड्डणेहि य, ओवीलणेहि य कवल-ग्गाहेहि य सल्लुद्धरणे हि विसल्लकरणेहि य इच्छंति सोरियमच्छंधस्स मच्छकंटयं गलाओ नीहरित्तए। नो चेव णं संचाएंति नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा। तए णं ते बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणुया या जाणुयपुत्ता य तेगिच्छिया य तेगिच्छियपुत्ता य जाहे नो संचाएंति सोरियस्स मच्छकंटगं गलाओ नीहरित्तए, ताहे संता जाव (तंता परितंता) जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

तए णं से सोरियदत्ते मच्छंधे वेज्जपडियारनिव्विण्णे तेणं महया दुक्खेणं अभिभूए समाणे सुक्के जाव (भुक्खे जाव किमियकवले य वममाणे) विहरइ। एवं खलु गोयमा ! सोरिए पुरापोराणाणं जाव विहरइ।

१३—उसके बाद बहुत से वैद्य, वैद्यपुत्र आदि उपर्युक्त उद्घोषणा को सुनते हैं और सुनकर शौरिकदत्त का जहाँ घर था और शौरिक मच्छीमार जहाँ था वहाँ पर आते हैं। आकर बहुत सी औत्पत्तिकी बुद्धि (स्वाभाविक प्रतिभा), वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी बुद्धियों से सम्यक् परिणमन करते (निदानादि को समझते हुए) वमनों, छर्दनों (वमन-विशेषों) अवपीड़नों (दबाने) कवलग्राहों (मुख की मालिश करने के लिए दाढों के नीचे लकड़ी का टुकड़ा रखना) शल्योद्धारों (यन्त्र प्रयोग से काटों को निकालना) विशल्य-करणों (औषध के बल से कांटा निकालना) आदि उपचारों से शौरिकदत्त के गले के कांटों को निकालने का तथा पीव को बन्द करने का भरसक प्रयत्न करते हैं परन्तु उसमें वे सफल न हो सके अर्थात् उनसे शौरिकदत्त के गले का कांटा निकाला नहीं जा सका और न पीव व रुधिर बन्द हो सका। तब श्रान्त, तान्त, परितान्त हो अर्थात् निराश व उदास होकर वापिस अपने अपने स्थान पर चले गये।

इस तरह वैद्यों के इलाज से निराश हुआ शौरिकदत्त उस महती वेदना को भोगता हुआ सूखकर यावत् अस्थिपिञ्जर मात्र शेष रह गया। वह दुःखपूर्वक समय बिता रहा है।

भगवान् फरमाते हैं कि हे गौतम ! इस प्रकार वह शौरिकदत्त अपने पूर्वकृत अत्यन्त अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है।

शौरिकदत्त का भविष्य

१४—'सोरिए णं, भंते ! मच्छंधे इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?'

गोयमा ! सत्तरिवासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए। संसारो तहेव, जाव पुढवीए। तओ हत्थिणाउरे नयरे मच्छत्ताए उववज्जिहिइ। से णं तओ मच्छिएहिं जीवियाओ ववरोविए तत्थेव सेट्ठिकुलंसि उववज्जिहिइ, बोही, सोहम्मे कप्पे, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवो।

१५—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—अहो भगवन् ! शौरिकदत्त मत्स्यबन्ध-मच्छीमार यहाँ से कालमास में काल करके कहाँ जायगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! ७० वर्ष की परम आयु को भोगकर कालमास में काल करने रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में उत्पन्न होगा। उसका अवशिष्ट संसार-भ्रमण पूर्ववत् ही समझ लेना चाहिये यावत् पृथ्वीकाय आदि में लाखों बार उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर हस्तिनापुर में मत्स्य होगा। वहाँ मच्छीमारों के द्वारा वध को प्राप्त होकर वहीं हस्तिनापुर में एक श्रेष्ठिकुल में जन्म लेगा। वहाँ सम्यक्त्व की उसे प्राप्ति होगी। वहाँ से मरकर सौधर्म देवलोक में देव होगा। वहाँ से चय कर महाविदेह क्षेत्र में जन्मेगा, चारित्र ग्रहण कर उसके सम्यक् आराधन से सिद्ध पद को प्राप्त करेगा।

निक्षेप—उपसंहार पूर्ववत् समझ लेना चाहिये।

॥ अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

नवम अध्ययन

देवदत्ता

उत्क्षेप

१—'जइ णं भंते !' उक्खेवो नवमस्स ।

१—'यदि भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने अष्टम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा है तो नवम अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?' इस प्रकार जम्बू स्वामी द्वारा प्रश्न करने पर सुधर्मा स्वामी ने इस प्रकार उत्तर दिया, इस तरह नवम अध्ययन का उत्क्षेप जान लेना चाहिए ।

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रोहीडए[1] नामं नयरे होत्था, रिद्धत्थमिय-समिद्धे ! पुढविवडिंसए उज्जाणे । धरणे जक्खे । वेसमणदत्तोराया । सिरीदेवी । पूसनंदी कुमारे जुवराया ।

२—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में रोहीतक नाम का नगर था । वह ऋद्ध, स्तिमित तथा समृद्ध था । पृथिवी-अवतंसक नामक वहां उद्यान था । उसमें धारण नामक यक्ष का यक्षायतन था । वहाँ वैश्रमणदत्त नाम का राजा राज्य करता था । उसके श्रीदेवी नामक रानी थी । युवराज पद से अलंकृत पुष्पनंदी नामक कुमार था ।

३—तत्थ णं रोहीडए नयरे दत्ते नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे । कण्हसिरीभारिया । तस्स णं दत्तस्स धूया कण्हसिरीए अत्तया देवदत्ता नामं दारिया होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा ।

३—उस रोहीतक नगर में दत्त नाम का एक गाथापति रहता था । वह बड़ा धनी यावत् सम्माननीय था । उसके कृष्णश्री नाम की भार्या थी । उस दत्त गाथापति की दुहिता—पुत्री तथा कृष्णश्री की आत्मजा देवदत्ता नाम की बालिका—कन्या थी; जो अन्यून एवं निर्दोष इन्द्रियों से युक्त सुन्दर शरीरवाली थी ।

वर्त्तमान भव

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे; जाव परिसा निग्गया ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे अंतेवासी छट्ठक्खमणपारणगंसि तहेव जाव रायमग्गमोगाढे । हत्थी आसे पुरिसे पासइ । तेसिं पुरिसाणं मज्झगयं पासइ एगं इत्थियं उक्खित्तकण्णनासं नेहतुप्पियगत्तं वज्झकर-कडिजुयनियच्छं कंठे गुणरत्तमल्लदामं चुण्णगुंडियगातं चुण्णयं वज्झपाणपीयं, जाव सूले

---

[1]. पाठान्तर—राहीडए ।

भिक्खमाणं पासइ, पासित्ता इमे अज्झत्थिए जाव समुप्पन्ने, तहेव निग्गए, जाव एवं वयासी—'एसा णं भंते ! इत्थिया पुव्वभवे का आसी ?'

४—उस काल उस समय में वहाँ (पृथ्वी अवतंसक उद्यान में) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे यावत् उनकी धर्मदेशना सुनकर राजा व परिषद् वापिस चले गये।

उस काल, उस समय भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य गौतम स्वामी षष्ठक्षमण—बेले के पारणे के निमित्त भिक्षार्थ नगर में गये यावत् (भिक्षा ग्रहण करके लौटते हुए) राजमार्ग में पधारे। वहाँ पर वे हस्तियों, अश्वों और पुरुषों को देखते हैं, और उन सबके बीच उन्होंने अवकोटक बन्धन से बंधी हुई, कटे हुए कर्ण तथा नाकवाली (जिसके शरीर पर चिकनाई पोती है, जिसे हाथों और कटिप्रदेश में वध्य पुरुष के योग्य वस्त्र पहिनाए गए हैं, हाथों में हथकड़ियां हैं, गले में लाल फूलों की माला पहिनाई गयी है, गेरू के चूर्ण से जिसका शरीर पोता गया है) ऐसी सूली पर भेदी जाने वाली एक स्त्री को देखा और देखकर उनके मन में यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि यह नरकतुल्य वेदना भोग रही है। यावत् पूर्ववत् भिक्षा लेकर नगर से निकले और भगवान् के पास आकर इस प्रकार निवेदन करने लगे कि—भदन्त ! यह स्त्री पूर्वभव में कौन थी ?

पूर्वभव

५—एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे सुपइट्ठे नामं नयरे होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धे। महासेणे राया। तस्स णं महासेणस्स रन्नो धारिणीपामोक्खाणं देवी-सहस्सं ओरोहे यावि होत्था। तस्स णं महासेणस्स रन्नो पुत्तो धारिणीए देवीए अत्तए सीहसेणे नामं कुमारे होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे, जुवाराया।

५—हे गौतम ! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीपनामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष मे सुप्रतिष्ठ नाम का एक ऋद्ध, स्तिमित व समृद्ध नगर था। वहाँ पर महासेन राजा राज्य करते थे। उसके अन्तःपुर में धारिणी आदि एक हजार रानियाँ थीं। महाराज महासेन का पुत्र और महारानी धारिणी का आत्मज सिंहसेननामक राजकुमार था जो अन्यून पांचों निर्दोष इन्द्रियों वाला व युवराज पद से अलंकृत था।

६—तए णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अम्मापियरो अन्नया कयाइ पंच पासायवडिंसयसयाइं करेंति, अब्भुग्गयमूसियाइं। तए णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अम्मापियरो अन्नया कयाइ सामापा-मोक्खाणं पंचण्हं रायवरकन्नगसयाणं एगदिवसे पाणिं गिण्हाविंसु। पंचसयओ दाओ। तए णं से सीहसेणे कुमारे सामापमोक्खाहिं पंचसयाहिं देवीहिं सद्धिं उप्पिं जाव[1] विहरइ।

६—तदनन्तर उस सिंहसेन राजकुमार के माता-पिता ने एक बार किसी समय पांच सौ सुविशाल प्रासादावतंसक (श्रेष्ठ महल) बनवाये। तत्पश्चात् किसी अन्य समय उन्होंने सिंहसेन राजकुमार का श्यामा आदि पांच सौ सुन्दर राजकन्याओं के साथ एक दिन में विवाह कर दिया।

---

१. ज्ञाताधर्मकथा अ० १

पांच सौ-पांच सौ वस्तुओं का प्रीतिदान—दहेज दिया। तदनन्तर राजकुमार सिंहसेन श्यामाप्रमुख उन पांच सौ राजकन्याओं के साथ प्रासादो में रमण करता हुआ सानन्द समय व्यतीत करने लगा।

७—तए णं से महासेणे राया अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते। नीहरणं। राया जाए।

७—तत्पश्चात् किसी समय राजा महासेन कालधर्म को प्राप्त हुए। (आक्रन्दन, रुदन, विलाप करते हुए) राजकुमार सिंहसेन ने निःसरण (शवयात्रा निकाली) तत्पश्चात् राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर राजा बन गया।

८—तए णं से सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अवसेसाओ देवीओ नो आढाइ, नो परिजाणाइ। अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे विहरइ।

तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं, देवीसयाणं एगूणाइं पञ्चमाईसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणाइं 'एवं खलु सीहसेणे राया सामाएदेवीए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अम्हं धूयाओ नो आढाइ, नो परिजाणाइ, अणाढायमाणे, अपरिजाणमाणे विहरइ। तं सेयं खलु अम्हं सामं देविं अग्गिप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा, सत्थप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए, एवं संपेहेंति, संपेहित्ता सामाए देवीए अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणीओ विहरन्ति।

८—तदनन्तर महाराजा सिंहसेन श्यामादेवी में मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित व अध्युपपन्न होकर अन्य देवियों का न आदर करता है और न उनका ध्यान ही रखता है। इसके विपरीत उनका अनादर व विस्मरण करके सानंद समय यापन कर रहा है।

तत्पश्चात् उन एक कम पाच सौ देवियों—रानियों की एक कम पाच सो माताओ को जब इस वृत्तान्त का पता लगा कि—'राजा सिंहसेन श्यामादेवी मे मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित व अध्युपपन्न होकर हमारी कन्याओं का न तो आदर करता और न ध्यान ही रखता है, अपितु उनका अनादर व विस्मरण करता है; तब उन्होंने मिलकर निश्चय किया कि हमारे लिये यही उचित है कि हम श्यामादेवी को अग्नि के प्रयोग से, विष के प्रयोग से अथवा शस्त्र के प्रयोग से जीवन रहित कर (मार) डालें। इस तरह विचार करती हैं और विचार करने के अनंतर अन्तर (जब राजा का आगमन न हो) छिद्र (राजा के परिवार का कोई व्यक्ति न हो) की प्रतीक्षा करती हुई समय बिताने लगीं।

९—तए णं सा सामादेवी इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी एवं वयासी—'एवं खलु, सामी! एगूणगाणं पंचण्हं सवत्तीसयाणं एगूणगाइं पंचमाइसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणाइं अन्नमन्नं एवं वयासी—'एवं खलु, सीहसेणे—जाव पडिजागरमाणीओ विहरन्ति। तं न नज्जइ णं मम केणइ कुमारेण मारिस्संति, त्तिकट्टु भीया तत्था तसिया उव्विगा संजायभया जाव जेणेव कोवघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ओहयमणसंकप्पा जाव झियाइ।

९—इधर श्यामादेवी को भी इस षड्यन्त्र का पता लग गया। जब उसे यह वृत्तान्त विदित हुआ तब वह इस प्रकार विचार करने लगी—मेरी एक कम पाच सौ सपत्नियों (सौतों) की एक कम पांच सौ माताएं—'महाराजा सिंहसेन श्यामा में अत्यन्त आसक्त होकर हमारी पुत्रियों

का आदर नहीं करते, यह जानकर एकत्रित हुई और 'अग्नि, शस्त्र या विष के प्रयोग से श्यामा के जीवन का अन्त कर देना ही हमारे लिए श्रेष्ठ है' ऐसा विचार कर वे अवसर की खोज में हैं। जब ऐसा है तो न जाने वे किस कुमौत से मुझे मारें ? ऐसा विचार कर वह श्यामा भीत, त्रस्त, उद्विग्न व भयभीत हो उठी और जहाँ कोपभवन था वहाँ आई। आकर मानसिक संकल्पों के विफल रहने से मन में निराश होकर आर्त्त ध्यान करने लगी।

१०—तए णं से सीहसेणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कोवघरए, जेणेव सामा देवी, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता सामं देविं ओहयमणसंकप्पं जाव पासइ, पासित्ता एवं वयासी—"किं णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहयमणसंकप्पा जाव झियासि ?"

तए णं सा सामा देवी सीहसेणेण रन्ना एवं वुत्ता समाणी उप्फेणउप्फेणियं सीहसेणं रायं एवं वयासी—'एवं खलु सामी ! मम एगूणपंचसवत्तिसयाणं एगूण—पंचमाइसयाणं इमीसे कहाए लद्धट्ठाणं समाणाणं अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु सीहसेणे राया सामाए देवीए उवरिं मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अम्हं धूयाओ नो आढाइ, नो परिजाणइ, अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे विहरइ, तं सेयं खलु, अम्हं सामं देविं अग्गिप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए।' एवं संपेहेंति, संपेहित्ता मम अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणीओ विहरंति। तं न नज्जइ णं सामी ! ममं केणइ कुमारेण मारिस्संति त्ति कट्टु भीया जाव झियामि।

१०—तदनन्तर सिंहसेन राजा इस वृत्तान्त से अवगत हुआ और जहाँ कोपगृह था और जहां श्यामादेवी थी वहाँ पर आया। आकर जिसके मानसिक संकल्प विफल हो गये हैं, जो निराश व चिन्तित हो रही है, ऐसी निस्तेज श्यामादेवी को देखकर कहा—हे देवानुप्रिये ! तू क्यों इस तरह अपहृतमन:संकल्पा होकर चिन्तित हो रही है ?

सिंहसेन राजा के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर दूध के उफान के समान क्रुद्ध हुई अर्थात् क्रोधयुक्त प्रबल वचनों से सिंह राजा के प्रति इस प्रकार बोली—

हे स्वामिन् ! मेरी एक कम पांच सौ सपत्नियों (सौतों) की एक कम पांच सौ माताएं इस वृत्तान्त को (कि आप मुझमें अनुरक्त हैं) जानकर इकट्ठी होकर एक दूसरे को इस प्रकार कहने लगी—महाराज सिंहसेन श्यामादेवी में अत्यन्त आसक्त, गृद्ध, ग्रथित व अध्युपपन्न हुए हमारी कन्याओं का आदर सत्कार नहीं करते हैं। उनका ध्यान भी नहीं रखते हैं; प्रत्युत उनका अनादर व विस्मरण करते हुए समय-यापन कर रहे हैं; इसलिये अब हमारे लिये यही समुचित है कि अग्नि, विष या किसी शस्त्र के प्रयोग से श्यामा का अन्त कर डालें। तदनुसार वे मेरे अन्तर, छिद्र और विवर की प्रतीक्षा करती हुई अवसर देख रही हैं। न जाने मुझे किस कुमौत से मारें ! इस कारण भयाक्रान्त हुई मैं कोपभवन में आकर आर्त्तध्यान कर रही हूँ।

११—तए णं से सीहसेणे सामं देविं एवं वयासी—'मा णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहयमणसंकप्पा जाव झियाहि। अहं णं तहा जत्तिहामि जहा णं तव नत्थि कत्तो वि सरीरस्स आबाहे पबाहे वा भविस्सइ' त्ति कट्टु ताहिं इट्ठाहिं जाव (कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं वग्गूहिं) समासासेइ।

समासासित्ता तओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे, देवाणुप्पिया ! सुपइट्ठस्स नयरस्स बहिया एगं महं कूडागारसालं करेह, अणेगखंभसयसंनिविट्ठं जाव पासादीयं करेह, ममं एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह ।'

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा करयल जाव पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता सुपइट्ठनयरस्स बहिया पच्चत्थिमे दिसीविभाए एगं महं कूडागार-सालं जाव करेंति अणेगखंभसयसंनिविट्ठं जाव पासाइयं, जेणेव सीहसेणे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति ।

११—तदनन्तर महाराजा सिंहसेन ने श्यामादेवी से इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रिये ! तू इस प्रकार अपहृत मन वाली—हतोत्साह होकर आर्तध्यान मत कर। निश्चय ही मैं ऐसा उपाय करूंगा कि तुम्हारे शरीर को कहीं से भी किसी प्रकार आबाधा—ईषत् पीड़ा तथा प्रबाधा—विशेष बाधा न होने पाएगी। इस प्रकार श्यामा देवी को इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोहर वचनों से आश्वासन देता है और आश्वासन देकर वहां से निकल जाता है। निकलकर कौटुम्बिक-अनुचर पुरुषों को बुलाता है और उनसे कहता है—तुम लोग जाओ और जाकर सुप्रतिष्ठित नगर से बाहर पश्चिम दिशा के विभाग में एक बड़ी कूटाकारशाला बनाओ जो सैंकड़ों स्तम्भों से युक्त हो, प्रासादीय, अभिरूप तथा दर्शनीय हो—अर्थात् देखने में अत्यन्त सुन्दर हो।

वे कौटुम्बिक पुरुष दोनों हाथ जोड़ कर सिर पर दसों नख वाली अञ्जलि रख कर इस राजाज्ञा को शिरोधार्य करते हुए चले जाते हैं। जाकर सुप्रतिष्ठित नगर के बाहर पश्चिम दिक् विभाग में एक महती व अनेक स्तम्भों वाली प्रासादिक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप अर्थात् अत्यन्त मनोहर कूटाकारशाला तैयार करवाते हैं—तैयार करवा कर महाराज सिंहसेन की आज्ञा प्रत्यर्पण करते हैं—अर्थात् कूटाकार शाला यथायोग्य रूप से तैयार हो गई, ऐसा निवेदन करते हैं।

१२—तए णं से सीहसेणे राया अन्नया कयाइ एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणाइं पंचमाइसयाइं आमंतेइ। तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणाइं पंचमाइसयाइं सीहसेणेणं रन्ना आमंतियाइं समाणाइं सव्वालंकारविभूसियाइं जहाविभवेणं जेणेव सुपइट्ठे नयरे, जेणेव सीहसेणे राया, तेणेव उवागच्छन्ति। तए णं से सीहसेणे राया एगूणगाणं पंचदेवीसयाणं एगूणगाणं पंचमाइसयाणं कूडागारसालं आवासं दलयइ।

१२—तदनन्तर राजा सिंहसेन किसी समय एक कम पांच सौ देवियों (रानियों) की एक कम पांच सौ माताओं को आमन्त्रित करता है। सिंहसेन राजा का आमंत्रण पाकर वे एक कम पांच सौ देवियों की एक कम पांच सौ माताएं सर्वप्रकार से वस्त्रों एवं आभूषणों से सुसज्जित हो अपने-अपने वैभव के अनुसार सुप्रतिष्ठित नगर में राजा सिंहसेन जहाँ थे, वहाँ आजाती हैं। सिंहसेन राजा भी उन एक कम पांच सौ देवियों की एक कम पांच सौ माताओं को निवास के लिये कूटाकार-शाला में स्थान दे देता है।

१३—तए णं से सीहसेणे राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—"गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवणेह, सुबहुं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारं च कूडागारसालं साहरह।

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव जाव साहरंति।

तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणगाइं पंचमाईसयाइं सव्वालंकारविभूसियाइं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च महुं च मेरगं च जाइं च पसण्णं च आसाएमाणाइं गंधव्वेहि य नाडएहि य उवगीयमाणाइं उवगीयमाणाइं विहरन्ति।

१३—तदनन्तर सिंहसेन राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा – 'देवानुप्रियो ! तुम जाओ और विपुल अशनादिक ले जाओ तथा अनेकविध पुष्पों, वस्त्रों, गन्धों—सुगन्धित पदार्थों, मालाओं और अलंकारों को कूटाकार शाला में पहुँचाओ। कौटुम्बिक पुरुष भी राजा की आज्ञा के अनुसार सभी सामग्री पहुँचा देते हैं। तदनन्तर सर्व-प्रकार के अलंकारों से विभूषित उन एक कम पांच सौ देवियों की एक कम पांच सौ माताओं ने उस विपुल अशनादिक और सुरादिक सामग्री का आस्वादन किया—यथारुचि उपभोग किया और गान्धर्व (गाने वाले व्यक्तियों) तथा नाटक-(नृत्य करने वाले) नर्तकों से उपगीयमान-प्रशस्यमान होती हुई सानन्द विचरने लगीं। अर्थात् भोजन तथा मद्यपान करके नाच-गान में मस्त हो गई।

१४—तए णं से सीहसेणे राया अद्धरत्तकालसमयंसि बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव कूडागारसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता, कूडागारसालाए दुवाराइं पिहेइ, पिहित्ता कूडागारसालाए सव्वओ अगणिकायं दलयइ।

तए णं तासिं एगुणगाणं पञ्चण्हं देवीसयाणं एगूणगाइं पंचमाइसयाइं सीहसेणेण रन्ना आलिवियाइं समाणाइं रोयमाणाइं कंदमाणाइं विलवमाणाइं अत्ताणाइं असरणाइं कालधम्मुणा संजुत्ताइं।

१४—तत्पश्चात् सिंहसेन राजा अर्द्धरात्रि के समय अनेक पुरुषों के साथ, उनसे घिरा हुआ, जहाँ कूटाकारशाला थी वहाँ पर आया। आकर उसने कूटाकारशाला के सभी दरवाजे बन्द करवा दिये। बन्द करवाकर कूटाकारशाला को चारों तरफ से आग लगवा दी।

तदनन्तर राजा सिंहसेन के द्वारा आदीप्त की गईं, जलाई गईं, त्राण व शरण से रहित हुई एक कम पांच सौ रानियों की एक कम पांच सौ माताएं रुदन क्रन्दन व विलाप करती हुईं कालधर्म को प्राप्त हो गईं।

१५—तए णं से सीहसेणे राया एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता चोत्तीसं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीससागरोवमट्ठिइएसु नेरइयेसु नेरइयत्ताए उववन्ने। से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव रोहीडए नयरे दत्तस्स सत्थवाहस्स कण्हसिरीए भारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए उववन्ने।

१५—तत्पश्चात् इस प्रकार के कर्म करने वाला, ऐसी विद्या-बुद्धि वाला, ऐसा आचरण करने वाला सिंहसेन राजा अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन करके ३४-सौ वर्ष की परम आयु भोगकर काल करके उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति वाली छट्ठी नरकभूमि में नारक रूप से उत्पन्न हुआ। वही सिंहसेन राजा का जीव स्थिति के समाप्त होने पर वहां से निकलकर इसी

रोहीतक नगर में दत्त सार्थवाह को कृष्णश्री भार्या की कुक्षि में बालिका के रूप में उत्पन्न हुआ अर्थात् कन्या के रूप में गर्भ में आया।

१६—तए णं सा कण्हसिरी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं जाव दारियं पयाया सुउमाल-पाणिपाया जाव सुरूवा। तए णं तीसे दारियाए अम्मापियरो निव्वत्तबारसाहियाए विउलं असणं जाव मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणस्स पुरओ नामधेज्जं करेंति तं होउ णं दारिया देवदत्ता नामेणं, तए णं सा देवदत्ता दारिया पंचधाईपरिग्गहिया जाव परिवड्ढइ।

१६—तब उस कृष्णश्री भार्या ने नव मास परिपूर्ण होने पर एक कन्या को जन्म दिया। वह अत्यन्त कोमल हाथ-पैरों वाली तथा अत्यन्त रूपवती थी। तत्पचात् उस कन्या के माता पिता ने बारहवे दिन बहुत सा अशनादिक तैयार कराया यावत् मित्र, ज्ञाति निजक, स्वजन, संबंधीजन तथा परिजनों को निमन्त्रित करके एवं भोजनादि से निवृत्त हो लेने पर कन्या का नामकरण संस्कार करते हुए कहा—हमारी इस कन्या का नाम देवदत्ता रक्खा जाता है। तदनन्तर वह देवदत्ता पांच धायमाताओं के संरक्षण में वृद्धि को प्राप्त होने लगी।

१७—तए णं सा देवदत्ता दारिया उम्मुक्कबालभाव (विण्णयपरिणयमेत्ता) जोव्वणेण य रूवेण लावण्णेण य अईव-अईव उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा यावि होत्था।

तए णं सा देवदत्ता दारिया अन्नया कयाइ ण्हाया जाव[1] विभूसिया बहूहिं खुज्जाहिं जाव परिक्खित्ता उप्पिं आगासतलगंसि कणगतिंदूसेणं कीलमाणी विहरइ।

१७—तदनन्तर वह देवदत्ता बाल्यावस्था से मुक्त होकर यावत् यौवन, रूप व लावण्य से अत्यन्त उत्तम व उत्कृष्ट शरीरवाली हो गई।

एक बार वह देवदत्ता स्नान करके यावत् समस्त आभूषणों से विभूषित होकर बहुत सी कुब्जा आदि दासियों के साथ अपने मकान के ऊपर सोने की गेंद के साथ क्रीडा करती हुई विहरण कर रही थी।

१८—इमं च णं वेसमणदत्ते राया ण्हाए जाव[2] विभूसिए आसं दुरुहइ, दुरुहित्ता बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे आसवाहणियाए निज्जायमाणे दत्तस्स गाहावइस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं वीइवयइ। तए णं से वेसमणे राया जाव वीइवयमाणे देवदत्तं दारियं उप्पिं आगासतलगंसि कणगतिंदूसेणं कीलमाणिं पासइ, पासित्ता देवदत्ताए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य जायविम्हए कोडुंबिय-पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—कस्स णं देवाणुप्पिया! एसा दारिया? किं वा नाएधेज्जेणं?

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा वेसमणं रायं करयल जाव एवं वयासी—'एस णं सामी! दत्तस्स सत्थवाहस्स धूया, कण्हसिरीए भारियाए अत्तया देवदत्ता नामं दारिया रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठसरीरा।'

१८—इधर स्नानादि से निवृत्त यावत् सर्वालङ्कारविभूषित राजा वैश्रमणदत्त अश्व पर

१-२. द्वि. अ., सूत्र-२२

आरोहण करता है और आरोहण करके बहुत से पुरुषों के साथ परिवृत –घिरा हुआ, अश्ववाहनिका— अश्वक्रीडा के लिए जाता हुआ दत्त गाथापति के घर के कुछ पास से निकलता है। तदनन्तर वह वैश्रमणदत्त राजा देवदत्ता कन्या को ऊपर सोने की गेंद से खेलती हुई देखता है और देखकर देवदत्ता दारिका के रूप, यौवन व लावण्य से विस्मय को प्राप्त होता है। फिर कौटुम्बिक पुरुषों– अनुचरों को बुलाता है और बुलाकर इस प्रकार कहता है—'हे देवानुप्रियो ! यह बालिका किसकी है ? और इसका क्या नाम है ?'

तब वे कौटुम्बिक पुरुष हाथ जोड़कर यावत् इस प्रकार कहने लगे—'स्वामिन् ! यह कन्या दत्त गाथापति की पुत्री और कृष्णश्री की आत्मजा है जो रूप, यौवन तथा लावण्य-कान्ति से उत्तम तथा उत्कृष्ट शरीर वाली है।

१९—तए णं से वेसमणे राया आसवाहिणियाओ पडिनियत्ते समाणे अब्भितरठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे, देवाणुप्पिया ! दत्तस्स धूयं कण्हसिरीए भारियाए अत्तयं देवदत्तं दारियं पुस्सनंदिस्स जुवरन्नो भारियत्ताए वरेह, जइ वि सा सयंरज्जसुक्का।'

१९—तदनन्तर राजा वैश्रमणदत्त अश्ववाहनिका (अश्वक्रीडा) से वापिस आकर अपने आभ्यन्तर स्थानीय—अन्तरङ्ग पुरुषों को बुलाता है और बुलाकर उनको इस प्रकार कहता है—

देवानुप्रियो ! तुम जाओ और जाकर सार्थवाह दत्त की पुत्री और कृष्णश्री भार्या की आत्मजा देवदत्ता नाम की कन्या की युवराज पुष्यनन्दी के लिए भार्या रूप में मांग करो। यदि वह राज्य के बदले भी प्राप्त की जा सके तो भी प्राप्त करने के योग्य है।

२०—तए णं ते अब्भितरठाणिज्जा पुरिसा वेसमणेणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा करयल जाव एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता ण्हाया जाव[1] सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं पवरपरिहिया जेणेव दत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छित्था। तए णं से दत्ते सत्थवाहे ते पुरिसे एज्जमाणे पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठे, आसणाओ अब्भुट्ठेइ। अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्गए आसणेणं उवनिमंतेइ, उवनिमंतित्ता ते पुरिसे आसत्थे वीसत्थे सुहासणवरगए एवं वयासी—'संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किं आगमणप्पओयणं ?'

तए णं ते रायपुरिसा दत्तं सत्थवाहं एवं वयासी—'अम्हे णं देवाणुप्पिया ! तव धूयं कण्हसिरीए अत्तयं देवदत्तं दारियं पूसनंदिस्स जुवरन्नो भारियत्ताए वरेमो। तं जइ णं जाणासि देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, दिज्जउ णं देवदत्ता भारिया पुसनंदिस्स जुवरन्नो। भण, देवाणुप्पिया ! किं दलयामो सुक्कं ?

तए णं से दत्ते अब्भितरठाणिज्जे पुरिसे एवं वयासी—'एयं चेव देवाणुप्पिया ! मम सुक्कं जं णं वेसमणे राया मम दारियानिमित्तेणं अणुगिण्हइ।

ते अब्भितरठाणिज्जे पुरिसे विउलेणं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेइ, संमाणेइ सक्कारित्ता संमाणित्ता पडिविसज्जेइ।

---

१. द्वि. अ., सूत्र-२२

तए णं ते अब्भिंतरठाणिज्जपुरिसा जेणेव वेसमणे राया तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छित्ता वेसमणस्स रन्नो एयमट्ठं निवेदेंति।

२०—तदनन्तर वे अभ्यंतर-स्थानीय पुरुष—अन्तरङ्ग व्यक्ति राजा वैश्रमण की इस आज्ञा को सम्मानपूर्वक स्वीकार कर, हर्ष को प्राप्त हो यावत् स्नानादि क्रिया करके तथा राजसभा में प्रवेश करने योग्य उत्तम वस्त्र पहनकर जहाँ दत्त सार्थवाह का घर था, वहाँ आये। दत्त सार्थवाह भी उन्हें आता देखकर बडी प्रसन्नता के साथ आसन से उठकर उनके सम्मान के लिये सात-आठ कदम उनके सामने अगवानी करने गया। उनका स्वागत कर आसन पर बैठने की प्रार्थना की। तदनन्तर आश्वस्त—गतिजन्य श्रम के न रहने से स्वास्थ्य-शांति को प्राप्त हुए तथा विश्वस्त—मानसिक क्षोभ जरा भी न रहने के कारण विशेष रूप से स्वस्थता को उपलब्ध हुए एवं सुखपूर्वक उत्तम आसनों पर अवस्थित हुए। इन आने वाले राजपुरुषों से दत्त ने इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो! आज्ञा दीजिए, आपके शुभागमन का प्रयोजन क्या है? अर्थात् मैं आपके आगमन का प्रयोजन जानना चाहता हूँ।

दत्त सार्थवाह के इस तरह पूछने पर आगन्तुक राजपुरुषों ने कहा—'हे देवानुप्रिय! हम आपकी पुत्री और कृष्णश्री की आत्मजा देवदत्ता नाम की कन्या की युवराज पुष्यनंदी के लिये भार्या रूप से मंगनी करने आये हैं। यदि हमारी यह मांग आपको युक्त—उचित, अवसरप्राप्त, श्लाघनीय तथा वरवधू का यह संयोग अनुरूप जान पड़ता हो तो देवदत्ता को युवराज पुष्यनन्दी के लिए दीजिए और बतलाइये कि इसके लिये आपको क्या शुल्क—उपहार दिया जाय?

उन आभ्यन्तरस्थानीय पुरुषों के इस कथन को सुनकर दत्त बोले—'देवानुप्रियो! मेरे लिए यही बड़ा शुल्क है कि महाराज वैश्रमणदत्त (अपने पुत्र के लिये) मेरी इस बालिका को ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत कर रहे हैं।'

तदनन्तर दत्त गाथापति ने उन अन्तरङ्ग राजपुरुषों का पुष्प, गंध, माला तथा अलङ्कारादि से यथोचित सत्कार-सन्मान किया और सत्कार-सन्मान करके उन्हें विसर्जित किया। वे आभ्यन्तर स्थानीय पुरुष जहां वैमश्रमणदत्त राजा था वहाँ आये और उन्होंने वैश्रमण राजा को उक्त सारा वृत्तान्त निवेदित किया।

२१—तए णं से दत्ते गाहावई अन्नया कयाइ सोहणंसि तिहि-करण-दिवस-नक्खत्त-मुहुत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं आमंतेइ। ण्हाए जाव पायच्छित्ते सुहासणवरगए तेण मित्त० सद्धिं संपरिवुडे तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणे विहरइ। जिमियभुत्तुत्तराएगए वि य णं आयंते चोक्खे परमसुइभूए तं मित्तनाइनियगसयण-संबंधिपरियणं विउलेणं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणेत्ता देवदत्तं दारियं ण्हायं जाव विभूसियसरीरं पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरुहेइ, दुरुहेता सुबहुमित्त जाव सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाए नाइयरवेणं रोहीडयं नयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव वेसमणरन्नो गिहे, जेणेव वेसमणे राया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल जाव वद्धावेइ, वद्धावेत्ता वेसमणस्स रन्नो देवदत्तं दारियं उवणेइ।

२१—तदनन्तर किसी अन्य समय दत्त गाथापति शुभ तिथि, करण, दिवस, नक्षत्र व मुहूर्त्त में विपुल अशनादिक सामग्री तैयार करवाता है और करवाकर मित्र, ज्ञाति, निजक स्वजन सम्बन्धी तथा परिजनों को आमन्त्रित कर यावत् स्नानादि करके दुष्ट स्वप्नादि के फल को विनष्ट करने के लिये मस्तक पर तिलक व अन्य माङ्गलिक कार्य करके सुखप्रद आसन पर स्थित हो उस विपुल अशनादिक का मित्र, ज्ञाति, स्वजन, सम्बन्धी व परिजनों के साथ आस्वादन, विस्वादन करने के अनन्तर उचित स्थान पर बैठ आचान्त (आचमन-कुल्ला किए हुए) चोक्ष (मुखादिगत लेप को दूर किए हुए) अतः परम शुचिभूत—परम शुद्ध होकर मित्र, ज्ञाति, निजक-स्वजन-सम्बन्धियों का विपुल पुष्प, माला, गन्ध, वस्त्र, अलङ्कार आदि से सत्कार करता है, सन्मान करता है। सत्कार व सन्मान करके देवदत्ता-नामक अपनी पुत्री को स्नान करवाकर यावत् शारीरिक आभूषणों द्वारा उसके शरीर को विभूषित कर पुरुषसहस्रवाहिनी—एक हजार पुरुषों से उठाई जाने वाली शिविका-पालखी में बिठलाता है। बिठाकर बहुत से मित्र व ज्ञातिजनों आदि से घिरा हुआ सर्व प्रकार के ठाठ-ऋद्धि से तथा वादित्रध्वनि—बाजे-गाजे के साथ रोहीतक नगर के बीचों बीच होकर जहाँ वैश्रमण राजा का घर था और जहाँ वैश्रमण राजा था, वहाँ आया और आकर हाथ जोड़कर उसे बधाया। बधा कर वैश्रमण राजा को देवदत्ता कन्या अर्पण कर दी।

२२—तए णं से वेसमणे राया देवदत्तं दारियं उवणीयं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठ विउलं असणं ४ उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता मित्त नाइ० आमंतेइ, जाव सक्कारेइ सम्माणेइ सक्कारित्ता सम्माणित्ता पूसनंदिकुमारं देवदत्तं च दारियं पट्टयं दुरुहेइ, दुरुहित्ता सेयापीएहिं कलसेहिं मज्जावेइ, मज्जावेत्ता वरनेवत्थाइं करेइ, अग्गिहोमं करेइ, करेत्ता पूसनन्दिकुमारं देवदत्ताए दारियाए पाणिं गिण्हावेइ।

तए णं से वेसमणे राया पूसनंदिस्स कुमारस्स देवदत्तं दारियं सव्विड्ढीए जाव रवेणं महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं पाणिग्गहणं कारेइ, कारेत्ता देवदत्ताए दारियाए अम्मापियरो मित्त जाव परियणं च विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेण वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेइ सम्माणेइ जाव पडिविसज्जेइ।

तए णं पूसनन्दी कुमारे देवादत्ताए सद्धिं उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं बत्तीसइबद्धनाडएहि उवगिज्जमाणे जाव (उवलालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे इट्ठे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे विउले माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभवमाणे) विहरइ।

२२—तब राजा वैश्रमण लाई हुई—अर्पण की गई उस देवदत्ता दारिका को देखकर बड़े हर्षित हुए और हर्षित होकर विपुल अशनादिक तैयार कराया और मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी व परिजनों को आमंत्रित कर उन्हें भोजन कराया। उनका पुष्प, वस्त्र, गंध, माला व अलङ्कार आदि से सत्कार-सन्मान किया। तदनन्तर कुमार पुष्यनन्दी और कुमारी देवदत्ता को पट्टक पर बैठाकर श्वेत व पीत अर्थात् चाँदी और सोने के कलशों से स्नान कराते हैं। तदनन्तर सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित करते हैं। अग्निहोम—हवन कराते हैं। हवन कराने के बाद कुमार पुष्यनंदी को कुमारी देवदत्ता का पाणिग्रहण कराते हैं। तदनन्तर वह वैश्रमणदत्त नरेश पुष्यनंदी व देवदत्ता का सम्पूर्ण ऋद्धि यावत् महान वाद्य-ध्वनि और ऋद्धिसमुदाय व सन्मानसमुदाय के

साथ विवाह रचाते हैं। तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक बड़े समारोह के साथ कुमार पुष्यनंदी और कुमारी देवदत्ता का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

तदनन्तर देवदत्ता के माता-पिता तथा उनके साथ आने वाले अन्य उनके मित्रजनों, ज्ञातिजनों निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों और परिजनों का भी विपुल अशनादिक तथा वस्त्र, गन्ध, माला और अलङ्कारादि से सत्कार करते हैं, सन्मान करते हैं; सत्कार व सन्मान करने के बाद उन्हें विदा करते हैं।

राजकुमार पुष्यनंदी श्रेष्ठिपुत्री देवदत्ता के साथ उत्तम प्रासाद में विविध प्रकार के वाद्यों और जिनमें मृदङ्ग बज रहे हैं, ऐसे ३२ प्रकार के नाटकों द्वारा उपगीयमान—प्रशंसित होते सानंद मनुष्य संबंधी शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंधरूप भोग भोगते हुए समय बिताने लगे।

२३—तए णं से वेसमणे राया अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते। नीहरणं जाव राया जाव पूसनंदी।

२३—कुछ समय बाद महाराजा वैश्रमण कालधर्म को प्राप्त हो गये। उनकी मृत्यु पर शोक-ग्रस्त पुष्यनन्दी ने बड़े समारोह के साथ उनका निस्सरण किया यावत् मृतक-कर्म करके राज सिंहासन पर आरूढ़ हुए यावत् युवराज से राजा बन गए।

२४—तए णं से पूसनंदी राया सिरीए देवीए माइभत्तए यावि होत्था। कल्लाकल्लि जेणेव सिरीदेवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिरीए देवीए पायवडणं करेइ, करित्ता सयपाग-सहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भिगावेइ। अट्ठिसुहाए, मंससुहाए, तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए संवाहावेइ संवाहावेत्ता सुरभिणा गंधवट्टएणं उव्वट्टित्तावेइ, उव्वट्टावेत्ता तिहिं उदएहिं मज्जावेइ, तंजहा—उसिणोदएणं, सीओदएणं, गन्धोदएणं। विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेइ। सिरीए देवीए ण्हायाए जाव पायच्छित्ताए जाव जिमियभुत्तुत्तरागयाए तए णं पच्छा ण्हाइ वा भुंजइ वा, उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

२४—पुष्यनन्दी राजा अपनी माता श्रीदेवी का परम भक्त था। प्रतिदिन माता श्रीदेवी जहाँ भी हों वहाँ आकर श्रीदेवी के चरणों में प्रणाम करता और प्रणाम करके शतपाक और सहस्रपाक (सौ औषधों के तथा हजार औषधों के सम्मिश्रण से बने) तैलों की मालिश करवाता था। अस्थि को सुख देने वाले, मांस को सुखकारी, त्वचा की सुखप्रद और दोनों को सुखकारी ऐसी चार प्रकार की संवाहन—अंगमर्दन क्रिया से सुखशान्ति पहुँचाता था। तदनन्तर सुगन्धित गन्धवर्तक—बटने से उद्वर्तन करवाता अर्थात् बटना मलवाता। उसके पश्चात् उष्ण, शीत और सुगन्धित जल से स्नान करवाता, फिर विपुल अशनादि चार प्रकार का भोजन कराता। इस प्रकार श्रीदेवी के नहा लेने यावत् अशुभ स्वप्नादि के फल को विफल करने के लिए मस्तक पर तिलक व अन्य माङ्गलिक कार्य करके भोजन कर लेने के अनन्तर अपने स्थान पर आ चुकने पर और वहाँ पर कुल्ला तथा मुखगत लेप को दूर कर परम शुद्ध हो सुखासन पर बैठ जाने के बाद ही पुष्यनन्दी स्नान करता, भोजन करता था। तथा फिर मनुष्य सम्बन्धी उदार भोगों का उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करता था।

२५—तए णं तीसे देवदत्ताए देवीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणीए इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने—'एवं खलु पूसनंदी राया सिरीए देवीए माइभत्ते समाणे जाव विहरइ। तं एएणं वक्खेवेणं नो संचाएमि पूसनंदिणा रन्ना सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं सिरिं देविं अग्गिप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा मंतप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए, ववरोवेत्ता पूसनंदिणा रन्ना सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणीए विहरित्तए' एवं संपेहेइ संपेहित्ता सिरीए देवीए अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणी विहरइ।

२५—तदनन्तर किसी समय मध्यरात्रि में कुटुम्ब सम्बन्धी चिन्ताओं में उलझी हुई (जागती हुई) देवदत्ता के हृदय में यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि 'इस प्रकार निश्चय ही पुष्यनंदी राजा अपनी माता श्रीदेवी का 'यह पूज्या है' इस बुद्धि से परम भक्त बना हुआ है। इस अवक्षेप—विघ्न के कारण मैं पुष्यनन्दी राजा के साथ पर्याप्त रूप से मनुष्य सम्बन्धी विषयभोगों का उपभोग नहीं कर पाती हूँ। इसलिये अब मुझे यही करना योग्य है कि अग्नि, शस्त्र, विष या मन्त्र के प्रयोग से श्रीदेवी को जीवन से व्यपरोपित करके—मार डाल कर महाराज पुष्यनन्दी के साथ उदार-प्रधान मनुष्य सम्बन्धी विषय-भोगों का यथेष्ट उपभोग करूं।' ऐसा विचार कर वह श्रीदेवी को मारने के लिये अन्तर (जिस समय राजा का आगमन न हो), छिद्र (राजपरिवार के किसी सदस्य की जिस समय उपस्थिति न हो) और विवर (जिस समय कोई सामान्य मनुष्य भी न हो ऐसे अवसर) की प्रतीक्षा करती हुई विहरण करने लगी।

२६—तए णं सा सिरीदेवी अन्नया कयाइ मज्जाइया विरहियसयणिज्जंसि सुहपसुत्ता जाया यावि होत्था। इमं च णं देवदत्ता देवी जेणेव सिरीदेवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, सिरिं देविं मज्जाइयं विरहियसयणिज्जंसि सुहपसुत्तं पासइ, पासेत्ता दिसालोयं करेइ, करेत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता लोहदण्डं परामुसइ, परामुसित्ता लोहदंडं तावेइ, तत्तं समजोइभूयं फुल्ल-किंसुयसमाणं संडासएणं गहाय जेणेव सिरीदेवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिरीए देवीए अवाणंसि पक्खिवइ।

तए णं सा सिरीदेवी महया-महया सद्देणं आरसित्ता कालधम्मुणा संजुत्ता।

२६—तदनन्तर किसी समय स्नान की हुई श्रीदेवी एकान्त में अपनी शय्या पर सुखपूर्वक सो रही थी। इधर लब्धावकाश देवदत्ता देवी भी जहाँ श्रीदेवी थी वहाँ पर आती है। स्नान व एकान्त में शय्या पर सुखपूर्वक सोई हुई श्रीदेवी को देखती है। देखकर दिशा का अवलोकन करती है अर्थात् कोई मुझे देख तो नहीं रहा है, यह निश्चय करने के लिए चारों तरफ देखती है। उसके बाद जहाँ भक्तगृह—रसोड़ा था वहाँ पर जाती है और जाकर लोहे के डंडे को ग्रहण करती है। ग्रहण कर लोहे के उस डंडे को तपाती है, तपाकर अग्नि के समान देदीप्यमान या खिले हुए किंशुक—केसू के फूल के समान लाल हुए उस लोहे के दण्ड को संडासी से पकड़कर जहाँ श्रीदेवी (सोई) थी वहाँ आती है। आकर श्रीदेवी के अपान—गुदास्थान में घुसेड़ देती है। लोहदंड के घुसेड़ने से बड़े जोर के शब्दों से चिल्लाती हुई श्रीदेवी कालधर्म से संयुक्त हो गई—मृत्यु को प्राप्त हो गई।

२७—तए णं तीसे सिरीए देवीए दासचेडीओ आरसियसद्दं सोच्चा निसम्म जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छित्ता देवदत्तं देविं तओ अवक्कममाणिं पासंति, पासेत्ता जेणेव सिरीदेवी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सिरिं देविं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीवियविप्पजढं पासन्ति, पासित्ता 'हा हा अहो अकज्जं' इति कट्टु रोयमाणीओ कंदमाणीओ विलवमाणीओ जेणेव पूसनंदी राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पूसनंदिं रायं एवं वयासी—'एवं खलु, सामी ! सिरीदेवी देवदत्ताए देवीए अकाले चेव जीवियाओ ववरोविया ।'

तए णं से पूसनंदी राया तासिं दासचेडीणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म महया माइसोएण अप्फुण्णे समाणे परसुनियत्ते विव चंपग-वरपायवे धसत्ति धरणियलंसि सव्वंगेहिं संनिवडिए ।

२७—तदनन्तर उस श्रीदेवी की दासियाँ भयानक चीत्कार शब्दों को सुनकर अवधारण कर जहाँ श्रीदेवी थी वहाँ आती है और वहाँ से देवदत्ता देवी को निकलती हुई—वापिस जाती देखती हैं। देखकर जिधर श्रीदेवी सोई हुई थी वहाँ आती हैं, आकर श्रीदेवी को प्राणरहित, चेष्टा रहित देखती हैं। देखकर—'हा ! हा ! अहो ! बड़ा अनर्थ हुआ' इस प्रकार कहकर रुदन, आक्रन्दन तथा विलाप करती हुई, जहाँ पर पुष्यनंदी राजा था वहां पर जाती हैं। जाकर महाराजा पुष्यनन्दी से इस प्रकार निवेदन करती हैं—'निश्चय ही हे स्वामिन् ! श्रीदेवी को देवदत्ता देवी ने अकाल में ही जीवन से पृथक् कर दिया—अर्थात् मार डाला है।'

तदनन्तर पुष्यनन्दी राजा उन दासियों से इस वृत्तान्त को सुन समझ कर महान् मातृशोक से आक्रान्त होकर परशु से काटे हुए चम्पक वृक्ष की भांति धड़ाम से पृथ्वी-तल पर सर्व अङ्गों से गिर पड़ा।

२८—तए णं से पूसनन्दी राया मुहुत्तन्तरेण आसत्थे वीसत्थे समाणे बहूहिं राईसर जाव सत्थवाहेहिं मित्त जाव परियणेणं सद्धिं रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे सिरीए देवीए महया इड्ढी सक्कार-समुदएणं नीहरणं करेइ, करेत्ता आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे देवदत्तं देविं पुरिसेहिं गिण्हावेइ, एतेणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ ।

'तं एवं खलु, गोयमा ! देवदत्ता देवी पुरापोराणाणं जाव विहरइ ।'

२८—तदनन्तर एक मुहूर्त के बाद (थोड़े समय के पश्चात्) वह पुष्यनन्दी राजा आश्वस्त—होश में आया। अनेक राजा-नरेश, ईश्वर—ऐश्वर्ययुक्त, यावत् सार्थवाह—व्यापारियों के नायकों तथा मित्रों यावत् परिजनों के साथ रुदन, आक्रन्दन व विलाप करता हुआ श्रीदेवी का महान् ऋद्धि तथा सत्कार के साथ निष्कासन कृत्य (मृत्यु-संस्कार) करता है। तत्पश्चात् क्रोध के आवेश में रुष्ट, कुपित, अतीव क्रोधाविष्ट तथा लाल-पीला होता हुआ देवदत्ता देवी को राजपुरुषों से पकड़वाता है। पकड़वाकर इस पूर्वोक्त विधान से (जिसे तुम देख कर आए हो) 'यह वध्या—हंतव्या है' ऐसी राजपुरुषों को आज्ञा देता है।

इस प्रकार निश्चय ही, हे गौतम ! देवदत्ता देवी अपने पूर्वकृत अशुभ पापकर्मों का फल पा रही है।

देवदत्ता का भविष्य

२९—देवदत्ता णं भंते ! देवी इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गमिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?

गोयमा ! असीइं वासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिइ। संसारो। वणस्सई। तओ अणन्तरं उव्वट्टित्ता गंगपुरे नयरे हंसत्ताए पच्चायाहिइ। से णं तत्थ साउणिएहिं वहिए समाणे तत्थेव गंगपुरे नयरे सेट्ठिकुलंसि उववज्जिहिइ। बोही। सोहम्मे। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवो।

२९—तब गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—अहो भगवन् ! देवदत्ता देवी यहाँ से काल मास में काल करके कहाँ जाएगी ? कहाँ उत्पन्न होगी ?

भगवान् महावीर ने कहा—हे गौतम ! देवदत्ता देवी ८० वर्ष की परम-आयु भोग कर काल मास में काल करके इस रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवी-नरक में नारक पर्याय में उत्पन्न होगी। शेष संसारभ्रमण पूर्ववत् करती हुई अर्थात् प्रथम अध्ययनगत मृगापुत्र की भांति यावत् वनस्पति अन्तर्गत निम्ब आदि कटु-वृक्षों तथा कटुदुग्ध वाले अर्कादि पौधों में लाखों बार उत्पन्न होगी। तदनन्तर वहाँ से निकलकर गङ्गपुर नगर में हंस रूप से उत्पन्न होगी। वहाँ शाकुनिकों द्वारा वध किए जाने पर वह गंगपुर में ही श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप में जन्म लेगी। वहाँ उसका जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा। वहाँ चारित्र ग्रहण कर यथावत् पालन कर सिद्धि को प्राप्त करेगा। सर्व कर्मों से मुक्त होगा।

निक्षेप—श्री सुधर्मा स्वामी ने उपसंहार करते हुए कहा—हे जम्बू ! निर्वाण-प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने नौवें अध्ययन का यह अर्थ कहा है।

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥

दशम अध्ययन

अंजू

प्रस्तावना

१—दसमस्स उक्खेवो-'जइ णं भंते !'

१—अहो भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने दशम अध्ययन का क्या अर्थ कहा है, इत्यादि, उत्क्षेप-प्रस्तावना पूर्ववत् ही जान लेना चाहिये।

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वद्धमाणपुरे नामं नयरे होत्था। विजयवद्धमाणे उज्जाणे। मणिभद्दे जक्खे। विजयमित्ते राया। तत्थ णं धणदेवे नामं सत्थवाहे होत्था, अड्ढे ! पियंगू नामं भारिया ! अंजू दारिया जाव उक्किट्ठसरीरा। समोसरणं, परिसा जाव पडिगया।

२—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में वर्द्धमानपुर नाम का एक नगर था। वहाँ विजयवर्द्धमान नामक उद्यान था। उस में मणिभद्र यक्ष का यक्षायतन था। वहाँ विजयमित्र नामक राजा राज्य करता था। धनदेव नामक एक सार्थवाह—व्यापारियों का नायक, रहता था जो धनाढ्य और प्रतिष्ठित था। उसके प्रियंगु नाम की भार्या थी। उनकी उत्कृष्ट शरीरवाली सुन्दर अञ्जू नामक एक बालिका थी। उस समय विजयवर्द्धमान नामक उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे यावत् परिषद् धर्मदेशना सुनकर वापिस चली गयी।

अंजू का वर्त्तमान-भव

३—तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे जाव अडमाणे जाव विजयमित्तस्स रन्नो गिहस्स असोग-वणियाए अदूरसामंतेणं वीइवयमाणे पासइ एगं इत्थियं सुक्कं, भुक्खं निम्मंसं, किडिकिडियाभूयं, अट्ठिचम्मावणद्धं नीलसाडगनियत्थं कट्ठाइं कलुणाइं विस्सराइं कूवमाणिं पासइ, पासित्ता चिन्ता तहेव, जाव एवं वयासी—'सा णं, भंते ! इत्थिया पुव्वभवे का आसी ?' वागरणं !

३—उस समय भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य श्री गौतमस्वामी यावत् भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए विजयमित्र राजा के घर की अशोकवाटिका के समीप से जाते हुए सूखी, भूखी, निर्मांस (जिसके शरीर का मांस सूख गया हो) किटि-किटि शब्द से युक्त (जिसकी शरीरगत अस्थियां कड़कड़ शब्द कर रही हों) अस्थिचर्मावनद्ध—जिसका चमड़ा हड्डियों से चिपटा हुआ हो अर्थात् अस्थिचर्माविशेष तथा नीली साड़ी पहने हुए, कष्टमय, करुणोत्पादक, दीनतापूर्ण वचन बोलती हुई एक स्त्री को देखते हैं देखकर विचार करते हैं। शेष सब वृत्तान्त पूर्ववत् समझ लेना चाहिये। यावत् गौतम स्वामी भगवान् के निकट आकर पूछते हैं—'भगवन् ! यह स्त्री पूर्वभव में कौन थी ?' इसके उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी प्रतिपादन करने लगे—

पूर्वभव

४—एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहेवासे इंदपुरे नामं नयरे होत्था। तत्थ णं इन्ददत्ते राया। पुढविसिरी नामं गणिया होत्था। वण्णओ।[1] तए णं सा पुढविसिरी गणिया इंदपुरे नयरे बहवे राईसर जाव प्पभिइओ बहूहिं चुण्णप्पओगेहि य जाव (हिय-उड्डावणेहि य निण्हवणेहि य पण्हवणेहि य वसीकरणेहि य आभिओगेहि य) अभिओगेत्ता उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ।

४—हे गौतम ! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत वर्ष में इन्द्रपुर नाम का एक नगर था। वहाँ इन्द्रदत्त नाम का राजा राज्य करता था। इसी नगर में पृथ्वीश्री नाम की एक गणिका—वेश्या रहती थी। उसका वर्णन पूर्ववत् कामध्वजा वेश्या की ही तरह जान लेना चाहिये। इन्द्रपुर नगर में वह पृथ्वीश्री गणिका अनेक ईश्वर, तलवर यावत् सार्थवाह आदि लोगों को (वशीकरण सम्बन्धी) चूर्णादि के प्रयोगों से वशवर्ती करके मनुष्य सम्बन्धी उदार-मनोज्ञ कामभोगों का यथेष्ट रूप में उपभोग करती हुई समय व्यतीत कर रही थी।

५—तए णं सा पुढवीसिरी गणिया एयकम्मा एयप्पहाणा एयविज्जा एयसमायारा सुबहुं पावं कम्मं समज्जिणित्ता पणतीसं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ना।

५—तदनन्तर एतत्कर्मा एतत्प्रधान एतद्‌विद्य एवं एतत्-आचारवाली वह पृथ्वीश्री गणिका अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन कर ३५ सौ वर्ष के परम आयुष्य को भोगकर कालमास में काल करके छट्‌ठी नरकभूमि में २२ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थितिवाले नारकियों में नारक रूप से उत्पन्न हुई।

वर्त्तमान भव

६—सा णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेह वद्धमाणपुरे नयरे धणदेवस्स सत्थवाहस्स पियंगु भारियाए कुच्छिसि दारियत्ताए उववन्ना। तए णं सा पियंगु भारिया नवण्हं मासाणं दारिया पयाया। नामं अंजुसिरी। सेसं जहा देवदत्ताए।

६—वहां से निकल कर इसी वर्धमानपुर नगर में वह धनदेव नामक सार्थवाह की प्रियंगु भार्या की कोख से कन्या रूप में उत्पन्न हुई अर्थात् कन्या रूप से गर्भ में आई। तदनन्तर उस प्रियंगु भार्या ने नव मास पूर्ण होने पर उस कन्या को जन्म दिया और उसका नाम अञ्जुश्री रक्खा। उसका शेष वर्णन (नौवें अध्ययन में वर्णित) देवदत्ता ही की तरह जान लेना चाहिये।

७—तए णं से विजये राया आसवाहणियाए जहा वेसमणदत्ते तहा अंजुं पासइ। नवरं अप्पणो अट्ठाए वरेइ, जहा तेयली[2] जाव अंजूए भारियाए सद्धिं उप्पिं जाव विहरइ।

---

१. द्वि. अ० सूत्र ३

२. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग अ०-२.

७—तदनन्तर महाराज विजयमित्र अश्वक्रीडा के निमित्त जाते हुए राजा वैश्रमणदत्त की भांति ही अञ्जुश्री को देखते हैं और अपने ही लिए उसे तेतलीपुत्र अमात्य की तरह मांगते हैं। यावत् वे अञ्जुश्री के साथ उन्नत प्रासादों में सानन्द विहरण करते हैं।

८—तए णं तीसे अंजूए देवीए अन्नया कयाइ जोणिसूले पाउब्भूए यावि होत्था। तए णं से विजये राया, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! वद्धमाणपुरे नयरे सिंघाडग जाव एवं वयह—'एवं खलु, देवाणुप्पिया! विजयस्स रन्नो अंजूए देवीए जोणिसूले पाउब्भूए! जो णं इच्छइ वेज्जो वा वेज्जपुत्तो वा जाणुओ वा जाणुयपुत्तो वा तेगिच्छिओ वा तेगिच्छियपुत्तो वा अंजूए देवीए जोणीसूले उवसामित्तए तस्स णं विजए राया विउलं अत्थसंपयाणं दलयइ। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव उग्घोसेंति।

८—किसी समय अञ्जुश्री के शरीर में योनिशूल (योनि में होने वाली असह्य वेदना) नामक रोग का प्रादुर्भाव हो गया। यह देखकर विजय नरेश ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—'तुम लोग वर्धमानपुर नगर में जाओ और जाकर वहां के शृंगाटक—त्रिपथ, चतुष्पथ यावत् सामान्य मार्गों पर यह उद्घोषणा करो कि—देवी अञ्जुश्री को योनिशूल रोग उत्पन्न हो गया है। अतः जो कोई वैद्य या वैद्यपुत्र, जानकार या जानकार का पुत्र, चिकित्सक या उसका पुत्र उस रोग को उपशान्त कर देगा, राजा विजयमित्र उसे विपुल धन-सम्पत्ति प्रदान करेंगे।' कौटुम्बिक पुरुष राजाज्ञा से उक्त उद्घोषणा करते हैं।

९—तए णं ते बहवे वेज्जा वा ६ इमं एयारूवं उग्घोसणं सोच्चा निसम्म जेणेव विजये राया तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छित्ता अंजूए देवीए बहूहिं उप्पत्तियाहिं वेणइयाहिं कम्मियाहिं पारिणामियाहिं बुद्धीहिं परिणामेमाणा इच्छन्ति अंजूए देवीए जोणिसूलं उवसामित्तए, नो संचाएंति उवसामित्तए। तए णं ते बहवे वेज्जा य ६ जाहे नो संचाएंति अंजूए देवीए जोणिसूलं उवसामित्तए ताहे संता, तंता परितंता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

तए णं सा अंजू देवी ताए वेयणाए अभिभूया समाणी सुक्का भुक्खा निम्मंसा कट्ठाइं कलुणाइं विस्सराइं विलवइ।

एवं खलु गोयमा! अंजू देवी पुरा पोराणाणं जाव विहरइ।

९—तदनन्तर (राजा की आज्ञा से अनुचरों के द्वारा की गयी) इस प्रकार की उद्घोषणा को सुनकर नगर के बहुत से अनुभवी वैद्य, वैद्यपुत्र आदि चिकित्सक विजयमित्र राजा के यहाँ आते हैं। अपनी औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी बुद्धियों के द्वारा परिणाम को प्राप्त कर अर्थात् निदान आदि द्वारा निर्णय करते हुए विविध प्रयोगों के द्वारा देवी अंजूश्री के योनिशूल को उपशान्त करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनके उपयोगों से अञ्जूश्री का योनिशूल शांत नहीं हो पाया। जब वे अनुभवी वैद्य आदि अंजूश्री के योनिशूल को शमन करने में विफल हो गये तब खिन्न, श्रान्त एवं हतोत्साह होकर जिधर से आये थे उधर ही चले गये।

तत्पश्चात् देवी अंजूश्री उस योनिशूलजन्य वेदना से अभिभूत (पीड़ित) हुई सूखने लगी, भूखी रहने लगी और मांस रहित होकर कष्ट-हेतुक, करुणोत्पादक और दीनतापूर्ण शब्दों में विलाप करती हुई समय-यापन करने लगी।

भगवान् कहते हैं—हे गौतम ! इस प्रकार रानी अञ्जूश्री अपने पूर्वोपार्जित पाप कर्मों के फल का उपभोग करती हुई जीवन व्यतीत कर रही है।

भविष्यत् वृत्तान्त

१०—"अंजू णं भंते ! देवी इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ।'

'गोयमा ! अंजू णं देवी नउइं वासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिइ। एवं संसारो जहा पढमे तहा नेयव्वं जाव वणस्सई। सा णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता सव्वओभद्दे नयरे मयूरत्ताए पच्चायाहिइ। से णं तत्थ साउणिएहिं वहिए समाणे तत्थेव सव्वओभद्दे नयरे सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिइ। से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहिइ। पव्वज्जा। सोहम्मे।

"से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?

गोयमा ! महाविदेहे जहा पढमे जाव सिज्झिहिइ, जाव अंतं काहिइ।

एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते।

सेवं भंते। सेवं भंते ! त्ति बेमि।

१०—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—अहो भगवन् ! अञ्जू देवी मृत्यु का समय आने पर काल करके कहाँ जायेगी ? कहाँ उत्पन्न होगी ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! अञ्जू देवी ९० वर्ष की परम आयु को भोगकर काल मास में काल करके इस रत्नप्रभानामक पृथ्वी के नारकों में नारकी रूप से उत्पन्न होगी। उसका शेष संसार-परिभ्रमण प्रथम अध्ययन की तरह जानना चाहिये। यावत् वनस्पति-गत निम्बादि कटुवृक्षों तथा कटु दुग्ध वाले अर्क आदि पौधों में लाखों बार उत्पन्न होगी। वहाँ की भव-स्थिति को पूर्ण कर इसी सर्वतोभद्र नगर में मयूर के रूप में जन्म लेगी। वहाँ वह मोर व्याधों के द्वारा मारा जाने पर सर्वतोभद्र नगर के ही एक श्रेष्ठिकुल में पुत्र रूप से उत्पन्न होगा। वहाँ बालभाव को त्याग कर, युवावस्था को प्राप्त कर, विज्ञान की परिपक्व अवस्था को प्राप्त करता हुआ वह तथारूप स्थविरों से बोधिलाभ-सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा। तदनन्तर प्रव्रज्या—दीक्षा ग्रहण कर मृत्यु के बाद सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होगा।

गौतम—भगवन् ! देवलोक की आयु तथा स्थिति पूर्ण हो जाने के बाद वह कहाँ जायेगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान्—गौतम ! महाविदेह क्षेत्र में जाएगा। वहाँ उत्तम कुल में जन्म लेगा। जैसा कि प्रथम अध्ययन में वर्णित है यावत् सिद्ध बुद्ध सब दुःखों का अन्त करेगा।

हे जम्बू ! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाकनामक दशम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है।

जम्बू—भगवन् ! आपका यह कथन सत्य, परम सत्य, परम-परम सत्य है।

॥ दशम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

॥ दुःखविपाकीय प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

सुखविपाक

सार : संक्षेप

यद्यपि कार्मणजाति के पुद्गल, जीव के साथ बद्ध होने से पूर्व समान स्वभाव (प्रकृति) वाले होते हैं किन्तु जब उनका जीव के साथ बन्ध होता है तो उनमें जीव के योग के निमित्त से भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं। वही स्वभाव जैनागम में 'कर्मप्रकृति' के नाम से प्रसिद्ध है । ऐसी प्रकृतियाँ मूल में आठ हैं और फिर उनके अनेकानेक अवान्तर भेद-प्रभेद हैं।

विपाक की दृष्टि से कर्मप्रकृतियाँ दो भागों में विभक्त की गई हैं—अशुभ और शुभ। ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्मों की सभी अवान्तर प्रकृतियाँ अशुभ हैं। अघातिकर्मों की प्रकृतियाँ दोनों भागों में विभक्त हैं—कुछ अशुभ और कुछ शुभ । अशुभ प्रकृतियाँ पापप्रकृतियाँ कहलाती हैं, जिनका फल-विपाक जीव के लिये अनिष्ट, अकान्त अप्रिय एवं दुःखरूप होता है। शुभ कर्म-प्रकृतियों का फल इससे विपरीत—इष्ट, कान्त, प्रिय और सांसारिक सुख को उत्पन्न करने वाला होता है। दोनों प्रकार के फल-विपाक को सरल, सरस और सुगम रूप से समझने के लिये विपाकसूत्र की रचना हुई है।

यद्यपि यह सत्य है कि पाप और पुण्य— दोनों प्रकार की कर्मप्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। तथापि दोनों प्रकार की प्रकृतियों में कितना और कैसा अन्तर है, यह तथ्य विपाकसूत्र में वर्णित कथानकों के माध्यम से समझा जा सकता है।

दुःखविपाक के कथा-नायक मृगापुत्र आदि भी अन्त में मुक्ति प्राप्त करेंगे और सुखविपाक में उल्लिखित सुबाहु कुमार आदि को भी मुक्ति प्राप्त होगी। दोनों प्रकार के कथानायकों की चरम स्थिति एक-सी होने वाली है। तथापि उससे पूर्व संसार-परिभ्रमण का जो चित्रण किया गया है, वह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। पापाचारी मृगापुत्र आदि को दिल दहलाने वाली, घोरतर दुःखमय दुर्गतियों में से दीर्घ-दीर्घतर काल तक गुजरना होगा। अनेकानेक वार नरकों में, एकेन्द्रियों में तथा दूसरी अत्यन्त विषम एवं त्रासजनक योनियों में दुस्सह वेदनाएँ भुगतनी होंगी । तब कहीं जाकर उन्हें मानव-भव पाकर सिद्धि की प्राप्ति होगी।

सुखविपाक के कथानायक सुबाहुकुमार आदि को भी दीर्घकाल तक संसार में रहना है। किन्तु उनके दीर्घकाल का अधिकांश भाग स्वर्गीय सुखों के उपभोग में अथवा सुखमय मानवभव में ही व्यतीत होने वाला है।

पुण्यकर्म के फल से होने वाले सुखरूप विपाक और पापाचार के फलस्वरूप होने वाले दुःखमय विपाक की तुलना करके देखने पर ज्ञात होगा कि पाप और पुण्य दोनों बन्धनात्मक होने पर भी दोनों के फल में अन्धकार और प्रकाश जैसा अन्तर है।

यह सत्य है कि मुमुक्षु साधक एकान्त संवर और निर्जरा के कारणभूत वीतराग भाव में रमण करना ही उपादेय मानता है, किन्तु इस प्रकार के विशुद्ध वीतरागभाव में दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर रमण करना बड़े-बड़े उच्चकोटि के साधकों के लिए भी संभव नहीं है। अतएव पापबन्ध से बचने के लिए पुण्य-प्रवृत्ति करने के सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं है। भले ही यह आदर्श स्थिति न हो मगर आदर्श स्थिति प्राप्त करने के लिए अनिवार्य स्थिति अवश्य है।

विपाकसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ऐसे ही पुण्यशाली पुरुषों का वर्णन किया गया है। इसमें भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की तरह दश अध्ययन हैं।

प्रथम अध्ययन में सुबाहुकुमार का वर्णन किया गया है। परम पुण्य के उदय से सुबाहु को राज-परिवार में जन्म लेने के साथ ही श्रमण भगवान् महावीर के समागम का भी सौभाग्य प्राप्त होता है। उसने सुन्दर, मनोहर सौम्य और प्रिय बाह्य आकृति प्राप्त की। वह इतना प्रियदर्शन है कि गौतम स्वामी जैसे विरक्त महापुरुष का भी हृदय अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। वे भगवान् से उसकी मनोहरता और सोमता का कारण पूछते हैं। उसके पूर्वभव के विषय में पृच्छा करते हैं।

भगवान् ने गौतम स्वामी के प्रश्न का जो उत्तर दिया, उसका सारांश यह है कि सुबाहु पूर्वभव में सुमुख गाथापति था। एक बार मासखमण की निरन्तर तपस्या करने वाले सुदत्त अनगार पारणा के लिए उसके गृह में प्रविष्ट हुए। दृष्टि पड़ते ही सुमुख को हर्ष और सन्तोष हुआ। उत्तरासंग करके उनके सामने गया, प्रदक्षिणा करके मुनिराज को वन्दन-नमस्कार किया। निर्दोष आहार भक्तिभाव पूर्वक वहराया। उच्च और उदार भाव से प्रदत्त आहारदान के परिणामस्वरूप उसका संसार परीत हो गया। उसने मनुष्यायु का बन्ध किया। यही नहीं, देवों द्वारा पाँच दिव्य प्रकट करके अपना आन्तरिक आनन्दातिरेक प्रकाशित किया गया। मानवगण ने सुमुख को 'धन्य धन्य' कहा। सुबाहु-कुमार ने भगवान् महावीर के निकट गृहस्थधर्म अंगीकार किया, फिर अनगार धर्म की प्रव्रज्या अंगीकार की। अन्त में समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर सौधर्म देवलोक में जन्म लिया। तत्पश्चात् बीच-बीच में मनुष्य होकर सभी विषमसंख्यक देव-लोकों के सुखों का उपभोग करने के बाद सर्वार्थसिद्ध विमान में, जहाँ सांसारिक सुखों की चरम सीमा होती है, जन्म लेकर तेतीस सागरोपम जितने दीर्घतर काल पर्यन्त रहकर महाविदेह में उत्पन्न होकर शाश्वत अनन्त आनन्दमय सिद्धि प्राप्त करेगा।

कहाँ मृगापुत्र आदि का दुःखों से परिपूर्ण लम्बा भवभ्रमण और कहाँ सुबाहुकुमार आदि का सुखमय संसार ! दोनों की तुलना करने से पाप और पुण्य का अन्तर सरलता से समझा जा सकता है।

प्रथम अध्ययन में सुबाहुकुमार के वर्णन के सदृश ही अन्य अध्ययनों में शेष नौ पुण्यशालियों का वर्णन है। नाम, आदि की भिन्नता होने पर भी मुख्य तत्त्व समान ही है।

विस्तार के लिए मूल आगम देखना चाहिए।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध : सुखविपाक

प्रथम अध्ययन

प्रस्तावना

१—तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे, गुणसिलए चेइए, सुहम्मे समोसढे। जम्बू जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं अयमट्ठे पन्नत्ते, सुहविवागाणं भन्ते! समणेणं जाव सम्पत्तेणं के अट्ठे पन्नत्ते?

तए णं से सुहम्मे अणगारे जंबु अणगारं एवं वयासी—'एवं खलु जम्बू! समणेणं जाव सम्पत्तेणं सुहविवागाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता, तं जहा—

सुबाहू भद्दनंदी य, सुजाए य सुवासवे।
तहेव जिणदासे य धणवई य महब्बले॥
भद्दनंदी महच्चंदे वरदत्ते तहेव य॥

१—उस काल तथा उस समय राजगृह नगर के अन्तर्गत गुणशीलनामक चैत्य—उद्यान में अनगार श्रीसुधर्मा स्वामी पधारे। उनकी पर्युपासना—सेवा में संलग्न रहे हुए श्री जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—प्रभो! यावत् मोक्ष रूप परम स्थिति को संप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने यदि दुःख-विपाक का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादित किया, तो यावत् मुक्ति को सप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक का क्या अर्थ प्रतिपादित किया है?

(विनयशील अन्तेवासी) आर्य जम्बू की इस जिज्ञासा के उत्तर में अनगार श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बू अनगार के प्रति इस प्रकार बोले—हे जम्बू! यावत् निर्वाणप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुख-विपाक के दस अध्ययन प्रतिपादित किये है। वे इस प्रकार हैं—

(१) सुबाहु, (२) भद्रनंदी, (३) सुजात, (४) सुवासव, (५) जिनदास, (६) धनपति (७) महाबल (८) भद्रनंदी, (९) महचंद्र और (१०) वरदत्त।

२—'जइ णं भंते! समणेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता, पढमस्स णं भंते! अज्झयणस्स सुहविवागाणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पन्नत्ते? तए णं से सुहम्मे अणगारे जंबु अणगारं एवं वयासी—

२—हे भदन्त! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने यदि सुखविपाक के सुबाहु-कुमार आदि दश अध्ययन प्रतिपादित किये हैं तो हे भगवन्! मोक्ष को उपलब्ध श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुख-विपाक के प्रथम अध्ययन का क्या अर्थ कथन किया है?

इस प्रश्न के उत्तर में श्रीसुधर्मा स्वामी ने श्रीजम्बू अनगार के प्रति इस प्रकार कहा—

३—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिसीसे नामं नयरे होत्था—रिद्ध-त्थमियसमिद्धे। तत्थ णं हत्थिसीसस्स नयरस्स बहिया उत्तर-पुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं पुप्फ-करंडए नामं उज्जाणे होत्था, सव्वोउय-पुप्फ-फल-समिद्धे । तत्थ णं कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था, दिव्वे० ।

तत्थ णं हत्थिसीसे नयरे अदीणसत्तू नामं राया होत्था, महया हिमवंत-महंत-मलय-मंदर-महिदसारे। तस्स णं अदीणसत्तुस्स रन्नो धारिणीपामोक्खा देवीसहस्सं ओरोहे यावि होत्था ।

३—इस प्रकार निश्चय ही हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में हस्तिशीर्ष नाम का एक बड़ा ऋद्ध-भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित-स्वचक्र-परचक्र के भय से मुक्त, समृद्ध-धन-धान्यादि से परिपूर्ण नगर था। उस नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में अर्थात् ईशान कोण में सब ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले फल-पुष्पादि से युक्त पुष्पकरण्डक नाम का एक (रमणीय) उद्यान था। उस उद्यान में कृतवनमाल-प्रिय नामक यक्ष का यक्षायतन था। जो दिव्य—प्रधान एवं सुन्दर था।

वहां अदीनशत्रु नामक राजा राज्य करता था, जो कि राजाओं में हिमालय आदि पर्वतों के समान महान् था। अदीनशत्रु नरेश के अन्तःपुर में धारिणीप्रमुख अर्थात् धारिणी जिनमें प्रधान है, ऐसी एक हजार रानियां थीं।

सुबाहु का जन्म : गृहस्थजीवन

४—तए णं सा धारिणी देवी अन्नया कयाइ तंसि तारिसगंसि वासघरंसि (वासभवणंसि) सीहं सुमिणे जहा मेहस्स जम्मणं तह भाणियव्वं,[1] जाव सुबाहुकुमारे अलंभोगसमत्थे यावि होत्था। तए णं सुबाहुकुमारं अम्मापियरो बावत्तरिकलापंडियं जाव[2] अलंभोगसमत्थं वा वि जाणंति, जाणित्ता अम्मापियरो पंच पासायवडिंसगसयाइं कारवेंति अब्भुग्गयमूसियपहसियाइं। एगं च णं महं भवणं कारेंति एवं जहा महाबलस्स रन्नो णवरं पुप्फचूला पामोक्खाणं पंचण्हं रायवरकन्नसयाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेंति। तहेव पंचसइओ दाओ, जाव उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं जाव विहरइ।

४—तदनन्तर एक समय राजकुलउचित वासभवन में शयन करती हुयी धारिणी देवी ने स्वप्न में सिंह को देखा। जैसे ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र में वर्णित मेघकुमार का जन्म कहा गया है, उसी प्रकार पुत्र सुबाहु के जन्म आदि का वर्णन भी जान लेना चाहिये। यावत् सुबाहुकुमार सांसारिक कामभोगों का उपभोग करने में समर्थ हो गया। तब सुबाहुकुमार के माता-पिता ने उसे बहत्तर कलाओं में कुशल तथा भोग भोगने में समर्थ हुआ जाना, और जानकर उसके माता-पिता ने जिस प्रकार भूषणों में मुकुट सर्वोत्तम होता है, उसी प्रकार महलों में उत्तम पांच सौ महलों का निर्माण करवाया जो अत्यन्त ऊंचे, भव्य एवं सुन्दर थे। उन प्रासादों के मध्य में एक विशाल भवन तैयार करवाया, इत्यादि सारा वर्णन महाबल राजा ही की तरह जान लेना चाहिए। महाबल ही की तरह सम्पन्न हुए सुबाहुकुमार के विवाह में विशेषता यह है कि—पुष्पचूला प्रमुख पांच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ एक ही दिन में उसका विवाह कर दिया गया। इसी तरह पांच सौ का प्रीतिदान—दहेज उसे

---

१. ज्ञाताधर्मकथांग, अ० १. २. औ. सूत्र-१४७

दिया गया। तदनन्तर सुबाहुकुमार ऊपर सुन्दर प्रासादों में स्थित, जिसमें मृदंग बजाये जा रहे हैं, ऐसे नाट्यादि से उद्गीयमान होता हुआ मानवोचित मनोज्ञ विषयभोगों का यथारुचि उपभोग करने लगा।

सुबाहु का धर्म-श्रवण

५—तेणं कालेणं तेणं समएणं, समणे भगवं महावीरे समोसढे। परिसा निग्गया। अदीणसत्तू जहा कूणिओ निग्गओ सुबाहू वि जहा जमाली तहा रहेणं निग्गए,[1] जाव धम्मो कहिओ। राया परिसा गया।

५—उस काल तथा उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हस्तिशीर्ष नगर में पधारे। परिषद् (जनता) धर्मदेशना सुनने के लिए नगर से निकली, जैसे महाराजा कूणिक निकला था, अदीनशत्रु राजा भी उसी तरह भगवद्दर्शन तथा देशनाश्रवण करने के लिये निकला। जमालिकुमार की तरह सुबाहुकुमार ने भी भगवान् के दर्शनार्थ रथ से प्रस्थान किया। यावत् भगवान् ने धर्म का प्रतिपादन किया, परिषद् और राजा धर्मदेशना सुनकर वापस लौट गये।

गृहस्थधर्म का स्वीकार

६—तए णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, वंदित्ता नमंसइ, नमंसित्ता एवं वयासी—'सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं। जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर जाव प्पभिईओ मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जामि।"

"अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।"

तए णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जइ। पडिवज्जित्ता तमेव रहं दुरूहइ, दुरूहित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।

६—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट धर्मकथा श्रवण तथा मनन करके अत्यन्त प्रसन्न हुआ सुबाहुकुमार उठकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन, नमस्कार करने के अनन्तर कहने लगा—'भगवन्! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ यावत् जिस तरह आपके श्रीचरणों में अनेकों राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि उपस्थित होकर, मुंडित होकर तथा गृहस्थावस्था से निकलकर अनगारधर्म में दीक्षित हुए हैं, अर्थात् राजा, ईश्वर आदि ने पंच महाव्रतों को स्वीकार किया है, वैसे मैं मुंडित होकर घर त्यागकर अनगार अवस्था को धारण करने में समर्थ नहीं हूँ। मैं पांच अणुव्रतों तथा सात शिक्षाव्रतों का जिसमें विधान है, ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अंगीकार करना चाहता हूँ।

---

१. देखें भगवतीसूत्र, श. ९

उत्तर में भगवान् ने कहा—'जैसे तुमको सुख हो वैसा करो, किन्तु इसमें देर मत करो।'

ऐसा कहने पर सुबाहुकुमार ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समक्ष पांच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों वाले बारह प्रकार के गृहस्थधर्म को स्वीकार किया। अर्थात् उक्त द्वादशविध व्रतों के यथाविधि पालन करने का नियम ग्रहण किया। तदनन्तर उसी रथ पर सुबाहुकुमार सवार हुआ और सवार होकर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में वापस चला गया।

गौतम की सुबाहुविषयक जिज्ञासा

७—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इन्दभूई जाव एवं वयासी—"अहो णं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्ठे, इट्ठरूवे, कंते, कंतरूवे, पिये, पियरूवे, मणुन्ने, मनुन्नरूवे, मणामे, मणामरूवे, सोमे, सोमरूवे, सुभगे, सुभगरूवे, पियंदसणे सुरूवे। बहुजणस्स वि य णं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्ठे जाव सुरूवे। साहुजणस्स वि य णं ! सुबाहुकुमारे इट्ठे इट्ठरूवे जाव सुरूवे। सुबाहुणा भंते ! कुमारेणं इमा एयारूवा उराला माणुस्सरिद्धि किन्ना लद्धा ? किन्ना पत्ता ? किन्ना अभिसमन्नागया ? के वा एस आसी पुव्वभवे ?" जाव (किनामए वा किं वा गोत्तेणं ? कयरंसि गामंसि वा संनिवेसंसि वा ? किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा समायरित्ता कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं वयणं सोच्चा निसम्म सुबाहुणा कुमारेण इमा एयारूवा माणुसिड्ढी लद्धा पत्ता) अभिसमन्नागया ?

७—उस काल तथा उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम अनगार यावत् इस प्रकार कहने लगे—'अहो भगवन् ! सुबाहुकुमार बालक (बहुजन इष्ट) बड़ा ही इष्ट, इष्टरूप, कान्त, कान्तरूप, प्रिय, प्रियरूप, मनोज्ञ, मनोज्ञरूप, मनोम, मनोमरूप, सौम्य, सुभग, प्रियदर्शन और सुरूप—सुन्दर रूप वाला है। अहो भगवन् ! यह सुबाहुकुमार साधुजनों को भी इष्ट, इष्ट रूप यावत् सुरूप लगता है।

भदन्त ! सुबाहुकुमार ने यह अपूर्व मानवीय समृद्धि कैसे उपलब्ध की ? कैसे प्राप्त की ? और कैसे उसके सन्मुख उपस्थित हुई ? सुबाहुकुमार पूर्वभव में कौन था ? यावत् इसका नाम और गोत्र क्या था ? किस ग्राम अथवा बस्ती में उत्पन्न हुआ था ? क्या दान देकर, क्या उपभोग कर और कैसे आचार का पालन करके और किस श्रमण या माहन के एक भी आर्यवचन को श्रवण कर सुबाहुकुमार ने ऐसी यह ऋद्धि लब्ध एवं प्राप्त की है, कैसे यह समृद्धि इसके सन्मुख उपस्थित हुई है ?

विवेचन—सुबाहुकुमार की व्यावहारिक जीवन जीने की कला इतनी अद्भुत और आकर्षक थी कि वह ग्राम जनसमुदाय का प्रीति-भाजन बन गया। उससे सभी प्रसन्न थे। प्राणों के अन्तराल से उसे चाहते थे। जन-मन के हृदय में देवता की तरह उसने स्थान बना लिया था। इतना ही नहीं, वह साधुजनों का भी स्नेहपात्र बन गया था। आध्यात्मिक साधना की दिशा मे प्रतिपल जागृत व प्रगति-शील रहने के कारण निःस्वार्थ, स्वभावतः अनासक्त एवं निष्काम वृत्ति वाले साधुपुरुषों के हृदय में भी सुबाहु का प्रेम-पूर्ण स्थान बन गया। यहाँ सुबाहुकुमार के लिये जो अनेक विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, वे सामान्य दृष्टि से समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु उन सब के अर्थ में थोड़ा अन्तर है, जो इस प्रकार है—

इष्ट—जो चाहने योग्य हो, जिसकी इच्छा की जाय, वह इष्ट होता है।

इष्टरूप—किसी की चाह उसके विशेष कृत्य को उपलक्षित करके भी सम्भव है, अतः इष्टरूप अर्थात् उसकी आकृति ही ऐसी थी जिससे इष्ट प्रतीत होता था।

कान्त—इष्टरूपता भी अन्यान्य कारणों से संभवित है, अतः स्वरूपतः कान्त—रमणीय था।

कान्तरूप—सुन्दर स्वभाव वाला। (सुबाहु की इष्टता में उसका सुन्दर स्वभाव कारण था।)

प्रिय—सुन्दर स्वभाव होने पर भी कर्म के प्रभाव से प्रेम उत्पन्न करने में असमर्थ रह सकता है, अतः प्रेम का उत्पादक जो हो वह प्रिय।

प्रियरूप—जिसका रूप प्रिय—प्रीतिजनक हो।

मनोज्ञ-मनोज्ञरूप—आन्तरिक वृत्ति से जिसकी शोभनता अनुभव में आवे वह मनोज्ञ, उसके रूप वाला मनोज्ञरूप कहलाता है।

मनोम, मनोमरूप—किसी की मनोज्ञता तात्कालिक भी हो सकती है, अतः मनोम विशेषण से जिसकी सुन्दरता का स्मरण बार-बार किया जाय।

सोम—रुद्रतारहित व्यक्ति सोम—सौम्य स्वभाव वाला होता है।

सुभग—वल्लभता वाला।

सुरूप—सुन्दर आकार तथा स्वभाव वाले को सुरूप कहते हैं।

प्रियदर्शन—प्रेम का जनक आकार और उस आकार वाला।

भगवान् द्वारा समाधान

८—एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे नामं नयरे होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धे। तत्थ णं हत्थिणाउरे नयरे सुमुहे नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे।

८—हे गौतम! उस काल तथा उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत-वर्ष में हस्तिनापुर नाम का एक ऋद्ध, स्तमित एवं समृद्ध नगर था। वहां सुमुख नाम का धनाढ्य गाथापति रहता था।

९—तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा नामं थेरा जाइसंपन्ना जाव पंचहिं समणसएहिं सद्धिं संपरिवुडा पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा जेणेव हत्थिणाउरे नयरे, जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छन्ति। उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

९—उस काल तथा उस समय उत्तम जाति और कुल से सम्पन्न अर्थात् श्रेष्ठ मातृपक्ष एवं पितृपक्ष वाले यावत् पांच सौ श्रमणों से परिवृत हुए धर्मघोष नामक स्थविर (जाति, श्रुत व पर्याय से वृद्ध) क्रमपूर्वक चलते हुए तथा ग्रामानुग्राम विचरते हुए हस्तिनापुर नगर के सहस्राम्रवननामक

उद्यान में पधारे। पधार कर वहां यथाप्रतिरूप—अनगार धर्म के अनुकूल अवग्रह (आश्रयस्थान) को ग्रहण करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन—स्थविर शब्द का सामान्य अर्थ वृद्ध या बड़ा साधु होता है। स्थानांग में तीन प्रकार के स्थविर बताये हैं—१. जातिस्थविर २. श्रुतस्थविर ३. पर्यायस्थविर। साठ वर्ष की अवस्था वाला मुनि जातिस्थविर कहलाता है। स्थानांग व समवायांग का पाठी श्रुतस्थविर गिना जाता है। कम से कम बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला पर्यायस्थविर माना जाता है। (स्थानांग सूत्र स्थान ३, उ. ३) ज्ञातासूत्र आदि में गणधरों को भी स्थविर पद से सम्बोधित किया है।

१०—तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसाणं थेराणं अंतेवासी सुदत्ते नामं अणगारे उराले जाव तेउलेस्से मासंमासेण खममाणे विहरइ। तए णं से सुदत्ते अणगारे मासक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, जहा गोयमस्वामी तहेव, धम्मघोसे थेरे आपुच्छइ, जाव अडमाणे सुमुहस्स गाहावइस्स गेहे अणुप्पविट्ठे।

१०—उस काल और उस समय में धर्मघोष स्थविर के अन्तेवासी—शिष्य उदार-प्रधान यावत् तेजोलेश्या को संक्षिप्त किये हुए (अनेक योजन प्रमाण वाले क्षेत्र में स्थित वस्तुओं को भस्म कर देने वाली तेजोलेश्या—घोर तप से प्राप्त होने वाली लब्धि-विशेष, को अपने में संक्षिप्त—गुप्त किये हुए) सुदत्त नाम के अनगार एक मास का क्षमण-तप करते हुए अर्थात् एक-एक मास के उपवास के बाद पारणा करते हुए विचरण कर रहे थे। एक बार सुदत्त अनगार मास-क्षमण पारणे के दिन प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करते हैं, दूसरे प्रहर में ध्यान करते हैं और तीसरे प्रहर में श्री गौतम स्वामी जैसे श्रमण भगवान् महावीर से भिक्षार्थ गमन के लिये पूछते हैं, वैसे ही वे धर्मघोष स्थविर से पूछते हैं, यावत् भिक्षा के लिये भ्रमण करते हुए सुमुख गाथापति के घर में प्रवेश करते हैं।

विवेचन—हमने यहां 'धम्मघोसे थेरे आपुच्छइ' ऐसा ही पाठ रक्खा है परन्तु इसके स्थान पर 'सुहम्मे थेरे आपुच्छइ' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है। प्रकृत में सुधर्मा स्थविर का कोई प्रसंग न होने से 'धम्मघोसे थेरे आपुच्छइ' पाठ प्रसंग के अनुकूल व युक्तिसङ्गत लगता है। अन्यथा 'सुहम्मे थेरे' पाठ से श्री जम्बू स्वामी के गुरु श्री-सुधर्मा स्वामी के ग्रहण की भी भूल हो जाना सम्भव है। फिर भी 'सुहम्मे थेरे' इस पाठ की अवहेलना नहीं की जा सकती है, कारण वह अनेक प्रतियों में उपलब्ध है, अतः "स्थितस्य गतिश्चिंतनीया" इस न्याय को अभिमुख रखकर सूत्रगत पाठ का यदि विचार किया जाय तो सम्भव है 'सुधर्मा' शब्द से सूत्रकार को भी धर्मघोष स्थविर ही इष्ट हो। धर्मघोष मुनि का ही दूसरा नाम सुधर्मा होना चाहिए। इसी अभिप्राय से शायद सूत्रकार ने धर्म-घोष के बदले सुधम्मे—सुधर्मा पद का उल्लेख किया है। इस पाठ के सम्बन्ध में वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि 'सुहम्मे थेरे' 'त्ति धर्मघोषस्थविरमित्यर्थः धर्मशब्दसाम्यात् शब्दद्वयस्याप्येकार्थत्वात्' इस प्रकार करते हैं। तात्पर्य यह है सुधर्मा और धर्मघोष इन दोनों के नामों में 'धर्म' शब्द समान है। इस समानता को लेकर ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के परिचायक हैं—सुधर्मा शब्द से धर्मघोष और धर्म-घोष शब्द से सुधर्मा का ग्रहण होता है। तत्त्व सर्वज्ञगम्य है।

११—तए णं से सुमुहे गाहावई सुदत्तं अणगारं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठे आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता पाउयाओ ओमुयइ, ओमुइत्ता एगसाडियं

उत्तरासंगं करेइ, करित्ता सुदत्तं अणगारं सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्गच्छइ, पच्चुग्गच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुमहत्थेणं विउलेणं असणपाणेणं पडिलाभिस्सामि त्ति तुट्ठे पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे, पडिलाभिए वि तुट्ठे।

११—तदनन्तर वह सुमुख गाथापति सुदत्त अनगार को आते हुए देखता है और देखकर अत्यन्त हर्षित और प्रसन्न होकर आसन से उठता है। आसन से उठकर पाद-पीठ—पैर रखने के आसन से नीचे उतरता है। उतरकर पादुकाओं को छोड़ता है। छोड़कर एक शाटिक—एक कपड़ा जो बीच में सिया हुआ न हो, इस प्रकार का उत्तरासंग (उत्तरीय वस्त्र का शरीर में न्यास) करता है; उत्तरासंग करने के अनन्तर सुदत्त अनगार के सत्कार के लिये सात-आठ कदम सामने जाता है। सामने जाकर तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा करता है, वंदन करता है, नमस्कार करके जहाँ अपना भक्तगृह—भोजनालय था वहां आता है। आकर अपने हाथ से विपुल अशन पान का—आहार का दान दूँगा अथवा दान का लाभ प्राप्त करूँगा, इस विचार से अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है। वह देते समय भी प्रसन्न होता है और आहारदान के पश्चात् भी प्रसन्नता का अनुभव करता है।

१२—तए णं तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं[1] गाहकसुद्धेणं दायकसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए समाणे संसारे परित्तीकए,[2] मणुस्साउए निबद्धे! गेहंसि य से इमाइं पंच दिव्वाइं[3] पाउब्भूयाइं, तंजहा—

१. वसुहारा वुट्ठा
२. दसद्धवण्णे कुसुमे निवाडिए
३. चेलुक्खेवे कए
४. आहयाओ देवदुन्दुभीओ
५. अंतरा वि य णं आगासे 'अहो दाणं अहो दाणं' घुट्ठे य।

---

१. दव्वसुद्धेणं गाहग-सुद्धेण दायग-सुद्धेणं—द्रव्य शुद्धि, ग्राहकशुद्धि और दाता की शुद्धि इस प्रकार है—देयशुद्धि—सुमुख गाथापति द्वारा निर्दोष आहार देना, दातृ-शुद्धि—दान से पहिले, देते समय और दान देने के पश्चात् सुमुख के चित्त मे आनन्द का अनुभव होना, हर्षित मन वाला होना। आदाता-ग्राहक मास-क्षमण-तपोधनी सुदत्त मुनि। इस प्रकार देय दाता व आदाता की पवित्रता से दान उत्तम फल-दायी होता है।

२. परिसमन्तात् इतः गतः इति परीत.। अपरीतः परीनीकृत इति परीतीकृत.—पराङ्मुखीकृतः—अल्पीकृत इत्यर्थः। संसार को संक्षिप्त कर देना।

३. दिव्वाइं=१. देवता सम्बन्धी वसु-सुवर्ण और उसकी लगातार वृष्टि धारा कहलाती है। देवकृत सुवर्ण-वृष्टि को ही वसुधारा कहते हैं। २. कृष्ण, नील, पीत, श्वेत और रक्त पांच रंग पुष्पों में पाये जाते हैं। देवों द्वारा बरसाए गये ये पुष्प वैक्रिय-लब्धिजन्य हैं, अतः अचित्त होते हैं। ३. चेलोत्क्षेप—चेल-वस्त्र, उसका उत्क्षेप—फेंकना चेलोत्क्षेप कहा जाता है। ४. देवदुन्दुभिनाद—देव-दुन्दुभियों का बजना। ५. आश्चर्य उत्पन्न करने वाले दान की 'अहो दान' संज्ञा है। जिस दान के प्रभाव से आकर्षित हो देवता स्वयं ऐसा करते हों उसे अहोदान शब्द से कहना युक्तिसंगत ही है।

हत्थिणाउरे सिंघाडग जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवं आइक्खइ ४—'धन्ने णं देवाणुप्पिया ! सुमुहे गाहावई जाव गाहावई जाव (एवं कयलक्खे णं सुलद्धे णं सुमुहस्स गाहावइस्स जम्मजीवियफले, जस्स णं इमा एयारूवा उराला माणुसिड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमन्नागता) तं धन्ने—५ णं सुमुहे गाहावई !'

१२—तदनन्तर उस सुमुख गाथापति के शुद्ध द्रव्य (निर्दोष आहारदान) से तथा त्रिविध, त्रिकरण शुद्धि से अर्थात् मन वचन और काय की स्वाभाविक उदारता सरलता एवं निर्दोषता से सुदत्त अनगार के प्रतिलम्भित होने पर अर्थात् सुदत्त अनगार को विशुद्ध भावना द्वारा शुद्ध आहार के दान से अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुए सुमुख गाथापति ने संसार को (जन्म-मरण की परम्परा को) बहुत कम कर दिया और मनुष्य आयुष्य का बन्ध किया। उसके घर में सुवर्णवृष्टि, पांच वर्णों के फूलों की वर्षा, वस्त्रों का उत्क्षेप (फेंकना) देवदुन्दुभियों का बजना तथा आकाश में 'अहोदान' इस दिव्य उद्घोषणा का होना—ये पाँच दिव्य प्रकट हुए।

हस्तिनापुर के त्रिपथ यावत् सामान्य मार्गों में अनेक मनुष्य एकत्रित होकर आपस में एक दूसरे से कहते थे—हे देवानुप्रियो ! धन्य है सुमुख गाथापति ! सुमुख गाथापति सुलक्षण है, कृतार्थ है, उसने जन्म और जीवन का सुफल प्राप्त किया है जिसे इस प्रकार की यह मानवीय ऋद्धि प्राप्त हुई। वास्तव में धन्य है सुमुख गाथापति !

विवेचन—भावनाशील और सरलचेता दाता को दान देते हुए तीन बार हर्ष होता है—(१) आज मैं दान दूंगा, आज मुझे सद्भाग्य से दान देने का स्वर्णावसर उपलब्ध हुआ है, यह प्रथम हर्ष ! फिर दान देने के समय उसके रोंये-रोंये में आनन्द उभरता है, यह दूसरा हर्ष ! और दान देने के पश्चात् अन्तरात्मा में संतोष व आनन्द वृद्धिगत होता रहता है, यह तीसरा हर्ष।

दूसरी तरह देय, दाता व प्रतिग्राहक पात्र, ये तीनों ही शुद्ध हों तो वह दान जन्म-मरण के बन्धनों को तोड़ने वाला और संसार को परित्त-संक्षिप्त—कम करने वाला होता है।

१३—तए णं से सुमुहे गाहावई बहूहिं वाससयाइं आउयं पालेइ, पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इहेव हत्थिसीसे नयरे अदीणसत्तुस्स रन्नो धारिणीए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने। तए णं सा धारिणी देवी सयणिज्जंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी तहेव सीहं पासइ, सेसं तं चेव जाव उप्पि पासाए विहरइ।

तं एवं खलु, गोयमा ! सुबाहुणा इमा एयारूवा माणुस्सरिद्धी लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया।

१३—तदनन्तर वह सुमुख गाथापति सैकड़ों वर्षों की आयु का उपभोग कर काल-मास में काल करके इसी हस्तिशीर्षक नगर में अदीनशत्रु राजा की धारिणी देवी की कुक्षि में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ (गर्भ में आया)। तत्पश्चात् वह धारिणी देवी किञ्चित् सोई और किञ्चित् जागती हुई स्वप्न में सिंह को देखती है। शेष वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। यावत् उन्नत प्रासादों में मानव सम्बन्धी उदार भोगों का यथेष्ट उपभोग करता विचरता है।

भगवान् ने कहा—हे गौतम ! सुबाहुकुमार को उपर्युक्त महादान के प्रभाव से इस तरह की मानव-समृद्धि उपलब्ध तथा प्राप्त हुई और उसके समक्ष समुपस्थित हुई है।

१४—"पभू णं भन्ते ! सुबाहुकुमारे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ?"

'हंता पभू' ।

तए णं से भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं से समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ हत्थिसीसाओ नयराओ पुप्फकरंडाओ उज्जाणाओ कयवणमालज-क्खाययणाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ ।

तए णं से सुबाहुकुमारे समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव[1] पडिलाभेमाणे विहरइ ।

१४—गौतम—प्रभो ! सुबाहुकुमार आपश्री के चरणों में मुण्डित होकर, गृहस्थावास को त्याग कर अनगार धर्म को ग्रहण करने में समर्थ है ?

भगवान्—हाँ गौतम ! है अर्थात् प्रव्रजित होने में समर्थ है ।

तदनन्तर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना व नमस्कार किया । वन्दना नमस्कार करके संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विहरण करने लगे ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने किसी अन्य समय हस्तिशीर्ष नगर के पुष्प-करण्डक उद्यानगत कृतवनमाल नामक यक्षायतन से विहार किया और विहार करके अन्य देशों में विचरने लगे ।

इधर सुबाहुकुमार श्रमणोपासक-देशविरत श्रावक हो गया । जीव अजीव आदि तत्वों का मर्मज्ञ यावत् आहारादि के दान-जन्य लाभ को प्राप्त करता हुआ समय व्यतीत करने लगा ।

विवेचन—भगवान् महावीर की धर्मदेशना से प्रभावित व प्रतिबोधित हुए सुबाहुकुमार ने भगवान् से कहा था—प्रभो ! आपके पास अनेक राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, साधु धर्म को स्वीकार करते हैं परन्तु मैं उस सर्वविरति रूप साधुधर्म को स्वीकार करने में समर्थ नहीं हूँ । अतः आप मुझे देशविरति धर्म—अणुव्रत पालन का ही नियम करावें ।

सुबाहुकुमार के उक्त कथन को स्मृति मे रखते हुए गौतम स्वामी ने 'पभू णं, भंते ! सुबाहु-कुमारे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ?' इस प्रश्न में 'पभू' शब्द का इसी अभिप्राय से प्रयोग किया लगता है ।

१५—तए णं से सुबाहुकुमारे अन्नया कयाइ चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोसहसालं पमज्जइ, पमज्जित्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ पडिलेहित्ता दब्भसंथारगं संथरइ संथरित्ता दब्भसंथारं दुरुहइ, दुरुहित्ता अट्ठमभत्तं पगिण्हइ, पगिण्हित्ता पोसहसालाए पोसहिए अट्ठमभत्तिए पोसहं पडिजागरमाणे पडिजागरमाणे विहरइ ।

१५—तत्पश्चात् किसी समय वह सुबाहुकुमार चतुर्दशी, अष्टमी, उद्दिष्ट-अमावस्या और

---

१. देखिये समिति द्वारा प्रकाशित उपासकदशांग पृ. ६२.

पूर्णमासी, इन तिथियों में जहाँ पौषधशाला थी—पोषधव्रत करने का स्थान-विशेष था—वहाँ आता है। आकर पौषधशाला का प्रमार्जन करता है, प्रमार्जन कर उच्चारप्रस्रवणभूमि—मल-मूत्र विसर्जन के स्थान की प्रतिलेखना—निरीक्षण करता है। दर्भसंस्तार—कुशा के आसन को बिछाता है। बिछाकर दर्भ के आसन पर आरूढ होता है और अट्ठमभक्त—तीन दिन का लगातार उपवास ग्रहण करता है। पौषधशाला में पौषधिक—पौषधव्रत[1] धारण किये हुए वह, अष्टमभक्त सहित पौषध—अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में करने योग्य जैन श्रावक का व्रत-विशेष अथवा आहारादि के त्याग-पूर्वक किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठान-विशेष—का यथाविधि पालन करता हुआ अर्थात् तेला-पौषध करके विहरण करता है।

१६—तए णं तस्स सुबाहुस्स कुमारस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—धन्ना णं ते गामागर-नगर-निगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-दोणमुह-मडंब-पट्टणासम-संबाह-सन्निवेसा जत्थ णं समणे भगवं महावीरे विहरइ।

धन्ना णं ते राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभिइओ जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडा जाव पव्वयंति।

धन्ना णं ते राईसरतलवर० जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जन्ति।

धन्ना णं ते राईसरतलवर० जाव जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए धम्मं सुणेन्ति।

तं जइ णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागच्छिज्जा जाव विहरिज्जा, तए णं अहं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता जाव (अगाराओ अणगारियं) पव्वएज्जा।

१६—तदन्तर मध्य रात्रि में धर्मजागरण के कारण जागते हुए सुबाहुकुमार के मन में यह आन्तरिक विचार, चिन्तन, कल्पना, इच्छा एवं मनोगत संकल्प उठा कि—वे ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी, खेट (खेडे) कर्बट, द्रोणमुख, मडम्ब, पट्टन, आश्रम, संबाध और सन्निवेश धन्य हैं जहाँ पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरते हैं।

वे राजा, ईश्वर, तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह आदि भी धन्य हैं जो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट मुण्डित होकर प्रव्रजित होते हैं।

---

१. धर्म की पुष्टि करने वाले नियमविशेष का धारण करना पौषधव्रत कहलाता है। इसमें आहारादि के त्याग के साथ ही शरीर के शृंगार का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन, व्यापार-व्यवहार का भी वर्जन अपेक्षित है। चारों प्रकार के आहार के त्यागपूर्वक किया जाने वाला पौषधव्रत पौषधोपवास कहलाता है : 'पोषणं पोषः पुष्टिरित्यर्थः तं धत्ते गृह्णाति इति पौषधः।'

वे राजा, ईश्वर आदिक धन्य हैं जो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास पञ्चाणुव्रतिक और सप्त शिक्षाव्रतिक (पांच अणुव्रतों एवं सात शिक्षाव्रतों का जिसमें विधान है) उस बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार करते हैं।

वे राजा ईश्वर आदि धन्य हैं जो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास धर्म-श्रवण करते हैं।

सो यदि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पूर्वानुपूर्वी—क्रमशः गमन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते हुए, यहाँ पधारें तो मैं गृह त्याग कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास मुंडित होकर प्रव्रजित हो जाऊँ।

१७—तए णं समणे भगवं महावीरे सुबाहुस्स कुमारस्स इमं एयारूवं अज्झत्थियं जाव[1] वियाणित्ता पुव्वाणुपुव्विं जाव[2] दूइज्जमाणे जेणेव हत्थिसीसे णयरे जेणेव पुप्फकरंडे उज्जाणे जेणेव कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खाययणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

परिसा राया निग्गया। तए णं तस्स सुबाहुस्स कुमारस्स तं महया जणसद्दं वा जणसण्णिवायं वा जहा जमाली तहा निग्गओ[3]। धम्मो कहिओ। परिसा राया पडिगया।

१७—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी सुबाहु कुमार के इस प्रकार के संकल्प को जानकर क्रमशः ग्रामानुग्राम विचरते हुए जहाँ हस्तिशीर्षनगर था, और जहाँ पुष्पकरण्डक नामक उद्यान था, और जहाँ कृतवनमालप्रिय यक्ष का यक्षायतन था, वहाँ पधारे एवं यथा प्रतिरूप—अनगार वृत्ति के अनुकूल अवग्रह-स्थानविशेष को ग्रहण कर संयम व तप से आत्मा को भावित करते हुए अवस्थित हुए।

तदनन्तर परिषदा व राजा दर्शनार्थ निकले। सुबाहुकुमार भी पूर्व ही की तरह बड़े समारोह के साथ भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ। भगवान् ने उस परिषद् तथा सुबाहुकुमार को धर्म का प्रतिपादन किया। परिषद् और राजा धर्मदेशना सुन कर वापिस चले गये।

१८—तए णं सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जहा मेहो तहा अम्मापियरो आपुच्छइ।[4] निक्खणाभिसेओ तहेव जाव अणगारे जाव इरियासमिए जाव गुत्तबंभयारी।

१८—सुबाहुकुमार श्रमण भगवान् महावीर के पास से धर्म श्रवण कर उसका मनन करता हुआ (ज्ञाताधर्मकथा में वर्णित) श्रेणिक राजा के पुत्र मेघकुमार की तरह अपने माता-पिता से अनुमति लेता है। तत्पश्चात् सुबाहुकुमार का निष्क्रमण-अभिषेक मेघकुमार ही की तरह होता है। यावत् वह अनगार हो जाता है, ईर्यासमिति का पालक यावत् गुप्त ब्रह्मचारी बन जाता है।

१-२—देखिये ऊपर का १६ वां सूत्र। ३. भगवती श. ९।

४. देखिये ज्ञाताधर्मकथा, प्र. अ.।

१९—तए णं से सुबाहू अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं[1] एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठमतवोवहाणेहिं अप्पाणं भवित्ता बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने।

१९—तदनन्तर सुबाहु अनगार श्रमण भगवान् महावीर के तथारूप स्थविरों के पास से सामायिक आदि एकादश अङ्गों का अध्ययन करते हैं। अनेक उपवास, बेला, तेला आदि नाना प्रकार के तपों के आचरण से आत्मा को वासित करके अनेक वर्षों तक श्रामण्यपर्याय (साधुवृत्ति) का पालन कर एक मास की संलेखना (एक अनुष्ठान-विशेष जिसमें शारीरिक व मानसिक तप द्वारा कषाय आदि का नाश किया जाता है) के द्वारा अपने आपको आराधित कर साठ भक्तों—भोजनों का अनशन द्वारा छेदन कर अर्थात् २९ दिन का अनशन कर आलोचना व प्रतिक्रमणपूर्वक समाधि को प्राप्त होकर कालमास में काल करके सौधर्म देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए।

विवेचन—यहाँ यह शङ्का सम्भव है कि 'मासियाए संलेहणाए' शब्द का उल्लेख करने के बाद 'सट्ठिभत्ताइं' का उल्लेख हुआ है, जो २९ दिन का ही वाचक है तो 'मासियाए संलेहणाए' की अर्थसङ्गति कैसे बैठेगी?

हमारी दृष्टि से इसकी यह सङ्गति सम्भव है कि प्रत्येक ऋतु में मासगत दिनों की संख्या समान नहीं होती है, अतः जिस ऋतु में जिस मास के २९ दिन होते हैं उस मास को ग्रहण करने के लिये सूत्रकार ने 'मासियाए संलेहणाए' शब्द ग्रहण किया है। यह पद देकर भी 'सट्ठिभत्ताइं' जो पद दिया है उससे यही द्योतित होता है कि २९ दिन के मास में ही साठ भक्त-भोजन छोड़े जा सकते हैं, ३० दिन के मास में नहीं।

२०—से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लहिहिइ, लहिहित्ता केवलं बोहिं बुज्झिहिइ, बुज्झिहित्ता तहारूवाणं थेराणं अंतिए मुंडे जाव पव्वइस्सइ। से णं तत्थ बहूइं वासाइं सामण्णं पाउणिहिइ, पाउणिहित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालगए सणंकुमारे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिइ।

से णं ताओ देवलोगाओ माणुस्सं, पव्वजा बंभलोए। माणुस्सं। तओ महासुक्के। तओ माणुस्सं, आणए देवे। तओ माणुस्सं, आरणे। तओ माणुस्सं, सव्वट्ठसिद्धे।

से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता महाविदेहे वासे जाइं अड्ढाइं जहा दढपइन्ने, सिज्झिहिइ।

---

१. सामायिक शब्द चारित्र के पंचविध विभागों में से प्रथम विभाग-पहला चारित्र, श्रावक का नवम व्रत, आवश्यक सूत्र का प्रथम विभाग तथा संयमविशेष इत्यादि अनेक अर्थों का द्योतक है। प्रकृत में सामायिक का अर्थ प्रथम अङ्ग आचाराङ्ग ग्रहण करना अनुकूल प्रतीत होता है, कारण 'सामाइयमाइयाइं' ऐसा उल्लेख है और वह 'एक्कारस अंगाइं' का विशेषण है अर्थात् सामायिक है आदि में जिसके ऐसे ग्यारह अङ्ग। ग्यारह अङ्गों के नाम ये हैं—आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, उपासकदशाङ्ग, अन्तकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र।

२०—तदनन्तर वह सुबाहुकुमार का जीव सौधर्म देवलोक से श्रायु, भव श्रौर स्थिति के क्षय होने पर व्यवधान रहित देव शरीर को छोड़कर सीधा मनुष्य शरीर को प्राप्त करेगा। प्राप्त करके शंकादि दोषों से रहित केवली—बोधि का लाभ करेगा, बोधि उपलब्ध कर तथारूप स्थविरों के पास मुंडित होकर साधुधर्म में प्रव्रजित हो जाएगा। वहाँ वह श्रनेक वर्षों तक श्रामण्यपर्याय—संयम व्रत का पालन करेगा श्रौर श्रालोचना तथा प्रतिक्रमण कर समाधि को प्राप्त होगा। काल धर्म को प्राप्त कर सनत्कुमारनामक तीसरे देवलोक में देवता के रूप से उत्पन्न होगा।

वहाँ से पुनः मनुष्य भव प्राप्त करेगा। दीक्षित होकर यावत् महाशुक्र नामक देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यव कर फिर मनुष्य-भव में जन्म लेगा श्रौर पूर्व की ही तरह दीक्षित होकर यावत् श्रानत नामक नवम देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ की भवस्थिति को पूर्ण कर मनुष्य-भव में श्राकर दीक्षित हो श्रारण नाम के ग्यारहवें देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यव कर मनुष्य-भव को धारण करके श्रनगार-धर्म का श्राराधन कर शरीरान्त होने पर सर्वार्थसिद्ध नामक विमान में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवकर सुबाहुकुमार का वह जीव व्यवधानरहित महाविदेह क्षेत्र में सम्पन्न कुलों में से किसी कुल में उत्पन्न होगा। वहाँ दृढप्रतिज्ञ[1] की भाँति चारित्र प्राप्त कर सिद्धपद को प्राप्त करेगा।

विवेचन—'श्राउक्खएणं' श्रादि तीन शब्दों की व्याख्या वृत्तिकार श्री श्रभयदेव सूरि ने इस प्रकार की है—'श्राउक्खएणं त्ति—श्रायुष्यकर्मनिर्जरेण, भवक्खएण त्ति देवगतिनिबन्धनदेवगत्यादिकर्म-द्रव्यनिर्जरेण, ठिइक्खएणं श्रायुष्यकर्मादिकर्मस्थितिविगमेन।' श्रायु शब्द से श्रायुष्कर्म के दलिकों या कर्मवर्गणाश्रों का क्षय इष्ट है। भव शब्द से देवगति में कारणभूत देवगति नामकर्म के कर्मदलिकों का नाश गृहीत है—श्रौर स्थिति शब्द से श्रायुष्कर्म के दलिक जितने समय तक श्रात्मप्रदेशों से सम्बधित रहते हैं, उस कालस्थिति का नाश स्थितिनाश कहा जाता है।

२१—एवं खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं पढमस्स श्रज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। त्ति बेमि।

२१—श्रार्य सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू ! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक अंग के प्रथम श्रध्ययन का यह श्रर्थ प्रतिपादित किया है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ प्रथम श्रध्ययन समाप्त ॥

---

१. 'दृढप्रतिज्ञ' के वर्णन के लिये देखिए—औप, सूत्र—१४१-१५४

द्वितीय अध्ययन

भद्रनन्दी

१—बिइयस्स उक्खेवो।

१—द्वितीय अध्ययन की प्रस्तावना पूर्ववत् समझ लेनी चाहिये।

२—तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभपुरे नयरे। थूभकरंडगउज्जाणं। धन्नो जक्खो। धणावहो राया। सरस्सई देवी।

सुमिणदंसणं, कहणं, जम्मं, बालत्तणं, कलाओ य।
जोव्वणं पाणिग्गहणं दाओ पासाय भोगा य।

जहा सुबाहुस्स। नवरं भद्दनंदी कुमारे। सिरिदेवी पामोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं सामिस्स समोसरणं। सावगधम्मं। पुव्वभवपुच्छा। महाविदेहे वासे पुंडरीकिणी नयरी। विजय कुमारे। जुगबाहू तित्थयरे पडिलाभिए। मणुस्साउए निबद्धे। इहं उप्पन्ने। सेसं जहा सुबाहुस्स जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, बुज्झिहिइ, मुच्चिहिइ, परिणिव्वाहिइ, सव्वदुक्खाणमंतं काहिइ।

निक्खेवो।

२—जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया कि श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ कहा है? उत्तर में सुधर्मा स्वामी कहते हैं,—हे जम्बू! उस काल तथा उस समय में ऋषभपुर नाम का एक नगर था। वहाँ स्तूपकरण्डक नामक उद्यान था। धन्य नामक यक्ष का यक्षायतन था। वहाँ धनावह नाम का राजा राज्य करता था। उसकी सरस्वती देवी नाम की रानी थी। महारानी का स्वप्न-दर्शन, पति से स्वप्न-वृत्तान्तकथन, समय आने पर बालक का जन्म, बालक का बाल्यावस्था में कलाएं सीखकर यौवन को प्राप्त होना, तदनन्तर विवाह होना, माता-पिता के द्वारा दहेज देना और ऊँचे प्रासादों में अभीष्ट भोगोपभोगों का उपयोग करना, आदि सभी वर्णन सुबाहुकुमार ही की तरह जानना चाहिये। उसमें अन्तर केवल इतना है कि सुबाहुकुमार के बदले बालक का नाम 'भद्रनन्दी' था। उसका श्रीदेवी प्रमुख पाँच सौ देवियों के साथ (श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ) विवाह हुआ। तदनन्तर महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ, भद्रनन्दी ने श्रावकधर्म अंगीकार किया। गौतम स्वामी द्वारा उसके पूर्वभव सम्बन्धी प्रश्न करने पर भगवान् ने इस प्रकार उत्तर दिया—

महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत पुण्डरीकिणी नाम की नगरी में विजय नामक कुमार था। उसके द्वारा भी युगबाहु तीर्थंकर को प्रतिलाभित करना—दान देना, उससे मनुष्य आयुष्य का बन्ध होना, यहाँ भद्रनन्दी के रूप में जन्म लेना, यह सब सुबाहुकुमार ही की तरह जान लेना चाहिये। यावत् वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, मुक्त होगा, निर्वाण पद को प्राप्त करेगा व सर्व दुःखों का अन्त करेगा।

निक्षेप की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये।

॥ द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन

सुजातकुमार

१—तच्चस्स उक्खेवो ।

१—तृतीय अध्ययन की प्रस्तावना भी यथापूर्व जान लेनी चाहिये ।

२—वीरपुरं नयरं । मणोरमं उज्जाणं । वीरकण्हमित्ते राया । सिरिदेवी । सुजाए कुमारे । बलसिरीपामोक्खाणं पंचसयकन्नगाणं पाणिग्गहणं । सामीसमोसरणं । पुव्वभवपुच्छा । उसुयारे नयरे । उसभदत्ते गाहावई । पुप्फदत्ते अणगारे पडिलाभिए । माणुस्साउए निबद्धे । इह उप्पन्ने जाव महाविदेहवासे सिज्झिहिइ, बुज्झिहिइ, मुच्चिहिइ, परिणिव्वाहिइ, सव्वदुक्खाणमंतं काहिइ ।

निक्खेवो ।

२—श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा—हे जम्बू ! वीरपुर नामक नगर था । वहाँ मनोरम नाम का उद्यान था । महाराज वीरकृष्णमित्र राज्य करते थे । श्रीदेवी नामक उनकी रानी थी । सुजात नाम का कुमार था । बलश्री प्रमुख ५०० श्रेष्ठ राज-कन्याओं के साथ सुजातकुमार का पाणिग्रहण-संस्कार हुआ । श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे । सुजातकुमार ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया । श्री गौतम स्वामी ने पूर्वभव की जिज्ञासा प्रकट की । श्रमण भगवान महावीर ने इस तरह पूर्वभव का वृत्तान्त कहा—

इषुकासार नामक नगर था । वहाँ ऋषभदत्त गाथापति रहता था । उसने पुष्पदत्त अनगार को निर्दोष आहार दान दिया, फलतः शुभ मनुष्य आयुष्य का बन्ध हुआ । आयु पूर्ण होने पर यहाँ सुजातकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ यावत् महाविदेह क्षेत्र में चारित्र ग्रहण कर सिद्ध पद को प्राप्त करेगा ।

विवेचन— दूसरे अध्ययन की तरह तीसरे अध्ययन का भी सारा वर्णन प्रथम अध्ययन के ही समान है । केवल नाम व स्थान मात्र का भेद है । अतः सारा वर्णन सुबाहुकुमार की ही तरह समझ लेना चाहिये ।

निक्षेप की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिये ।

।। तृतीय अध्ययन समाप्त ।।

चतुर्थ अध्ययन

सुवासवकुमार

१—चउत्थस्स उक्खेवो ।

१—चतुर्थ अध्ययन की प्रस्तावना भी यथापूर्व समझ लेनी चाहिये ।

२—विजयपुरं नयरं । नन्दणवणं उज्जाणं । असोगो जक्खो । वासवदत्ते राया । कण्हादेवी । सुवासवे कुमारे । भद्दापामोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं जाव पुव्वभवे । कोसंबी नयरी । धणपाले राया । वेसमणभद्दे अणगारे पडिलाभिए । इहं उववन्ने । जाव सिद्धे । निक्खेवो ।

२—सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! विजयपुर नाम का एक नगर था । वहाँ नन्दनवन नाम का उद्यान था । उस उद्यान में अशोक नामक यक्ष का एक यक्षायतन था । विजयपुर नगर के राजा का नाम वासवदत्त था । उसकी कृष्णादेवी नाम की रानी थी । सुवासवकुमार नामक राजकुमार था । भद्रा-प्रमुख पांच सौ राजाओं की श्रेष्ठ कन्याओं के साथ विवाह हुआ । श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे । सुवासवकुमार ने श्रावकधर्म स्वीकार किया । गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव का वृत्तान्त पूछा । उत्तर में श्री भगवान् ने फरमाया—

गौतम ! कौशाम्बी नाम की नगरी थी । वहाँ धनपाल नामक राजा था । उसने वैश्रमणभद्र अनगार को निर्दोष आहार का दान दिया, उसके प्रभाव से मनुष्य-आयुष्य का बन्ध हुआ यावत् यहाँ सुवासवकुमार के रूप में जन्म लिया है, यावत् इसी भव में सिद्धि-गति को प्राप्त हुए ।

विवेचन—प्रस्तुत अध्ययन में भी चरित्रनायक के नाम, जन्मभूमि, उद्यान, माता-पिता, परिणीत स्त्रियों, पूर्वभव सम्बन्धी नाम, जन्मभूमि तथा प्रतिलम्भित मुनिराज की विभिन्नता के नामों को छोड़कर अवशिष्ट सारा कथा-विभाग सुबाहुकुमार की ही तरह समझ लेने का निर्देश किया है ।

निक्षेप की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये ।

।। चतुर्थ अध्ययन समाप्त ।।

पञ्चम अध्ययन

जिनदास

१—पंचमस्स उक्खेवो ।

१—पञ्चम अध्ययन की प्रस्तावना भी यथापूर्व जान लेनी चाहिये ।

२—सोगन्धिया नयरी । नीलासोए उज्जाणे । सुकालो जक्खो । अप्पडिहओ राया । सुकण्हा देवी । महाचंदे कुमारे । तस्स अरहदत्ता भारिया । जिणदासो पुत्तो । तित्थयरागमणं । जिणदासपुव्वभवो । मज्झमिया नयरी । मेहरहो राया । सुधम्मे अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे । निक्खेवो ।

२—हे जम्बू ! [सौगन्धिका नाम की नगरी थी । वहाँ नीलाशोक नाम का उद्यान था । उसमें सुकाल नाम के यक्ष का यक्षायतन था । उक्त नगरी में अप्रतिहत नामक राजा राज्य करते थे । सुकृष्णा नाम की उनकी भार्या थी । उनके पुत्र का नाम महाचन्द्रकुमार था । उसकी अर्हद्दत्ता नाम की भार्या थी । जिनदास नाम का पुत्र था । किसी समय श्रमण भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ । जिनदास ने भगवान् से द्वादशविध गृहस्थ धर्म स्वीकार किया । श्री गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव की जिज्ञासा प्रकट की और भगवान् ने इसके उत्तर में इस प्रकार फरमाया—

हे गौतम ! माध्यमिका नाम की नगरी थी । महाराजा मेघरथ वहाँ के राजा थे । सुधर्मा अनगार को महाराजा मेघरथ ने भावपूर्वक निर्दोष आहार दान दिया, उससे मनुष्य भव के आयुष्य का बन्ध किया और यहाँ पर जन्म लेकर यावत् इसी जन्म में सिद्ध हुआ ।

निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्ववत् समझनी चाहिये ।

विवेचन—प्रस्तुत अध्ययन में जिनदास के जीवन-वृत्तान्त के संकलन में यदि कोई विशेषता है तो मात्र इतनी ही कि इसके पितामह श्री अप्रतिहत राजा और पितामही सुकृष्णा देवी का भी इसमें उल्लेख है, जो प्रायः अन्य किसी अध्यायों के जीवनवृत्तों में उपलब्ध नहीं है । शेष कथा-वस्तु सुबाहुकुमार के समान ही है । विशिष्टता है तो इतनी ही कि इसी भव में (इसी जन्म में) यह मोक्ष को प्राप्त हुआ ।

।। पञ्चम अध्ययन समाप्त ।।

षष्ठ अध्ययन

धनपति

१—छट्ठस्स उक्खेवो।

१—छट्ठे अध्याय की प्रस्तावना भी पूर्ववत् ही समझ लेनी चाहिए।

२—कणगपुरं नयरं। सेयासोयं उज्जाणं। वीरभद्दो जक्खो। पियचंदो राया। सुभद्दा देवी। वेसमणे कुमारे जुवराया। सिरीदेवी पमोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं। तित्थयरागमणं। धणवई जुवरायपुत्ते जाव पुव्वभवो। मणिवया नयरी। मित्तो राया। संभूतिविजए अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे।

निक्खेवो।

२—हे जम्बू! कनकपुर नाम का नगर था। वहाँ श्वेताशोकनामक एक उद्यान था। वहाँ वीरभद्र नाम के यक्ष का यक्षायतन था। कनकपुर का राजा प्रियचन्द्र था, उलकी रानी का नाम सुभद्रादेवी था। युवराज पदासीन पुत्र का नाम वैश्रमण कुमार था। उसका श्रीदेवी प्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ था। किसी समय तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी पधारे। युवराज के पुत्र धनपति कुमार ने भगवान् से श्रावकों के व्रत ग्रहण किए यावत् गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव की पृच्छा की। उत्तर में भगवान् ने कहा—

धतपतिकुमार पूर्वभव में मणिचयिका नगरी का राजा था। उसका नाम मित्र था। उसने संभूतिविजय नामक अनगार को शुद्ध आहार से प्रतिलाभित किया यावत् इसी जन्म में वह सिद्धिगति को प्राप्त हुआ।

निक्षेप—उपसंहार भी पूर्ववत् समझना चाहिये।

विवेचन—प्रस्तुत अध्ययन में धनपतिकुमार ने भी सुबाहुकुमार ही की तरह पूर्वभव में सुपात्र दान से मनुष्य आयुष्य का बन्ध किया। भगवान् महावीर स्वामी के पास क्रमश: श्रावक धर्म व अन्त में मुनि धर्म की दीक्षा लेकर कर्मबन्धनों को तोड़कर मोक्ष प्राप्त किया।

इस भव व पूर्वभव में नामादि की भिन्नता के साथ-साथ सुबाहुकुमार व धनपति कुमार के जीवन में इतना ही अन्तर है कि सुबाहुकुमार देवलोकों में जाता हुआ और मनुष्य-भव प्राप्त करता हुआ अन्त में महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा जबकि धनपति कुमार इसी जन्म में निर्वाण को उपलब्ध हो गया।

॥ षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

—

सप्तम अध्ययन

महाबल

१—सत्तमस्स उक्खेवो।

१—सातवें अध्याय का उत्क्षेप पूर्ववत् ही समझ लेना चाहिये।

२—महापुरं नयरं। रत्तासोगं उज्जाणं। रत्तपाओ जक्खो। बले राया। सुभद्दा देवी। महब्बले कुमारे। रत्तवईपामोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं। तित्थयरागमणं जाव पुव्वभवो। मणिपुरं नयरं। नागदत्ते गाहावई। इन्दपुरे अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे। निक्खेवो।

२—हे जम्बू! महापुर नामक नगर था। वहाँ रक्ताशोक नाम का उद्यान था। उसमें रक्त-पाद यक्ष का आयतन था। नगर में महाराज बल का राज्य था। सुभद्रा देवी नाम की उसकी रानी थी। महाबल नामक राजकुमार था। उसका रक्तवती प्रभृति ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ विवाह किया गया।

उस समय तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर स्वामी पधारे। तदनन्तर महाबल राजकुमार का भगवान् से श्रावकधर्म अङ्गीकार करना, गणधर देव का भगवान् से उसका पूर्वभव पूछना तथा भगवान् का प्रतिपादन करते हुए कहना—

गौतम! मणिपुर नाम का नगर था। वहाँ नागदेव नाम का गाथापति रहता था। उसने इन्द्रदत्त नाम के अनगार को पवित्र भावनाओं से निर्दोष आहार का दान देकर प्रतिलम्भित किया तथा उसके प्रभाव से मनुष्य आयुष्य का बन्ध करके यहाँ पर महाबल के रूप में उत्पन्न हुआ। तद-नन्तर उसने श्रमणदीक्षा स्वीकार कर यावत् सिद्धगति को प्राप्त किया।

निक्षेप—उपसंहार भी पूर्ववत् जानना चाहिये।

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन

भद्रनन्दी

१—अट्ठमस्स उक्खेवो ।

१—अष्टम अध्याय का उत्क्षेप पूर्व की भांति ही समझ लेना चाहिये ।

२—सुघोसं नयरं । देवरमणं उज्जाणं । वीरसेणो जक्खो । अज्जुणो राया । तत्तवई देवी । भद्दनन्दी कुमारे । सिरिदेवी पामोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं जाव पुव्वभवे । महाघोसे नयरे । धम्मघोसे गाहावई । धम्मसीहे अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे । निक्खेवो ।

२—सुघोष नामक नगर था । वहाँ देवरमण नामक उद्यान था । उसमें वीरसेन नामक यक्ष का यक्षायतन था । सुघोश नगर में अर्जुन नामक राजा राज्य करता था । उसके तत्त्ववती नाम की रानी थी और भद्रनन्दी नाम का राजकुमार था । उसका श्रीदेवी आदि ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ । किसी समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का वहां पदार्पण हुआ । भद्रनन्दी ने भगवान् की देशना से प्रभावित होकर श्रावकधर्म अङ्गीकार किया । श्री गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव के सम्बन्ध में पृच्छा का और भगवान् ने उत्तर देते हुए फरमाया—

हे गौतम ! महाघोष नगर था । वहाँ धर्मघोष नाम का गाथापति रहता था । उसने धर्मसिंह नामक मुनिराज को निर्दोष आहार के दान से प्रतिलाभित कर मनुष्य-भव के आयुष्य का बन्ध किया और यहाँ पर उत्पन्न हुआ । यावत् साधुधर्म का यथाविधि अनुष्ठान करके श्री भद्रनन्दी अनगार ने बन्धे हुए कर्मों का आत्यंतिक क्षय कर मोक्ष पद को प्राप्त किया ।

निक्षेप—उपसंहार पूर्ववत् समझना चाहिये ।

विवेचन—सुबाहुकुमार और भद्रनन्दी के जीवन में इतना ही अन्तर है कि सुबाहुकुमार देवलोक आदि अनेकों भव कर के महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध होंगे जब कि भद्रनन्दी इसी भव में मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ।

।। अष्टम अध्ययन समाप्त ।।

नवम अध्ययन

महाचन्द्र

१—नवमस्स उक्खेवो ।

१—नवम अध्ययन का उत्क्षेप यथापूर्व जान लेना चाहिये ।

२—चम्पा नयरी। पुण्णभद्दे उज्जाणे । पुण्णभद्दो जक्खो । दत्ते राया । रत्तवई देवी । महचंदे कुमारे जुवराया । सिरीकन्तापामोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं जाव पुव्वभवो । तिगिञ्छिया नयरी । जियसत्तू राया । धम्मवीरिए अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे ।

२—हे जम्बू ! चम्पा नाम की नगरी थी । वहाँ पूर्णभद्र नामक सुन्दर उद्यान था । उसमें पूर्णभद्र यक्ष का यक्षायतन था । वहाँ के राजा का नाम दत्त था और रानी का नाम रक्तवती था । उनके युवराज पदासीन महाचन्द्र नामक राजकुमार था । उसका श्रीकान्ता प्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ था ।

एक दिन पूर्णभद्र उद्यान मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ । महाचन्द्र ने उनसे श्रावकों के बारह व्रतों को ग्रहण किया । गणधर देव श्री गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की । भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तर देते हुए फरमाया—

हे गौतम ! चिकित्सिका नाम की नगरी थी । महाराजा जितशत्रु वहाँ राज्य करते थे । उसने धर्मवीर्य अनगार को प्रासुक—निर्दोष आहार पानी का दान देकर प्रतिलम्भित किया, फलत: मनुष्य-आयुष्य को बान्धकर यहाँ उत्पन्न हुआ । यावत् श्रामण्य-धर्म का यथाविधि अनुष्ठान करके महाचन्द्र मुनि बन्धे हुए कर्मों का समूल क्षय कर परमपद को प्राप्त हुए ।

इन सब के जीवनवृत्तान्तों में मात्र नामगत व स्थानगत भिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है ।

निक्षेप—उपसंहार—पूर्ववत् समझ लेना चाहिये ।

।। नवम अध्ययन समाप्त ।।

दशम अध्ययन

वरदत्त

१—दसमस्स उक्खेवो ।

१—दशम अध्ययन की प्रस्तावना पूर्व की भांति ही जाननी चाहिये ।

२—एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं साएयं नामं नयरं होत्था । उत्तरकुरू उज्जाणे । पासामिओ जक्खो । मित्तनन्दी राया । सिरिकन्ता देवी । वरदत्ते कुमारे । वरसेणापामोक्खाणं पंचदेवीसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं । तित्थयरागमणं । सावगधम्मं । पुव्वभवपुच्छा । सयदुवारे नयरे । विमलवाहणे राया । धम्मरुई नामं अणगारं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता पडिलाभिए समाणे मणुस्साउए निबद्धे । इहं उप्पन्ने । सेसं जहा सुबाहुस्स कुमारस्स । चिन्ता जाव पव्वज्जा । कप्पन्तरिओ जाव सव्वट्ठसिद्धे । तओ महाविदेहे जहा दढपइन्नो जाव सिज्झिहिइ बुज्झिहिइ, मुच्चिहिइ, परिणिव्वाहिइ सव्वदुक्खाणमंतं काहिइ ।

'एवं खलु, जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेण जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते ।'

सेवं भन्ते ! सेवं भंते ! सुहविवागा ।

२—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में साकेत नाम का एक विख्यात नगर था । वहाँ उत्तरकुरु नाम का सुन्दर उद्यान था । उसमें पाशमृग नामक यक्ष का यक्षायतन था । उस नगर के राजा मित्रनन्दी थे । उनकी श्रीकान्ता नाम की रानी थी । (उनका) वरदत्त नाम का राजकुमार था । कुमार वरदत्त का वरसेना आदि ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण-संस्कार हुआ था । तदनन्तर किसी समय उत्तरकुरु उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ । वरदत्त ने देशना श्रवण कर भगवान् से श्रावकधर्म अङ्गीकार किया । गणधर श्रीगौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् श्री महावीर ने वरदत्त के पूर्वभव का वृत्तान्त इस प्रकार फरमाया—

हे गौतम ! शतद्वार नाम का नगर था । उसमें विमलवाहन नामक राजा राज्य करता था । उसने एकदा धर्मरुचि अनगार को आते हुए देखकर उत्कट भक्तिभावों से निर्दोष आहार का दान कर प्रतिलाभित किया । उसके पुण्यप्रभाव से शुभ मनुष्य आयुष्य का बन्ध किया । वहाँ की भवस्थिति को पूर्ण करके इसी साकेत नगर में महाराजा मित्रनन्दी की रानी श्रीकान्ता की कुक्षि से वरदत्त के रूप में उत्पन्न हुआ ।

शेष वृत्तान्त सुबाहुकुमार की तरह ही समझ लेना चाहिये । अर्थात् भगवान् के विहार कर जाने के बाद पौषध-शाला में पोषधोपवास करना, भगवान् के पास दीक्षित होने वालों को पुण्यशाली बतलाना और भगवान् के पुन: पधारने पर दीक्षित होने का संकल्प करना । यह सब सुबाहुकुमार व वरदत्त कुमार दोनों के जीवन में समान ही है । तदनन्तर दीक्षित होकर संयमव्रत का

पालन करते हुए मनुष्य-भव से देवलोक और देवलोक से मनुष्यभव, देवलोकों में भी बीच-बीच के एक एक देवलोक को छोड़कर—सुबाहु के समान ही गमनागमन करते हुए अन्त में सुबाहुकुमार को ही तरह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर, वहाँ पर चारित्र की सम्यक् आराधना से कर्मरहित होकर मोक्षगमन भी समान ही समझना चाहिये।

वरदत्त कुमार का जीव स्वर्गीय तथा मानवीय, अनेक भवों को धारण करता हुआ अन्त में सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होगा, वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो, दृढ़प्रतिज्ञ की तरह सिद्धगति को प्राप्त करेगा।

हे जम्बू ! इस प्रकार यावत् मोक्षसम्प्रात श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के दशम अध्ययन का अर्थ प्रतिपादन किया है, ऐसा मैं कहता हूँ।

जम्बू स्वामी—भगवन् ! आपका सुखविपाक का कथन, जैसे कि आपने फरमाया है, वैसा ही है, वैसा ही है।

॥ दशम अध्ययन समाप्त ॥

॥ सुखविपाक समाप्त ॥

॥ विपाकश्रुत समाप्त ॥

विशिष्ट-शब्द-सूची

परिशिष्ट

विशिष्ट-शब्द-सूची

[प्रस्तुत परिशिष्ट में उन्हीं शब्दों को संगृहीत किया गया है, जो बहु प्रचलित नहीं हैं। प्रत्येक पृष्ठ के सामने वह पृष्ठाङ्क अंकित किया गया है, जिस पृष्ठ पर उस शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत संस्करण अर्थ-सहित है ही, अतएव शब्दों का अर्थ सामने लिखित पृष्ठ पर देखा जा सकता है।

ग्रन्थ में एक-एक शब्द अनेकानेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यहाँ उन सब स्थलों का उल्लेख करना आवश्यक न समझ कर केवल एक स्थल का ही उल्लेख किया गया है।]

अइपडाग ९०
अकन्त २०
अकारअ १८
अक्खयनिहि ८५
अगड ७४
अग्गिअ २२
अग्गिप्पओग ९८
अच्छि ३१
अज्झत्थिअ १५
अज्झवसाण ३७
अज्झोववन्न ३७
अट्ट २०
अट्ठमभत्त १२४
अट्ठमी १२४
अट्ठि १०६
अड्ड २६
अणगारिया २४
अणसण १२७
अणहारअ ७३
अणाह ८२
अणिट्ठ २०
अणुपुव्वेणं ३५
अणुमग्गजायअ १३
अणुलग्ग १२
अणुवासणा १९
अणोहट्टिय ३६
अण्डयवाणियय ४४
अतुरियं १३
अत्तअ ८९
अत्ताण २५
अत्थ १८
अथव्वणवेय ६६
अथाम ५२
अदूरसामंत १७
अदडिमकुदंडिम ५३
अधम्मिए १७
अधरिमं ५३
अद्धाण ५४
अन्तर ३७
अन्तरा ५०
अन्तेउर ६२
अन्तेवासी ९६
अन्धारूव १२
अप्पसोअ ४८
अप्पिय २०
अबीअ ३४
अब्भङ्ग १९
अब्भितरप्पवह २१

अभडप्पवेस	५३	आवसह	५५
अभिक्खणं	२२	आसत्थ	३६
अभिभूय	२०	आसीवण	१७
अमणाम	२०	आसुरुत्त	३८
अणणुण्ण	२०	आहेवच्च	१७
अम्मधाई	२२	इङ्गाल	४४
अयंपुल	९२	अन्दमह	११
अरिस	१८	उक्कर	५३
अरिसिल्ल	७९	उक्कुरुडिया	२२
अलंकारियकम्म	७६	उक्कोडा	१७
अलंभोगसमत्थ	११६	उग्गह	१२६
अलिअ	७४	उच्चार	१२४
अवओडय	२८	उच्छंग	८३
अवण्हाण	१९	उण्ड	६६
अवदू	७४	उत्तरकंचुइज्ज	२८
अवद्दहणा	१९	उत्तरासंग	१२२
अवयासाविअ	६३	उत्ताणय	७४
अवरत्त	२१	उद्दिट्ठ	१२४
अवाण	१०७	उपप्पयाण	५७
अवेला	६८	उप्पत्तिया	९४
असयंवस	२१	उप्फेणउप्फेणियं	९९
असि	७२	उम्माण	२६
अंसागय	४६	उरग	२४
अहापडिरूव	१२६	उरपरिसप्प	
अहिमड	१५	उरंउरेणं	५२
आउर	८२	उव्वट्ट	१९
आगय	२८	उस्सुक्कं	५३
आगर	१२५	ऊह	३१
आणत्तिया	१८	एगट्ठिया	९२
आभिओगिय	३९	एगसाडिय	१२१
आमलरसिय	९१	एणेज्ज	९१
आयक्कु	१८	एयकम्म	१७
आयव	९३	एयप्पहाण	१७
आरसिय	३३	एयविज्ज	१७
आलीविय	१०१	एयसमायार	१७
आलोअ	८५	एल	५९

ओचूल	२८
ओमन्थिय	३१
ओलुग्ग	३१
ओ(उ)ल्ल	७४
ओवाइय	८४
ओवील	९४
ओसह	१९
ओसारिय	४६
ककुह	३१
कक्ख	८३
कक्खडिय	२८
कच्छव	२४
कच्छुल्ल	७९
कट्ठसगडिया	१४
कडगसक्कर (रा)	७२
कणङ्गर	७२
कण्डू	१८
कण्ण	३१
कण्णीरह	२६
कन्दू (न्दु)	४४
कप्पडिग्र	८२
कप्पणी	९१
कप्पाय	४२
कब्बड	१२५
कम्बल	३१
कम्मिया	९४
कर	१७
करण	१०४
करपत्त	७२
करोडिय	८२
कलकल	७१
कलम्बचीरपत्त	७२
कल्लाकल्लिं	३४
कवय	२८
कवलग्गाह	९४
कवल्ली	४४
कविट्ठ	९१
कवोय	८२
कसा	७२
काई	४४
कागणी	२८
कायतिगिच्छा	८२
काल	२३
कालुणवडिया	११
कास	१८
कासिल्ल	७९
किच्चा	१५
किडिकिडियाभूयं	९८
किमि	१५
किंसुय	१०७
कुक्कुडी	४४
कुच्छि	८३
कुच्छिसूल	१८
कुडङ्ग	४२
कुडुम्बजागरिया	२१
कुण्डी	७२
कुद्दालिया	४४
कुन्त	१७
कुमार	९८
कुमारभिच्च	८२
कुबिय	३८
कुहाड	७२
कुहिय	१५
कूडग्गाह	१५
कूडपास	९३
कूडागारसाला	५३
कोउय	८५
कोट्टिल्ल	७२
कोडुंबिय	१७
कोढिय	७९
कोप्पर	३८
कोलंब	४१

कोवघर ९८
खक्खरग २८
खण्डपट्ट ४२
खण्डपडहत्थ २८
खण्डी ४१
खत्तिय ६६
खलीणमट्टिया २४
खलुअ ७४
खहयर ९०
खार ७१
खुज्जा १०२
खुत्तो २४
खुर ७२
खेड १२५
गड्डिअ ३७
गणिम ३५
गणिया ५७
गण्ठिभेय ४२
गल ९३
गलअ ९३
गामेल्लग १७
गाय ८५
गावी ३०
गिद्ध ३७
गिलाण ८२
गीवा ७६
गुडा २८
गुडिय २८
गुण्डिय ९६
गुलिया १९
गेवेज्ज २८
गोट्ठिल्ल ४०
गोण २४
गोमण्डव ३०
गोहा ८२
घम्मपक्क ९१
घूई ४४
चउक्क १८
चउत्थ १२७
चउप्पुड १५
चउसट्ठि १८
चच्चर १८
चडगर ११
चण्ड ३८
चन्दसूरपासणिया ३५
चम्म ७२
चाउद्दसी १२४
चाउरंगिणी ५२
चिच्चीसद्द ३३
चुण्ण २८
चुल्लपिया ४३
चुल्लपिया माउया ४३
चेलुक्खेव १२२
चोक्खे १०४
छट्ठ १२७
छट्ठक्खमण २८
छडछडस्स ७४
छल्ली १९
छागलिअ ६०
छिद्द ९८
छिप्पतूर ४६
छिया ७२
छेप्पा ३१
जउणा ९२
जंगील ८२
जण्णु (न्नु) पायवडियं ८४
जमगसमगं १८
जम्पिय ८३
जम्भा ९२
जम्मपक्क ९१
जलयर ९१
जाइ २

जाई ३१
जाणय १८
जाणयपुत्त १८
जाणवया ४९
जाणु ३८
जामाउय ४३
जायनिन्दुया ३४
जाल १५
जीवग्गाहं ४९
जीविय (विप्पजड) १०८
जुगल ६३
जूय ३६
जूह ५९
जोणिसूल ३७
झय २८
झिल्लिरी ९२
टिट्टिभी ४४
ठाणिज्ज १०३
ठिइवडिया ४७
डम्भण ७२
तउ ७१
तच्छण १९
तडी २४
तन्ती ७२
तप्पणा १९
तयप्पिय ३७
तया १०६
तलवर १७
तल्लेस्स ३७
तवअ ६०
तबूर (री) २१
तहारूव १२७
तित्तिर ८२
तिन्दूस १०३
तिवलिया ६८
तिहि १०४
तुप्पिय ९६
तेगिच्छियपुत्त १८
तेगिच्छी १८
तोण ४६
थण ३२
थलयर ९०
थासग २८
थिमिय १७
थिविथिविय ७९
थेर १२१
दगधारा ८५
दण्ड ५०
दब्भतिण ७२
दब्भसंथारग १२४
दस १२२
दह ९२
दामा ४६
दाय ९७
दारअ(ग) १४
दालिम ९१
दिवस १०४
दिसालोय १०७
दीह ९१
दुग्ग १६
दुप्पडिक्कन्त १६
दुप्पडियाणंद ३३
दुप्पहंस ४१
दुवार ५६
दुहट्ट २०
देज्ज (दिज्ज) १७
देवदुन्दुभि १२२
देवी १००
दोउयरिय ७९
दोहमुख १२५
दोहल ३१
धमणि २२

धरिम	३५	पञ्चाणुव्वइयं	११८
धाई	४८	पञ्चामेल	२८
धिसरा	९२	पट्टग	१२५
धूया	४३	पडाग	२८
नक्क	२२	पडिजागर	११
नक्खत्त	१०४	पडियाइक्खिय	२०
नत्तुई	४३	पत्थियपिडग	४४
नत्तुय	४३	पन्थकोट्ट	१७
नत्तुयावई	४३	पन्नगभूय	८०
नय	५७	पभू	१२४
नयर	१२५	पमाण	२६
निक्कण	४२	पम्हल	८५
निक्किट्ठ	४६	पया	२३
निक्खमणाभिसेय	१२६	परमाउय	२०
निगम	१२५	परसु	१०८
निगर	७२	परिचत्त	२०
निच्चेट्ठ	१०७	परिणामिया	९४
निच्छूढ	३६	परित्तीकय	१२२
निण्हवण	३९	परियारग	२०
नित्थाण	४२	पसन्ना	३१
निद्धण	४२	पसय	५९
निप्पाण	१०८	पह	१८
नियत्थ	९०	पहकर	११
नियल	७२	पहरण	२८
निरूह	१९	पाउब्भूय	१९
मिव्विण्ण	२०	पागार	४१
नीहरण	३३	पाडए	८९
नेरइय	२०	पाणागार	३६
नेवत्थाइं	१०५	पायच्छित्त	८५
नेह	९६	पायण्डुय	७२
पक्खर	२८	पायरास	५४
पंगुल	११	पायवडिय	४९
पच्चत्थिम	८१	पायवीढ	१२१
पच्छ	७२	पारणय	२८
पच्छणा	१९	पारदारिय	४२
पञ्चपुल	९२	पारिच्छेज्ज	३५

पासाय ४८
पाहुड ४९
पिउसिया ४३
पिउस्सियपई ४३
पिप्पल ७२
पुडपाक १९
पुण्णमासिणी १२४
पुप्फ ८४
पुरत्थिम ८१
पुरापोराण १६
पुव्वरत्त २१
पूय १५
पेरन्त ४१
पेल्लअ ३९
पेल्लिअ २४
पोय ३५
पोरिसी २८
पंसु ६७
फरिहा ४१
फलअ ४६
फुट्ट ११
फुल्ल १०७
बगी ४४
बलियाए ८५
बलीवद्द ३०
बिल ८०
बीभच्छ १५
भज्जणअ ४४
भण्ड ३५
भत्त १४
भर १७
भिक्खग ८२
भिसिरा ९२
भुज्जो २४
भूमिघर ११
भूयविज्जा ८२
भेज्ज (भिज्ज) १७
भेय ५७
भेसज्ज १९
मग्गइअ ५०
मङ्गल ८५
मच्छखल ९३
मच्छन्ध ८९
मच्छन्धल ९२
मच्छबंधिय ६४
मच्छिय ९०
मज्ज ३६
मडंब १२५
मन्त १७
मयकिच्च ३६
मयूरी ४४
महरिहं ८४
महाणसिअ ९०
महापह १८
महापिउय ४३
महामाउया ४३
महिट्ठ ९१
महिस ४०
माइ (ई) १०८
माउसिया ४३
माडंबिय १७
माण २६
मातङ्गकुल ६३
मासियाओ ४३
मारुयपक्क ९१
माहण ८२
मिसिमिसे ३८
मुट्ठी ३८
मुत्त ७२
मुद्दिया ९१
मुद्धसूल १८
मुहपोत्तिया १५

मुहुत्त	१०४	वेगपक्क	९१
मूल	१९	वेज्ज	१८
मेज्ज	३५	वेज्जपुत्त	१८
मेरग्र	३१	वेणइया	९४
मोग्गर	७२	वेयण	४४
मोडियय	७४	सगड	६१
यजुव्वेय	६६	सजीव	४६
रयण	२०	सडुण	८४
रव	१०५	सण्डास	१०७
रसायण	८२	सणाह	८२
रसिया	७९	सण्डपट्ट (खंडपट्ट)	७३
रहस्सियं	९१	सण्ह	९१
रहस्सीकय	११	सत्तसिक्खावइयं	११८
रायावयारी	७३	सत्थकोस	१९
रिउव्वेय	१७	सत्थप्पग्रोग	९८
रिद्ध	१७	सत्थवाह	१७
रोगिय	८२	सद्द	४२
रोज्झ	५९	सद्दि	१४
लउड	७२	सन्तिहोम	६६
लक्खणं	२६	समजोइभूय	६३
लट्ठी	८५	समण	८२
लल्लरि	९३	समणोवासग्र	१२४
लहुहत्थ	८२	समय	६
लंखपोस	१७	समाहिपत्त	११७
लाला	७९	समुदाणिय	९०
लावण	८२	समुल्लालिय	८३
लेस्सा	८	सयसहस्स	२४
लोमहत्थ	८५	सयर	५९
लोमखील	७२	सयंरज्जसुक्का	१०३
विद्दी	१७	सरीसव	२४
विरेयण	१९	सलाहणिज्ज	१०३
विवर	९८	सल्लहत्त	८२
विसप्पग्रोग	९८	सल्लुद्धरण	९४
विसल्लकरण	९४	ससय	५९
विसिरा	९२	सहजायए	६७
विस्सम्भ	७३	सहपंसुकीलिय	६७

सहवड्डिय ६७
सहस्सलंभा २६
संकल ७२
संकोडिय ७४
संडासग्र १०७
संनिवेश १२५
संपत्ती ३२
संपलग्ग ६८
संबाह १२५
संलेहणा १२७
साउणिय ११३
साडणा २१
साम ५७
सालाग ८२
सावएज्ज ५२
सास १८
सासिल्ल ७९
सिणेहपाण १९
सिरावेह १९
सिरोवत्थी १९
सिलिया १९
सिवहत्थ ८२
सिंघ ५९
सिंघाडग १८
सीय १०४
सीसग ४१
सीसगभम ५२
सीहुं ३१
सुइ ३७
सुक्क १०३
सुण्हा ४३
सुत्तबन्धण ९३
सुद्द ६६
सुय ७९
सुहपसुत्त १०७
सूयर ८२
सेट्ठि ९५
सेयणा १९
सयं २१
सेयापीग्र १०५
सोणिय १५
सोल्ल ३१
हडाहड ११
हड्डी ७२
हत्थण्डुय ७२
हत्थनिक्खेव ३५
हरिण ५९
हरियसाग ९१
हव्वं १४
हियउड्डावणा ३९
हिल्लिरी ९२
हुंड ११
हेट्ठा ७४
हेरंग ९१

———

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणित्ते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गये हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग-सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३-४.—गर्जित-विद्युत्—गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी मांस और रुधिर—पंचेद्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएं उठाई न जाएँ जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

□□

श्री आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७ श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी, सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगा-टोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K. G. F.) जाड़न
११. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बेंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसा, मेड़तासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचंदजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२ श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बेंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बेंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बेंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगांव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठ
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंद
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री धुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बेंगलौर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगांव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३. सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
१११. श्री मांगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढा, बम्बई
११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थावला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□